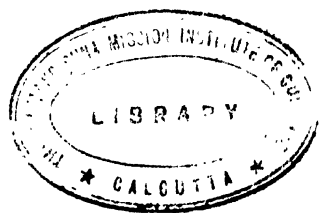


5

4 7 6 4 8





BIBLIOTHECA INDICA:
A.
Collection Of Orient... ..orks

PUBLISHED BY
THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.
NEW SERIES, Nos. 1131, 1132, 1133, 1158 & 1159.

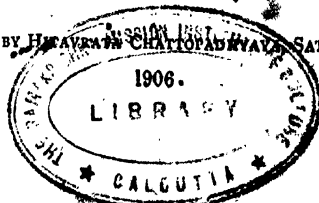
THE ÇATAPATHA BRĀHMANA
OF THE WHITE YAJURVEDA,
WITH THE
COMMENTARY OF SĀYAṆA-ĀCHĀRYA

EDITED BY
ĀGĀRYA SATYAVRATA SĀMĀSRAMĪ,
*Associate Member of the Asiatic Society of Bengal ; Editor ,
Author , Commentator , Annotator , Compiler , Translator ,
& Publisher of different Vedic Works &c. &c.*

VOL. II. KANDA II.

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY H. CHATTERJEE, CHATTOPADHYAY, SATYA-PRESS.





# ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

(सुब्रह्मण्यविरचितम्)

श्रीमत्सायणाचार्यविरचित-<sup>सुब्रह्मण्यविरचितम्</sup> 'विद्वान्महाशय'-नामभाष्येण  
सहितम् ।

वङ्गदेशीयास्वायितिकसमितेरनुमत्या व्ययेन च,

सामन्वनीयुपनामाचार्यसम्पन्नतन्त्रशाखा

यद्यामति संशोध्द्य सण्डीक्य च सम्पादितम् ।

॥ २ भा० । २ का० ॥

(द्वितीयकाण्डालको द्वितीयो भागः)

कलिकाता-राजन्वत्याम् ;

१८६२-संवत्समायां सत्ययन्त्रेण यज्ञतो मुद्रितम् ॥





|                                       |           |
|---------------------------------------|-----------|
| RMIC LIBRARY                          |           |
| Acc. No. 47,648                       |           |
| Class No. <i>29A.125</i><br><i>BR</i> |           |
| Date                                  | 22.9.62   |
| St. Card                              | M.B       |
| Class.                                | G.G       |
| Cat.                                  | ✓         |
| Bk. Card                              | <i>AC</i> |
| Checked                               | ✓         |

## ॥ सम्पादकोक्तिः ॥

०

अथ यद्यपि शतपथ-द्वितीयकाण्ठीय-सायणाचार्यकृत-भाष्यस्य विशुद्धैकपुस्तकस्यापि लाभाय बहु यतितम्, क्रमव्यत्यासदोष पुरुरीक्षत्वैवैतद्व्यत्यासनतः पूर्वं मेव द्वितीयकाण्डं सम्पादितञ्च, इत्त तथापि न कथमपि फलितं मे मनोरथदुर्मेण; न ह्यद्याप्यभिलषित-रूप मेकमपि तत्पुस्तकमवापीति; तदनन्वयगत्या बह्वशुभाना-दर्शानेवावलम्ब्यातिश्रमतः कष्टतश्च सम्पाद्येतदस्य संशोधनम् ।

तदेतद्वितीयकाण्डस्य पाठान्तरादिस्वतन्त्रबोधनाय सङ्गृहीतानां तेषामादर्शपुस्तकानामेवं नामधेयानि कल्पितानि—

क = ३५३-पत्रात्मकम्, १६८६-संवत्स्रिखितम्, पूर्णम् ।

ख = १०८-पत्रात्मकम्, १६५८-संवत्स्रिखितम्, पूर्णम् ।

ग = ७०-वेबर-सम्पादितम्, ख०-१८४८-वर्षिभ्युद्धितम्, पूर्णम् ।

घ = अजमेर-वैदिकयन्त्रालये १८५८-संवत्स्रुद्धितम्, पूर्णम् ।

ङ = ८३-प०, स्याद् द्विशताब्दधिककालीनम्, पूर्णम् ।

च = ७०-वेबरेणाविलुप्तपत्राणि विचिन्त्य समाहृतं ग-सुद्धितम् ।

छ = २१-पत्रात्मकम्, १८२६-ख०-लिखितम्, पूर्णम् ।

ज = श्रीरामपुरकलेजीयन्त्रु 'च'तोऽविभिन्नमिति परित्यक्तमिव ।

एतेषु षष्टस्वादार्शपुस्तकेषु कादीनि चत्वारि मूलस्य, अपराणि भाष्यस्येति वेद्यम् । किञ्च ग-पुस्तकमवलम्ब्यैव सुद्धितं च-पुस्तकं गम्यत इति तयोरेकालमेव तत्त्वतः ।

एतस्मिन् द्विकाण्डे अग्न्याधानम्, पुनाराधानम्, पवमाने-त्यादि, अग्निहोत्रम्, पिच्छपित्तयज्ञः, आश्रयवेष्टिः, दाशा-

यथेष्टिर्वसिष्ठेष्टिर्वा, चातुर्मास्यानि च समाक्रातानि । वैश्वदेव-  
यागः, वरुणप्रघासयागः साकमेधयागः, पित्रयागः, ब्रह्मक-  
यागः, शुनसीर्यश्च चातुर्मास्यावयवभूता एवेति तेऽपीहैव विहिताः ।  
सर्व एवेते यागा आधानानन्तरभाविन इति अग्न्याधान-पुनराधा-  
नयोः सर्वपूर्ववर्तित्वेनेह विधान माक्रातम् । अग्निहोत्रं हविर्वज्राणां  
प्रकृतिरिति पिण्डपित्रयन्नादीना मिहाप्राधान्यम् । चातुर्मास्य-  
यामी भवति त्रिपर्वा; तत्र तस्य वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्वं, वरुण-  
प्रघासाख्यं द्वितीयम्, साकमेधाख्यं तृतीयम्, पित्रयन्नब्रह्मक-  
हविःशुनासीर्याणां तु तदङ्गत्वम् । अपि वा चतुर्थे वैश्व  
चातुर्मास्ययागः, तत्र शुनासीर्यं चतुर्थं पर्वं, परं न तस्मा-  
नुष्ठानस्य वैश्वदेवादेरिव कालनियम इत्येव विशेषः । तदत्र  
“अथयं ह वै सुकृतम् ( ५ प्र० ४ ब्रा० )”—इत्यस्य सायणीयं भाष्यं  
द्रष्टव्यम् । तदेव माधानपुनराधानयोः सर्वकर्मसु व्यवहार्यत्वात्  
सर्वकर्मतः पार्थक्य मिति सर्वतो भिन्नत्व मङ्गीकृतम्, ततोऽग्न्या-  
वग्निहोत्रचातुर्मास्यावेवेह प्रधानतो विहितावित्येव मन्तव्यम् । अत  
एवोक्तं श्रीमता सायणाचार्येण तृतीयकाण्डीयभाष्योपक्रमे—

“आधानपुनराधाने अग्निहोत्रं ततः परम् ।

चातुर्मास्यानि सपद्य द्वितीयकाण्ड ईरितम्”—इति ॥

अथैतस्य द्वितीयकाण्डस्य सायणीयं भाष्यं तु सर्वथैवाकिञ्चिदकार  
मेव; तत्रापि द्वितीयाध्यायादीनां तु टीप्यश्लेषाकारि, न  
भाष्यम् । तदाह च तत्र स ख्य मेव, इह दृश्य १६ पङ्क्ति  
द्रष्टव्य मिति शम् ॥

श्रीश्रीकोठा-नाम-राजन्वती । } श्रीसत्यव्रतमयी ।  
संस्कृत १८६१। १०० १८०६ । } ( आवरणः नाममयी, आचार्यः )

[ क ]

॥ अथ मूलशब्द्विपन्नम् ॥

| अशुद्धम्   | शुद्धम्    | प्र० | क्रा० | क०        | पृष्ठे |
|------------|------------|------|-------|-----------|--------|
| निर्भक्षाम | निर्भक्षाम | १    | १     | ८         | ३      |
| व्युद्य    | व्युद्यता  | १    | २     | ४         | १४     |
| गुह्य      | गुह्यं     | १    | २     | ११        | १५     |
| ०निष्पते   | ०निष्पते   | १    | ४     | १५        | २६     |
| कुमाराय    | कुमाराय वा | १    | ५     | १         | ५२     |
| ०स्वल०     | ०स्वल०     | १    | ५     | ८ (द्विः) | ५४     |
| दक्ष       | ०दक्षं     | १    | ५     | ११        | ५५     |
| वर्हिषि    | वर्हिषी    | १    | ५     | १६        | ५७     |
| क्तवन्     | क्तवन्     | २    | १     | ११        | ७८     |
| प्रविश०    | प्राविश०   | २    | १     | १४        | ७९     |
| अचक्रुस्ते | अचक्रुस्ते | २    | २     | १६        | ८६     |
| मेवैत      | मेवैतत्    | २    | ३     | ४         | १०५    |
| द्वि       | द्वि       | २    | ३     | १३        | १०८    |
| ०त्तर      | ०त्तरां    | २    | ३     | १७        | १०९    |
| इक्ष्व     | इक्ष्व     | २    | ३     | २३        | ११३    |
| वायाद्     | वाया       | २    | ३     | २४        | ११६    |
| ०प्रादुमघी | ०प्रादुमघी | २    | ३     | २५        | ११९    |
| ०भावे      | ०भाभि      | २    | ३     | २८        | १२२    |

[ ख ]

|                 |                 |     |   |   |            |     |     |
|-----------------|-----------------|-----|---|---|------------|-----|-----|
| स्वोद्धृति      | ... स्वाहृति    | ... | २ | ३ | ३२         | ... | ११२ |
| अथः             | ... अथ          | ... | २ | ३ | ३३         | ... | ११३ |
| सिति            | ... मिति        | ... | २ | ४ | ११         | ... | १३१ |
| मनुष्यार्था     | ... मनुष्याणां  | ... | ३ | ४ | ६          | ... | १८१ |
| मजयत्           | ... मजपत्       | ... | ४ | ३ | २७         | ... | २७८ |
| वारुण्ये        | ... वारुण्यै    | ... | ४ | ३ | ३७         | ... | २८२ |
| मदायो           | ... मादायो      | ... | ४ | ४ | ११         | ... | ३१८ |
| गृहप्रेषिभ्यो   | ... गृहमेषिभ्यो | ... | ४ | ४ | १४         | ... | ३२० |
| तिष्ठन्न वदन्ति | तिष्ठन्नवदन्ति  | ... | ५ | २ | ८          | ... | ३४५ |
| जहोति           | ... जुहोति      | ... | ५ | २ | ११         | ... | ३४५ |
| यज्ञपवीती       | ... यज्ञोपवीती  | ... | ५ | २ | १२         | ... | ३४६ |
| सन्तुह्न        | ... सन्तुह्न    | ... | ५ | २ | १५         | ... | ३४७ |
| प्रस्तर भाजनं   | प्रस्तरभाजनं    | ... | ५ | २ | १५         | ... | ३४७ |
| देती मथ्        | ... देतीमथ्     | ... | ५ | २ | १५         | ... | ३४७ |
| चर०             | ... चर०         | ... | ५ | २ | २३         | ... | ३४८ |
| राज्यस्या       | ... राज्यस्या   | ... | ५ | २ | २८         | ... | ३५० |
| प्रयच्छति       | ... प्रयच्छति   | ... | ५ | २ | ३३ (द्विः) | ... | ३५२ |
| ऽहृति           | ... ऽहृति       | ... | ५ | २ | ३३         | ... | ३५२ |
| ज्योक्य         | ... ज्योक्य च   | ... | ५ | २ | ३८         | ... | ३५४ |
| बद्रियेण        | ... बद्रियेण    | ... | ५ | ३ | १८         | ... | ३८० |
| चुरः            | ... चुरः        | ... | ५ | ५ | ५          | ... | ४२१ |

॥ अथ ॥

## शतपथब्राह्मण-द्वितीयकाण्डस्य

### सूचीपत्राणि ।

#### ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                                             |     |     |
|-------------------------------------------------------------|-----|-----|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( स यदा इतश्चेतश्च १ अ० १ ब्रा० )        | ... | १४० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( वरुणो ह्येनम्राज्यकाम २ अ० ३ ब्रा० ) | ... | ७५  |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( यत्र वै प्रजापतिः ३ अ० ३ ब्रा० )       | ... | १३६ |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( प्रजापतिर्ह वा एते ४ अ० ४ ब्रा० )     | ... | २२८ |
| अथ पञ्चमः प्रपाठकः ( महाहविषा ह वै ४ अ० ४ ब्रा० )           | ... | ३३४ |

#### ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                                      |     |     |
|------------------------------------------------------|-----|-----|
| अथ प्रथमाध्यायः ( स यदा इतश्चेतश्च १ प्र० १ ब्रा० )  | ... | १४० |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( उद्धृत्याहवनीयं १ प्र० ५ ब्रा० ) | ... | ५३  |
| अथ तृतीयाध्यायः ( सूर्यो ह वा २ प्र० ३ ब्रा० )       | ... | १०५ |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( अथ हुतेऽभिहोत्र ३ प्र० ३ ब्रा० )  | ... | १८० |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( प्रजापतिर्ह वा इद ४ प्र० २ ब्रा० ) | ... | २५० |
| अथ षष्ठाध्यायः ( महाहविषा ह वै ५ प्र० २ ब्रा० )      | ... | ३४३ |

## ॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥

| सङ्ख्या | ब्राह्मणनाम                | प्रपाठकस्य       | अध्यायस्य      | पृष्ठ   |
|---------|----------------------------|------------------|----------------|---------|
| १ ...   | सन्भारब्राह्मणम्           | ... १प्र० १ब्रा० | ... १अ० १ब्रा० | ... १   |
| २ ...   | नक्षत्रब्राह्मणम्          | ... १प्र० २ब्रा० | ... १अ० २ब्रा० | ... १३  |
| ३ ...   | ऋतुब्राह्मणम्              | ... १प्र० ३ब्रा० | ... १अ० ३ब्रा० | ... २७  |
| ४ ...   | अग्नाधानब्राह्मणम्         | ... १प्र० ४ब्रा० | ... १अ० ४ब्रा० | ... ३१  |
| ५ ...   | पवमानेष्टिब्राह्मणम्       | ... १प्र० ५ब्रा० | ... २अ० १ब्रा० | ... ५३  |
| ६ ...   | दक्षिणाब्राह्मणम्          | ... १प्र० ६ब्रा० | ... २अ० २ब्रा० | ... ६३  |
| ७ ...   | पुनराधेयब्राह्मणम्         | ... २प्र० १ब्रा० | ... २अ० ३ब्रा० | ... ७५  |
| ८ ...   | सृष्टिब्राह्मणम्           | ... २प्र० २ब्रा० | ... २अ० ४ब्रा० | ... ८२  |
| ९ ...   | अग्निहोत्रधर्म्मब्राह्मणम् | २प्र० ३ब्रा०     | ... ३अ० १ब्रा० | ... १०५ |
| १० ...  | अग्निहोत्रब्राह्मणम्       | ... २प्र० ४ब्रा० | ... ३अ० २ब्रा० | ... १२८ |
| ११ ...  | उपस्थानब्राह्मणम्          | ... ३प्र० १ब्रा० | ... ३अ० ३ब्रा० | ... १३६ |
| १२ ...  | तदेव                       | ... ३प्र० २ब्रा० | ... ३अ० ४ब्रा० | ... १५१ |
| १३ ...  | सुत्रकोपस्थानब्राह्मणम्    | ३प्र० ३ब्रा०     | ... ४अ० १ब्रा० | ... १८० |
| १४ ...  | पिण्डपितृयज्ञ-ब्राह्मणम्   | ३प्र० ४ब्रा०     | ... ४अ० २ब्रा० | ... १६० |
| १५ ...  | आग्रयणब्राह्मणम्           | ... ३प्र० ५ब्रा० | ... ४अ० ३ब्रा० | ... २१४ |
| १६ ...  | दाक्षायणब्राह्मणम्         | ... ४प्र० १ब्रा० | ... ४अ० ४ब्रा० | ... २२८ |
| १७ ...  | वैश्वदेवब्राह्मणम्         | ... ४प्र० २ब्रा० | ... ५अ० १ब्रा० | ... २५० |
| १८ ...  | वरुणप्रघासब्राह्मणम्       | ... ४प्र० ३ब्रा० | ... ५अ० २ब्रा० | ... २७२ |
| १९ ...  | शाकमेधब्राह्मणम्           | ... ४प्र० ४ब्रा० | ... ५अ० ३ब्रा० | ... ३१५ |
| २० ...  | महाहविर्ब्राह्मणम्         | ... ५प्र० १ब्रा० | ... ५अ० ४ब्रा० | ... ३३४ |
| २१ ...  | पितृयज्ञब्राह्मणम्         | ... ५प्र० २ब्रा० | ... ६अ० १ब्रा० | ... ३४३ |
| २२ ...  | त्राम्बकहविर्ब्राह्मणम्    | ... ५प्र० ३ब्रा० | ... ६अ० २ब्रा० | ... ३८५ |
| २३ ...  | शुनासीर्यब्राह्मणम्        | ... ५प्र० ४ब्रा० | ... ६अ० ३ब्रा० | ... ४०४ |
| २४ ...  | चातुर्मास्यफलब्राह्मणम्    | ५प्र० ५ब्रा०     | ... ६अ० ४ब्रा० | ... ४२० |

## ॥ अथ कण्डिकासूची ॥

| कण्डिकाप्रतीकम् .                | पृष्ठ | कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठ |
|----------------------------------|-------|-----------------------------------|-------|
| अक्षय्यं ह वै सुकृतं ...         | ४०४   | अथ द्वावापृथिव्य एककपालः          | २५४   |
| अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय       |       | अथ द्विपदाः । अग्ने त्वं ...      | १६०   |
| ०—० स दक्षिण ...                 | ३१७   | अथ द्विपदाः । पुरुष ...           | १६०   |
| अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय       |       | अथ द्वे पिशीले वा पात्रौ वा       | ३१७   |
| ०—० स स्थाल्ये ...               | ३१६   | अथ नीवि सुदृह्य नमस्करोति         | १६६   |
| अग्निर्मूर्द्धा दिवः । ककुत् ... | १५४   | अथ नीवि सुदृह्य नमस्करोति         | ३५५   |
| अग्नौ ह वै देवाः । सर्वाणि       | ७५    | अथ पराङ् पर्यावर्त्तते ...        | १६५   |
| अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् ...     | १५१   | अथ पिठभ्योऽग्निव्वासेभ्यः         | ३४४   |
| अथ काय एककपालः ...               | २७५   | अथ पिठभ्यो बर्हिषद्भ्यः ...       | ३४४   |
| अथ केशप्रस्रूमा समारोह्य         | २८६   | अथ पुत्रस्यं नाम गृह्णाति ...     | १६३   |
| अथ केशप्रस्रूमा समारोह्य         | ३६०   | अथ पुनःप्रयुञ्जानस्य ...          | ४०७   |
| अथ गा मभिन्द्यति ...             | १५६   | अथ पुनः प्रसलवि त्रिः ...         | ३८८   |
| अथ गा मभ्यंति । अन्वस्थान्यो     | १५८   | अथ पुनरेव जपन्ति ...              | ३८७   |
| अथ गा मभ्यंति । इड गृह्यदित      | १६१   | अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्वार्द्धं | ३६    |
| अथ गार्हपत्य मभ्येति ...         | १५६   | अथ पुरस्तादुलसुर्कं निदधाति       | १६३   |
| अथ गार्हपत्य सुपतिष्ठते ...      | १८१   | अथ पूर्वद्युः । अन्वाहार्यपचने    | २७५   |
| अथ चतुरस्रयति । चतुर्द्धा        | १०६   | अथ प्र वा व्रजति प्र वा ...       | १८१   |
| अथ चातुष्प्राश्य मोदनं ...       | ३२    | अथ प्र वा व्रजति प्र वा           | १८२   |
| अथ जाग्रति जाग्रति देवाः         | ३३    | अथ प्रति परेत्य गार्हपत्य ...     | ३५४   |
| अथ दक्षिणान्वाहनन्वावर्त्तन्ति   | ३६०   | अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति      | २७७   |
| अथ दक्षिणान्वाहार्यपचनं          | ३४५   | अथ प्रवत्स्रान् । गार्हपत्य ...   | १८०   |
| अथ दिशो व्याधारयति ...           | २४५   | अथ प्रातः । अनग्निन्वा सुवृत्तं   | १२६   |
| अथैत । तं नानीजानं               | ४०७   | अथ प्रातः । आग्नेयः०—० पुरो-      |       |



|                                   |        |
|-----------------------------------|--------|
| कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठे |
| डाश्रोऽथ या मेवाम् ...            | २३३    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः०—० पुरो-      |        |
| डाश्रोऽथैतावेवाहंमासौ             | २३३    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो      |        |
| भवति मैत्रावरुणी ...              | २३१    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो      |        |
| भवत्येन्द्रस्य साम्नायं ते हे     | २३०    |
| अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो      |        |
| भवत्येन्द्रस्य साम्नायं प्रातः    | २३१    |
| अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः ...    | ११३    |
| अथ प्रातः । स जुर्देवेन ...       | ११४    |
| अथ प्रातः । सूर्यो ज्योतिर्       | ११३    |
| अथ प्रातर्हृते वाहुते वा ...      | ३२१    |
| अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः ...       | ३२२    |
| अथ मरुद्गाः साम्नापनेभ्यः ...     | ३१६    |
| अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः          | ३१६    |
| अथ मातृन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो | ३३६    |
| अथ यः कामयेत । अत्र               | २८     |
| अथ यः कामयेत । बहु                | २८     |
| अथ यः पुरादिद्वस्त्यास्तमयात्     | १०६    |
| अथ य एष एकोऽतिरिक्तो ...          | ३८७    |
| अथ य एष सभाया मग्निः ...          | १२६    |
| अथ यतरो ददाति । स पुनः            | ३५५    |
| अथ यतरो दास्यन् भवति ...          | ३५२    |
| अथ यत् पूर्वदुः । अग्नीषोमीयेण    |        |
| ०—० ते हे देवते ...               | २३०    |

|                                |        |
|--------------------------------|--------|
| कण्डिकाप्रतीकम् .              | पृष्ठे |
| अथ यत् पूर्वदुः । अग्नीषोमीयेण |        |
| ०—० य मेवासु ...               | २३१    |
| अथ यत् पूर्वदुः । ऐन्द्राग्नि  |        |
| ०—० तृतीयं सवने ...            | २३१    |
| अथ यत् पूर्वदुः । ऐन्द्राग्नि  |        |
| ०—० ते हे देवते ...            | २३१    |
| अथ यत् पूर्वदुः । ऐन्द्राग्नि  |        |
| ०—० दृष्टपूर्वमासयो ...        | २३६    |
| अथ यत् पौष्णश्चरुर्भवति ...    | ३३५    |
| अथ यत्रै तदङ्गाराश्चाकश्यन्त   | १३१    |
| अथ यत्रै तत्परितरा मिव ...     | १३१    |
| अथ यत्रै तत्परिप्रतरो          |        |
| भवति । उच्चैर्धुमः ...         | १३१    |
| अथ यत्रै तत्परिप्रतरो          |        |
| भवति । तर्हि ह्येष ...         | १३०    |
| अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति ।   |        |
| अस्य रसस्य जीवनस्य             | १०७    |
| अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति ।   |        |
| प्रजनयत्येवैनं ...             | १०५    |
| अथ यत्साकमेधैर्यजते ...        | ४९१    |
| अथ यत्सावित्रः । दादृश ...     | ३३५    |
| अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति       | ३३५    |
| अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति ...     | ३३५    |
| अथ यद्मय इन्द्रमनु             | ८१     |
| अथ यद्मये पयमानाय ...          | ८१     |
| अथ यद्मये पावकायय निर्धे ५६    |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .             | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|-------------------------------|--------|
| अथ यदशये शुचये निर्वपति           | ५५     | अथ सन्नहन मनुविस्त्रस्य ...   | ३४७    |
| अथ यदस्तमेति । तद्भावेन ...       | १०५    | अथ सर्पराज्ञा ऋग्मि- ...      | ४०     |
| अथ यदेव एतेन यजते ...             | २१७    | अथ सादधित्वा सुचौ ...         | ३५६    |
| अथ यदेव एतेन यजते । तन्नाह        | ३४३    | अथ सारस्वतश्चरुर्भवति ...     | २५२    |
| अथ यदेव एतेर्यजते । तन्नाह        | ३८५    | अथ सावित्रः । द्वादशकपालो     | २५२    |
| अथ यदेव एतेश्चतुर्थे मासि         | २७३    | अथ सावित्री । सविता ...       | १६२    |
| अथ यद्दरुणप्रघासे- ...            | ४२१    | अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै | २५२    |
| अथ यत्साकमेधैर्यजते ...           | ४२१    | अथ सौर्य एककपालः ...          | ४०६    |
| अथ यस्माच्छुनासीर्येण ...         | ४०४    | अथ स्वाहाग्नि मित्वाह ...     | ८०     |
| अथ यस्माद्दुपैव तिष्ठेत् ।        |        | अथ हिरण्यस्य सम्भरति ...      | २      |
| उत वै ...                         | १५३    | अथ हुतेऽग्निहोत्रेऽपतिष्ठते   | १८०    |
| अथ यस्माद्दुपैव तिष्ठेत् ।        |        | अथ ह्येनस्य शश्वदप्यसुरा ...  | १६२    |
| यज्ञो वै ...                      | १५२    | अथ होवाच । अन्वाऽअहं ...      | १६     |
| अथ यस्मान्न कृत्तिका- ...         | १३     | अथास्तु करीषस्य सम्भरति ...   | ३      |
| अथ यस्मान्न ऋगग्नीषि ...          | १५     | अथाशये पावकाय निर्वपति        | ५४     |
| अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत् ।           |        | अथाशये शुचये निर्वपति ...     | ५४     |
| यज्ञो वै ...                      | १५२    | अथाग्नीदाहानुप्रहरेति ...     | २८४    |
| अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत् । यो वै     | १५२    | अथाग्नीदाहानु प्रहरेति ...    | ३५७    |
| अथ या मेतास्य समिध ...            | १४३    | अथाग्नीषी । तदशय ...          | १६२    |
| अथ यैभ्यो माह्वयितवै ब्रूयात् ... | ३२१    | अथातः पयस्याया एवायतनम्       | २५३    |
| अथ वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति         | २३४    | अथातः पयस्यैव । पयसी वै ...   | २५४    |
| अथ वायव्यं पयो भवति ...           | ४०६    | अथातः । परिवर्तनस्यैव ...     | ४०८    |
| अथ वैश्वकर्म्मण एककपालः           | ३३६    | अथात आष्टदेव । गोपकिरन् ...   | २५५    |
| अथ शर्कराः सम्भरति- ...           | ३      | अथातो गृह्याणा मेवोपचारः ...  | १८३    |
| अथ शुनासीर्या द्वादशकपालः         | ४०५    | अथादिल्ले चरुं निर्वपति ...   | ५७     |
| अथ सन्नदाच्छिन्ना ...             | १६४    | अथाद्भिरभ्युक्षति ...         | २      |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                  | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम् .               | पृष्ठं |
|------------------------------------|--------|---------------------------------|--------|
| अथाध्वर्युरेव कायेन ... ..         | २८३    | अथाह संवदस्वेति०—०              |        |
| अथाध्वर्युरेव प्रतिपरित्य ... ..   | २८५    | ब्रह्मीलुपसृप्रात्य व ... ..    | ३५७    |
| अथाध्वर्युरेव प्राशित्र ... ..     | २८३    | अथाह सोमायानुब्रह्मीति          |        |
| अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् ... ..    | २८३    | ०—० स उत्तरस्यौदनस्य            | ३१८    |
| अथाध्वर्युरेवाह वरुण ... ..        | २८२    | अथाह सोमायानुब्रह्मीति          |        |
| अथाध्वर्युरेवाह सोमाया- ... ..     | २८१    | ०—० स स्थाख्याऽएव ... ..        | ३२०    |
| अथाध्वर्युरेवाहाप्रये ... ..       | २८०    | अथाहाप्रये कथवाहनाय ... ..      | ३५१    |
| अथान्तरगाहवनीयं च ... ..           | १६१    | अथाहाप्रयेऽनुब्रह्मीति ।        |        |
| अथापसलवि चिः परियन्ति              | ३८८    | अग्निं यजाप्रये ... ..          | ८१     |
| अथायमन्वतोमुखः पुरुषः ... ..       | ४०८    | अथाहानयेऽनुब्रह्मीति ।          |        |
| अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते      | ३४८    | आग्नेय माण्यभागं ... ..         | ८०     |
| अथाश्व माक्रमयति ... ..            | ३८     | अथाहानये खिलकृतेऽनुब्रह्मीति ।  |        |
| अथानीनः । स त्व मर्ष ... ..        | १५८    | ०—० स उपस्तृणीत ... ..          | ३२०    |
| अथास्य पुरोडाशस्यावदाय ... ..      | ३५३    | अथाहानये खिलकृतेऽनुब्रह्मीति ।  |        |
| अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्यो           | ३४६    | ०—० स उत्तरस्यौदनस्य            | ३१८    |
| अथाह पितृभ्यो ऽग्निष्वात्तेभ्यो    | ३५१    | अथेडा मेवावद्यति न प्राशित्रम्  | ३२०    |
| अथाह पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो ... ..  | ३५०    | अथेदं द्वितीयम् । आग्नेय ... .. | ५८     |
| अथाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि ... .. | ३५६    | अथेदं द्वितीयम् । तुष्णी ... .. | ३६     |
| अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य          |        | अथेदं द्वितीयम् । सेव स्तीर्णा  | ३१८    |
| ०—० स उपस्तृणीत ... ..             | ३२०    | अथेभ्र मभ्यादधदाह । ... ..      | ३४८    |
| अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य          |        | अथेतदेव परोऽन्तर ... ..         | ७७     |
| ०—० स दक्षिण ... ..                | ३१८    | अथेतान्यजमानोऽङ्गलौ ... ..      | ३८६    |
| अथाहवनीय सुपतिङ्कते                |        | अथेतान्येव पञ्च हवीर्ऽवि ... .. | २७४    |
| अन्तरं पश्चन् मे ... ..            | १८०    | अथेतान्येव पञ्च हवीर्ऽधि ... .. | ४०५    |
| अथाह संवदस्वेति                    |        | अथेतान्यां प्रयस्याभ्यां ... .. | २८२    |
| ०—० ब्रह्मीत्यध्वर्युरेव ... ..    | २८५    | अथेन देवाः । अन्तरात्मनादधत     | ६७     |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम् .            | पृष्ठं |
|----------------------------------|--------|------------------------------|--------|
| अथैनं ममिर्वात्तिनोपयर्थाववर्त्त | ६२     | अर्कपलाशाभ्याम् । त्रीहिमय   | ७८     |
| अथैनं पशव उपासीदन् ...           | १६१    | अवभृथ निचुम्बुण ...          | २८५    |
| अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः     | १६०    | अष्टाकपालाः सर्वे पुरीडाशा   | ५७     |
| अथैनं मनुष्याः । प्रावृता        | १६१    | अस्य प्रत्नम् । अणुदुतः      | १५५    |
| अथैनां वाचयति ...                | २८०    | अहर्वैः देवाः । अनपहत-       | ३४     |
| अथैन्द्राग्नी । उभा वा           | १५४    | अहोरात्रे ह वा ऽअमुग्नि-     | १४२    |
| अथैन्द्राग्नी । दादशकपालः        | २७४    | आग्नेय मेव पञ्चकपालं         | ७४     |
| अथैन्द्राग्नी दादशकपालः          | ३३५    | आग्नेयोऽयं यज्ञः । ज्योति-   | ७७     |
| अथ न्नी । इन्द्रो वै यज्ञस्य     | १६२    | आत्मैव जातम् । अद्वा हि      | १११    |
| अथैन्द्रो मरुत्वर्तो अपति        | २७६    | आत्मैव भूतम् । अद्वा हि      | १११    |
| अथोदपात्र मादाय०—०               |        | आत्मैव भूतम् । अद्वा हि      | १११    |
| तदथाऽऽग्निष्यते ...              | १६४    | आत्मैवाद्यः । अद्वा हि       | १११    |
| अथोदपात्रमादाय । पुनः            | ३५५    | आदित्यस्त्वैव सर्वऽऽहतवः     | ७८     |
| अथोदपात्र मादाय०—०               |        | आसाद्य हवीः ऽअग्निं मन्थति   | २७७    |
| तदथा जञ्चुवेऽऽग्निश्चैदेवं       | १६५    | आसाद्य हवीः ऽअग्निं मन्थन्ति | २२५    |
| अथोपपत्त्यथ अपति ...             | १६५    |                              |        |
| अथोल्लिखति ...                   | १      |                              |        |
| अथोधान्सम्भरति ...               | २      | इन्द्रो ह वा ऽईचाचक्रे       | ११     |
| अधिश्रित्वैव जुहुयात् ...        | १०८    | इत्यानास्वा । शतः हिमा       | १५७    |
| अनेनैव जुहुयात् । सजुर्देवेन     | ११४    |                              |        |
| अन्तरेणागाद् अष्टतदिति           | ६७     | उच्चैरुत्तम मनुवाणं          | ८०     |
| अभयो ह वा ऽएता अन्नाद्यस्य       | १३२    | उत्तरतो वा ऽअग्निहोत्रस्य    | १४३    |
| अयं वै यज्ञो योऽयं पवने          | ३७     | उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं  | ५३     |
| अयं ते योनि ऋत्वियः              | १५५    | उपवसथ ऽएतेन माहरेयुः         | १३०    |
| अय मिह प्रथमः । धायि             | १५५    | उभयत्र पयस्यै भवतः           | २७४    |
| अर्कपलाशाभ्याम् । यवमय           | ७६     | एकं हे त्रीणि । चत्वारोति    | १३     |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                        | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठे |
|-----------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| एता ह वै देवता योऽस्ति ...              | १२८    | तं यत्र प्राञ्च५ हरन्ति ...         | ३७     |
| एता ह वै प्राञ्चै दिशो ...              | १३     | तं वै तथैव हरेयुः ...               | ३७     |
| एतेन वै देवाः । यज्ञनेष्ट्रा ...        | ३३६    | तं वै दर्भै रङ्गरति ...             | ७८     |
| एतेन वै देवाः । यज्ञनेष्ट्रोभयी ...     | २१७    | तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः ... | २१६    |
| एतेन वै प्रजापतिः । यज्ञनेष्ट्रा ...    | २५६    | तं वै स्वतवोभ्य इति कुर्यात् ...    | २५३    |
| एतेन ह स्र वा ऽऋषयः ...                 | १५७    | त५ अपयति । तस्मिन्मधिस्रित ...      | १६२    |
| एतेषा मेक५ संवत्सर सुपेत्स्येत् ...     | १३२    | त ऽउ ह विश्वे देवा ऊचुः ...         | २१६    |
| एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव             |        | त ऽउ हेत ऊचुः । वयं वै ...          | ६५     |
| ०—० स्यात् । ...                        | ३७     | तत एतत् त्वष्टा पुनराधेयं ...       | ७६     |
| एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव ०—०         |        | ततो देवाः । तनीया५स इव ...          | ६६     |
| स्यात्समाहु तथैव हरेयुः ...             | ३८     | ततो देवा एते वचं ददुशुः । ...       | ३६     |
|                                         |        | तत्र जपति । अत्र पितरो ...          | १६५    |
| रेन्नीभ्या माहवनीय सुपतिष्ठन्ति ३५४     |        | तत्रापि मेघं च मेघो च ...           | २७६    |
|                                         |        | तथो एवैष एतत् ...                   | ४      |
| कृताशुकर एव प्रतिप्रस्थाता ...          | २८१    | तदवच्योतयति । इदं ...               | १०८    |
| कृत्तिकास्वामी ऽव्याधीत ...             | १३     | तदाहुः । अयमावेवेतत् ...            | ११३    |
| केवलबर्हिः, प्रथम५ हविभवति ५६           |        | तदाहुः । एता मेवाहुति५ ...          | ५४     |
| कृत्वा वा ऽदन्नाग्नी । विशो ...         | २१६    | तदाहुः । हिरुपभृति गच्छीयाद् ३४७    |        |
|                                         |        | तदाहुः । न सर्पराज्ञा ऋग्भिः ४०     |        |
| भ्रन्ति वा ऽएतद्यज्ञं । यदेनं तन्वते ६३ |        | तदाहुः । नैवैकश्चन ...              | ४      |
|                                         |        | तदाहुः । पर्याभूद्वा ऽव्यय ...      | २१७    |
| चतुर्विंशतिं दद्यात् ...                | ६४     | तदाहुः । यज्ञर्षा न सान्ना ...      | ३५     |
| विजाया मग्नी ऽव्याधीत ...               | १६     | तदाहुः । षडेवर्णवः ...              | ४      |
| विजावसो स्वस्ति ते ...                  | १५७    | तदाहुः । स मेवाग्ने ...             | १०८    |
|                                         |        | तद् स्वस्तु तनूपा अग्नेऽसि ...      | १५६    |
| कायवेव वा अयं परुषः । ...               | ७८     | तद्वापि कुमार्यः परीयुः ...         | ३८८    |

| शुद्धिकाप्रतीकम् .                  | पृष्ठ | शुद्धिकाप्रतीकम् .              | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|---------------------------------|-------|
| तद्वाप्यरुणमौपवेशिं ...             | ६८    | तद्ये सोमेनेजानाः । ते पितरः    | ३४४   |
| तद्वा हेतदेवारुणये ...              | ११२   | तदसनी ग्रीष्मो वर्धाः ...       | ३४५   |
| तद्वा होवाच कष्टोडः ...             | २१४   | तदस्यैव प्रजननस्यैव ...         | ११२   |
| तद्वा होवाच जीवलक्ष्मिणिकः ...      | ११३   | तदा एतत् । एव विचि- ...         | ६४    |
| तद्वा होवाच भास्ववेयः ...           | ३३    | तदा एतत् । मासि-भास्वैव         | १६२   |
| तद्वा होवाच याज्ञवल्काः ...         | ११०   | तदा एतदेवैतासां गाम ...         | ६६    |
| तद्वा होवाच याज्ञवल्काः ...         | २१४   | तदा एताः रात्रिम् ...           | २३४   |
| तद्वा होवाचासुरिः । आश्रा-          | ३४६   | तदा एतन्मेतदग्ने देवाना ...     | ६२    |
| तद्वा होवाचासुरिः । किं तु ...      | ४०८   | तदा एष एव ऋतुः ...              | १४०   |
| तदेतत् समाह्वार्यः ...              | १५६   | तदा एष एवेन्द्रः । यदा ...      | १२८   |
| तद्वा ध्याधिश्रयति । श्रुत ...      | १०८   | तदेतदेव सदिपर्यस्त मिष ...      | ५५    |
| तद्वा इय मेवेते आहुती ...           | १११   | तदेव दधीत । अग्निर्वा- ...      | १४    |
| तद्वा के । एत मेव होत्रे मन्य       | ३५२   | तदेव दधीत । न वा ...            | १५    |
| तद्वा केऽज सुपवधन्ति ...            | ३२    | तदे देवाः शुश्रुवुः ...         | २१५   |
| तद्वा केऽनुदिते मथित्वा ...         | ३४    | तदे इ वेदी हावमी ...            | २७३   |
| तद्वा के । रात्रीरापिप्रियन्ति ...  | ४०७   | तदे पञ्चैव भक्षयन्ति । होता     | १३५   |
| तद्वा के । हविरच्छिष्ट मशु ...      | ३५७   | तदे पय एवान्नम् । एतद् ...      | २५१   |
| तद्वा पुः । हन्तीमां प्रतिष्ठां ... | ३     | तन्न सान्धुद्वासयेत् । सामि ... | १०४   |
| तद्वत् किञ्च वाचा ...               | २८१   | तन्नुन्वानवल्कमं यो मशुष्ये ... | १२    |
| तद्वत् तत्रप्रथमः समिद्धो ...       | १३०   | तन्मध्ये ऽग्निः समाद्घाति ...   | ३४५   |
| तद्वत्त्रैग मदी मन्यति , ...        | ६७    | त मन्त्रस्य पद आघत्ते ...       | ३८    |
| तद्वत्था योनी रेतो दध्यात् ...      | ६५    | त माजगाम । सुभ्रा सार्द्धं यो   | २२६   |
| तद्वत्था शुक्लमिच्छर्म ...          | ४     | त सुदीप्य समिन्वे । इह ...      | ६७    |
| तद्वत्ताहुः । च्वाकमेधैवे ...       | ४२०   | तयोऽभयोरेव करीराण्या-           | २६५   |
| तद्वत्ताययं भवति । अयं ...          | ४०६   | तयोऽभयोरेव शमीपलाशा-            | २७५   |
| तद्वत्ताययं मेधी च भवतः ...         | २७६   | तस्मादाहुः । एता मेवाहुतिः      | ५४    |

| कणिकाप्रतीकम् .                    | पृष्ठे | कणिकाप्रतीकम् .                       | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|---------------------------------------|--------|
| तस्मादेतद्विद्याभ्यनूक्तम् ...     | १४०    | तात्पर्यार्थं पात्राश्च सप्तदास्य ... | ३८६    |
| तस्मादेतद्विद्याभ्यनूक्तम् ...     | २५१    | ता सु ह्यग्निरभिदध्यौ ...             | ६६     |
| तस्मै कं पुनराधेय मादधीत ...       | ७६     | ता वरुणो जमाह । ता वरुण               | २७२    |
| तस्मै क मयी ऽउपतिष्ठेत् ...        | १५२    | ता वा ऽएताः । षड् विभक्तिः ...        | ८२     |
| तस्य परिचक्षा । यस्यै वै ...       | २१६    | ताविन्नामी ऽउदजयताम् ...              | २१५    |
| तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा ...       | २१८    | ता वै षड् दद्यात् । षड् वा ऽऋतवः      | ६४     |
| तस्य वा ऽएतस्यान्वाधेयस्य ...      | ६८     | तासा सुतासां मन्त्रोऽस्ति ...         | ३८८    |
| तस्य सर्पिरासेचर्न क्त्वा ...      | ३३     | तेनोपाश्शु चरन्ति । तिर-इव            | ३४८    |
| तस्य हिरण्यं दक्षिणा ...           | ८२     | तेनोपाश्शु चरन्ति । यद्द्वै ...       | ७६     |
| तस्यां मिथुन मास्ते । योषा-        | २५४    | तेनो ह तत ईजे । दस्यः पार्वति         | २३०    |
| तस्याहत् । उपकिरन्त्युत्तर-        | ३३४    | तेनो ह तत ईजे । देवभागः               | २३०    |
| तस्याहत् । नोपकिरन्त्युत्तर-       | ४०५    | तेनो ह तत ईजे । प्रतीदर्शः ...        | २२६    |
| तस्याहत् । सेव स्त्रीर्णा वेदि ... | ३१७    | ते वा अक्ताः स्युः । अक्तश्च ...      | ३८६    |
| तस्यान्व ष्वेनो दक्षिणा ...        | ४०७    | ते वा ऽएत ऽऋतवः । उभय ...             | २८     |
| तस्मै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव ...  | ५८     | ते वा ऽएत ऽऋतवः । देवा ...            | २७     |
| तस्यै विराजौ संयान्ये स्याता       | ५७     | ते वा ऽएते प्राणा एव ...              | ६८     |
| तां वाचयति । प्रघासिनो ...         | २७७    | ते वै प्रतिपुरुषं । यावन्तो ...       | ३८५    |
| तां वै पूर्णां जुहोति ...          | ५३     | ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य        | ३८५    |
| ता ऽउभावेव सादयित्वा ...           | २८४    | तेषा सुपस्थानम् । यदेव सायं           | १२६    |
| ता एतेन हविषा प्रजापति-            | २७३    | ते सर्वः एव प्राचीनावीतिनो            | ३४६    |
| तानि दक्षिणोपस्तृणाति ...          | १६४    | ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो             |        |
| तानि वै प्रतिपुरुषम् ...           | २७८    | भूत्वा । अनुयाजाभ्यां ...             | ३५६    |
| तानु ह्यग्निर्निचकमे ...           | १५१    | ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो             |        |
| तान्मयोर्मतकयोरुपनस्य ...          | ३८६    | भूत्वा । इत्याद् ...                  | ३४७    |
| तान्मु ह्यग्निर्निचकमे ...         | ७६     | ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो             |        |
| तान्वा ऽएतान् । पञ्च ...           | ४      | भूत्वा । उदस्य ...                    | ३५३    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                  | पृष्ठ | कण्डिकाप्रतीकम् .               | पृष्ठ |
|------------------------------------|-------|---------------------------------|-------|
| ते स्तुत्वा प्राञ्च उच्चक्रतुः ... | ६५    | द्वादश वा त्रयोदश वाचराशि       | ८२    |
| ते ह देवा ऊचुः ... ..              | १७    | नव प्रयार्जं भवति । नवासुयार्जं | २५५   |
| ते ह देवाः समेत्योचुः ... ..       | १६    | नवावसिते वै न माहरेयु ...       | १३०   |
| ते हुत्वा देवाः । इमां प्रजातिं    | ६७    | नाना ह वा ऽएतान्यग्रे ...       | १७    |
| ते होचुः । अथेनं वयं न्येव ...     | ६६    | नैव देवा अतिक्रामन्ति ...       | १६१   |
| ते होचुः । आ वै वय मग्नी ...       | ६६    | नौर्ह वा ऽएषा स्वर्ग्या ...     | १४३   |
| ते होचुः । उभयेषु वै नोऽय मघी      | ६६    | परिवृते चरन्ति । तिर-इव ...     | ३४८   |
| ते होचुः । कस्य न इदं ...          | २१५   | पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन ...      | ३८७   |
| ते होचुः । केन राज्ञा ...          | ४३०   | पाशावेव प्रतिप्रस्थाता ...      | २८१   |
| ते होचुः । केनेव राज्ञा            |       | पात्राणि भवन्ति । पात्रेषु ...  | २७८   |
| ०-० स ह वरुण ...                   | ४२०   | पुरा यज्ञान्पुराहुतिभ्यो ...    | २७८   |
| ते होचुः । केनेव राज्ञा            |       | पूर्वेणाहवनीयं परीत्वा ...      | १४२   |
| ०-० स हेन्द्र ... ..               | ४२१   | प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन्    | १६०   |
| ते होचुः । को न इदं ...            | ११४   | प्रजापतिर्वा अग्निः ... ..      | १४४   |
| ते होचुः । भद्रं वा ऽइदं ...       | ६५    | प्रजापतिर्ह वा ०-० स प्रजा      | २५०   |
| ते होचुः । हन्ते इ मन्त मन्तरा     | ६६    | प्रजापतिर्ह वा ०-० सोऽग्नि- ... | ६२    |
| ते होचुः । हन्ते इं जुहवामहा       | ६६    | प्रजापतिर्ह वा ऽएतेनाग्रे ...   | २२८   |
| त्रीणि समिष्टयजूषि जुहोति          | २५६   | प्रजापतिर्वा ऽएष भूत्वा ...     | १५३   |
| त्रीणि समिष्टयजूषि भवन्ति          | २८५   | प्रति पराणीयोदेति ... ..        | २८०   |
| देवान् ह वा ऽअग्नी ऽआम्नास्य ...   | ३६    | प्राजापत्याः पस्पृधिते ... ..   | ६५    |
| देवाश्च वा ऽअसुराश्च ...           | ६५    | प्रीत्यथीरध्वर्यरादत्ते । स इषम | ३४६   |
| इयं वा ऽइदं जीवनम् ...             | १०७   | पञ्चनीअग्नी ऽआदधीत ...          | १५    |
| इया वै देवा ०-० स्तवथा ...         | २१८   |                                 |       |
| इया वै देवा ०-० स्तीर्षा ...       | ६५    |                                 |       |
| द्वादश इत्यात् । द्वादश वै मासा    | ६४    |                                 |       |



कण्डिकाप्रतीकम्. पृष्ठे  
 ब्रह्मैव वसन्तः। चतुर्ः श्रीशो ... २८  
 भूरिति वै प्रजापतिः। आत्मान ३५  
 भूरिति वै प्रजापतिः। इमा ... ३५  
 भूरिति वै प्रजापतिः। ब्रह्मा- ... ३५  
 मनो ह वै देवा मनुष्यस्या- ... १८२  
 महद्भव तस्यौ भुवनेष्वनरिति ... २५१  
 महाहविषा ०-० तां तथो ... ३३४  
 महाहविषा ०-० ता ०-० इषव ३८५  
 महाहविषा ०-० ता ०-० वन ३४३  
 महि त्रीणा मेवोऽस्त ... १६१  
 मिथुनादिहा ऽन मेतत् ... २३४  
 ऋगग्नीर्षोऽप्री ऽव्याधीत ... १४  
 मो घु णः। इन्द्रात्र ... २७८  
 यजमानदेवतो वै गार्हपत्यः ... १२६  
 यत्र वै प्रजापतिः प्रजा ... १३६  
 यथा वा ऽइधोरनीकम् ... १४२  
 यद्दृश्यस्य श्वोऽग्राधेयः ... ३१  
 यद्वा वा ऽव्यत्रापिहोत्रं जुहत्।  
 ०-० प्रजाये वा ॥ ... १५६  
 यद्वा वा ऽव्यत्रापिहोत्रं जुहत्।  
 ०-० प्रजाये वा तन्मे ... १५६  
 यद्वाऽव्यदो दीर्घं मनुपस्थानम् १८०  
 यथा ऽव्याहवनीयं सुपतिष्ठते।

कण्डिकाप्रतीकम्. पृष्ठे  
 दिवं तदुपतिष्ठते ... १६१  
 यद्वा ऽव्याहवनीयं सुपतिष्ठते।  
 पशून्सद् ... १६०  
 यां वै प्रजापतिः। प्रथमा ... ५२  
 या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः ... ११०  
 योषा वा ऽव्यापः ... २  
 राजन्त मध्वराणाम् ... १५६  
 रेवती रमध्व मिति रेवतो ... १५६  
 रोहिण्या मग्नी ऽव्याधीत ... १४  
 रोहिण्या सु ह वै पशवः ... १४  
 वरुणप्रसासेर्वै प्रजापतिः ... ३१५  
 वरुणो ह्येन्द्राण्यकाम ... ७५  
 वसन्तो श्रीशो वर्षाः ... २७  
 वारुण्यत्तरा भवति। वरुणो २७५  
 वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः। प्रजा २७२  
 स आश्रायाह। समिधो ... ८०  
 स आह। उपप्रयन्तो ऽव्यध्वर १५४  
 स आहवनीयं सुपतिष्ठते ... २८१  
 स आहवनीयं मेवाग्र ऽउपतिष्ठते।  
 ०-० तुष्णीं मेवाहवनीयं १८२  
 स आहवनीयं मेवाग्र ऽउपतिष्ठते।  
 ०-० यद्वा वै गार्हपत्यो १८१  
 स उत्तरस्या मेव प्रयस्यायां २७६

| कण्डिकाप्रतीकम् .                | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठं |
|----------------------------------|--------|-----------------------------------|--------|
| स उत्तरस्या मेव वेदै ...         | २७३    | स दक्षिणैव दृषदुपले ऽउपदधाति ३४५  |        |
| स उड्ढ्यामौ हे ऽआहुती ...        | १६३    | स दक्षिणैव परिधीन् परिदधाति ३४७   |        |
| स उपस्तृणीत ऽआव्यम्—०            |        | स ददाति । असावेत्त ...            | १६५    |
| पितृन्त्वोम ...                  | ३५०    | स नः पितेव सूनवे ...              | १५६    |
| त उपस्तृणीत ऽआव्यम् ०—०          |        | स निदधाति । ये रूपाणि ...         | १६४    |
| ऽऽथाथाहामि ...                   | ३५१    | स पित्रभ्यः सोमवद्गाः ...         | ३४४    |
| स एता मैत्र्यो मरुत्वती ...      | २७६    | स पूर्वद्युः । अग्नयेऽनीकवते ...  | ३१५    |
| स एतास्त्रिसस्तनूरेषु लोकेषु ... | ५५     | सप्त च वै शतान्यश्रीतीना ...      | १४४    |
| स एतेनाग्नेन शान्तः ...          | ५३     | सप्त चैव शतानि विश्शतिश्च         | १४४    |
| स एष यज्ञो हतो न ददत्ते ...      | ६४     | स यः कामधेत । ब्रह्मवर्चसी ...    | २८     |
| स ऐक्षत प्रजापतिः । अन्नादं      | ६२     | स यः पुरादिष्वस्यास्तमयात् ...    | १०६    |
| स ऐक्षत प्रजापतिः* । पुरा मे     | २५१    | स यः प्रजाकामः । एतेन हविषा       | २५२    |
| स ऐक्षत प्रजापतिः । यथा ...      | २५०    | स यजति* अग्नये ऽआव्यस्य ...       | ८०     |
| स गार्हपत्य सुपतिष्ठते ...       | १८०    | स यजति । अग्नेर्वसुवने ...        | ८२     |
| स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राची-    |        | स यत् कनीय इव ...                 | १३२    |
| ०—० गृह्णाति ...                 | १६२    | स यत्तुष्णी सुपसृशति । तदस्यां    | ३६     |
| स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राची-    |        | स यत् प्राङ्मुपोद्देति ...        | १४३    |
| ०—० षट्कपालं ...                 | ३४५    | स यन्न म्त्रियते । यज्ञेन         |        |
| स जघनेन गार्हपत्यम् ।            |        | ०—० ऽथास्य शरीरं ...              | ६४     |
| यज्ञोपवीती भूत्वो- ...           | ३८६    | स यन्न म्त्रियते । यज्ञेन         |        |
| स जुहोति । अग्नये ...            | १६३    | ०—० स यथा हेविष ...               | १४७    |
| स जुहोति । अग्निर्व्योतिर् ...   | ११२    | स यज्ञेव साकमेधैर्यजते ...        | ४०७    |
| स जुहोति । एष ते रुद्रभागः       | ३८७    | स यज्ञोदङ्ङावर्त्तते । तर्ह्यग्नी | २७     |
| स जुहोति । देहि मे ...           | ३२१    | स यज्ञोदङ्ङावर्त्तते । देवेषु ... | २७     |
| स तत एव प्राक्स्तम्बयजुर्हरति    | ३४५    | स यत्साय मस्तमिति जुहोति ।        |        |
| स तत्र जुहु मासादयति ...         | ३४७    | अग्नावैवैभ्य एतत्प्रविष्टेभ्यो    | १०७    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .                    | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| स यत्नाय मस्तमिते जुहोति ।          |        | सर्वं आग्नेयो भवति ... .. ७६         |        |
| अस्य रसस्य जीवनस्य ... १०७          |        | सर्वतोमुखोऽय मग्निः ... .. ४०८       |        |
| स यत्नाय मस्तमिते जुहोति ।          |        | स वा ऽअग्रये च सोमाय ... १६३         |        |
| गर्भं मेवैत् ... .. १०५             |        | स वा ऽअग्रये पवमानाय ... ५४          |        |
| स यत्नाय मस्तमिते जुहोति ।          |        | स वा ऽअपराङ्गे ददाति ... १६२         |        |
| य इदं तस्मिन्निह ... .. १०५         |        | स वा ऽआग्नेयोऽष्टाकपालः ... २५२      |        |
| स यत्नाय मस्तमिते हे ... १४१        |        | स वा ऽउपवत्वा प्रतिपद्यते ... १५३    |        |
| स यथा रथोपस्थे तिष्ठन् ... १४२      |        | स वै कनीय इव पूर्वा- ... .. १३२      |        |
| स यथाहिरुचो निर्मुच्यते ... १०६     |        | स वै खलु तूष्णीं मेवोपतिष्ठते १८२    |        |
| स यदग्रये पवमानाय निर्वपति ।        |        | स वै तुष्णीं मेवाग्र ऽउपस्पृशति ३६   |        |
| प्राणा वै ... .. ५५                 |        | स वै चिः प्रथमां जपति ... १५६        |        |
| स यदग्रये पवमानाय निर्वपति ।        |        | स वै दक्षो नाम ... .. २२८            |        |
| यद्देवाग्रये ... .. ५५              |        | स वै दक्षिणेऽभौ जुहोति ... २७६       |        |
| स यदग्नी ऽआधत्ते ... .. १४०         |        | स वै द्विरभौ जुहोति... .. १०६        |        |
| स यदग्नी जुहोति । तद्देवेषु ... ११० |        | स वै पञ्चादिव यज्ञस्य जुहोति २३५     |        |
| स यददित्यै चरुं निर्वपति ... ५७     |        | स वै पूर्ववाद् स्यात् ... .. ३६      |        |
| स यदाग्नेयो ऽष्टाकपालः ... ३३४      |        | स वै भूर्भुव इति । एतावतैव ३५        |        |
| स यद्वा ऽइतश्चेतश्च ... .. १        |        | स वै वर्षाखादधीत ... .. ७७           |        |
| स यद्देवदेवेन यजते ।                |        | सथे पाणावध्वर्युः ... .. २८२         |        |
| अग्निनैवैतद्वाग्नाग्नि ... ४२१      |        | स सर्वाण्येव हवीरध्वध्वर्युः ... २७६ |        |
| स यद्देवदेवेन यजते ।                |        | स हुत्वा न्यग्दृष्ट । ततो ... ६४     |        |
| अग्निरेव तर्हि ... .. ४२२           |        | स हुत्वा प्रजापतिः ... .. ६३         |        |
| स यत्नातिक्रामति । इत ... ३५१       |        | स ह्योवाच । अग्रयेऽपिरनुष्ठा ६६      |        |
| स येमा मवान्तरदिशं मनु ... ६५३      |        | स ह्योवाच । न वाऽअह मिदं १३६         |        |
| स यस्मिन् हृत्सार्वात्मं ... .. ४२२ |        | स ह्योवाच । हन्ताह मिमा १६           |        |
| स यस्य कामयते ... .. १४१            |        | सान्नाय्यभाजना वा ऽअमावास्या २३४     |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .               | पृष्ठ | कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठ |
|---------------------------------|-------|-----------------------------------|-------|
| सा या पूर्वाहुतिः । ते देवा ... | १३२   | सूर्यो ह वा ऽव्यभिहोत्रम् ...     | १०५   |
| सा या पूर्वाहुतिः । सायि- ...   | १११   | सैषैकाहुतिरेवाग्रे ...            | ११०   |
| सा या पूर्वाहुतिः । सात्मान     | ११२   | सो ऽन्वाह उग्रन्तस्वा निधीमहि ३४८ |       |
| सा ह्येनं नाभिराधयाश्चकार       | ६३    | सो ऽर्चञ्जाम्यन् प्रजापति- ...    | २५०   |
| सा ह्येनं मभिराधयाश्चकार        | ६३    | हस्तेऽग्नी ऽव्यादधीत ...          | १६    |

## ॥ अथ विषयसूची ॥

( १ प्र० १ ब्रा० )

अथान्याधानम् । ततोदकहिरस्थोषाखुकरौषशर्करारूपाणां पञ्चसम्भाराणां विधानम् । तेषां सम्भाराणां निवपनोक्तेखनाभ्युक्षण-संस्काराणां विधानम् । सम्भारविचारौ चेति ॥

( १ प्र० २ ब्रा० )

अग्न्याधानकालनिर्णयाय प्रथमं नक्षत्रविधानम् । तत्र कृत्तिकाया माधानप्रतिपादनम्, रोहिण्या माधानपक्षोक्तेखः, श्रृगशीर्षाधानपक्षोक्तेखश्च । ततः पुनर्वसोः पुनराधानविषयता-कथनम्, फल्गुन्योश्चाधानस्वीकारः, लाभकामस्य हस्तेऽग्न्याधान-विधानम्, अत्रियजातेश्चित्राया मग्न्याधानविधिः, ततो नक्षत्रनाम-निर्बचनश्चेति ॥

( १ प्र० ३ ब्रा० )

ततस्तत्रैव ऋतुविधानम् । ऋतूनाञ्च देवपितृत्वात्मना द्विविध-  
त्वाख्यानम् । ततस्तत्रैवायनविधानम् । उदगयनदक्षिणाय-  
नयोः स्वरूपकथनं देवपितृसम्बन्धाख्यानञ्च । ततो ब्राह्मणादि-  
वर्णानुसारेणर्तुव्यवस्था । ततः काम्यपक्षे,— ब्रह्मवर्षसकामस्य  
वसन्तर्त्तौ, ग्रीष्मस्य ग्रीष्मर्त्तौ, प्रजापशुकामस्य वर्षर्त्तौ अग्न्या-  
धानव्यवस्था । ततः सर्वेषां मेवर्त्तूनां माधानयोग्यकालत्वात् श्वर्जी-  
वनस्य निश्चयताभावात् कालप्रतीक्षणं मकर्त्तव्यं मित्युपदेशश्चेति ॥

( १ प्र० ४ ब्रा० )

अग्न्याधानप्रयोगः । तत्र प्रथमं सुपवसथदिवसकर्त्तव्यताया  
उपदेशः, ब्रह्मादिनपाकविधिः, तद्रात्रौ यजमानस्य जागरण-  
विधिः, रात्रावग्निमन्यननिषेधः सूर्योदये तद्विधिश्च, व्याहृ-  
तीनां ऋग्यजुष्मामातिरिक्तत्वेन वर्षणम्, वर्षत्रयोत्पत्त्यादिहेतु-  
त्वेनाधानस्य प्रशंसा, अग्निमन्यनसमये तस्य पुरस्तादश्वस्य धारण-  
विधिः, अग्नेर्हरणप्रकारोपदेशः, आहृतस्याग्नेराधानम्, आहि-  
तस्याग्नेः पूर्वभागस्य मुल्लुक मन्वारभ्य मन्त्रजपविधिः, तस्याग्नेः  
सार्पराक्षीभिरुपस्थानविधिश्चेति ॥

( १ प्र० ५ ब्रा० )

तत्र पूर्णाहुतिविधानम् । ततोऽग्न्याधेयाङ्गपवमानेष्टिनामा-  
ग्नेयेष्टिविधानम् । तत्र पवमानपावकशुच्याख्याग्निदेवतात्रयाख्या-  
नम्, चरुपुरोडाश-याज्या-पुरोमुवाक्या-संयाज्या-दक्षिणानां विधा-  
नम्, ततः पवमानाख्यादिशुन्याग्नेयेष्टिविधानश्चेति ॥

( १ प्र० ६ ब्रा० )

अग्न्याधानदक्षिणाविधिः । तत्र षड्हादशादिविकल्पाख्यानम् ,  
दक्षिणानामनिर्वचनम् , अनूचानानां देवत्वकथनम् , दक्षिणादानेन  
तेषां प्रीत्युत्पादनविधिः , अदक्षिणस्य यज्ञस्य व्यर्थताख्यानम् ,  
अग्न्याधानस्य फलकथनार्थाख्यायिकाम्त्रानम् , अग्न्याधानस्यान-  
विचारः , आहितान्नेः सत्यवादितादिव्रतनिरूपणञ्चेति ॥

( २ प्र० १ ब्रा० )

अथ पुनराधेयविधानार्थाख्यानम् । तत्र पुनराधेयस्य विधि-  
प्रशंसे । ततः पुनराधेयस्य त्रैवर्णिकसाधारण्येन ऋतुविशेषविधिः ,  
आदित्यस्य सर्वर्तुरूपत्वाभिधानम् , मध्यन्दिनाधानप्रशंसा ,  
पुनराधिक्षितस्याग्नेर्दर्मैरेवोद्धरणविधिः , व्रीहियवमययोरपूपयो-  
रर्कपत्रद्वयसङ्गृहीतयोर्गाह्वपत्वाह्वनीयायतनयोर्निधानविधिः , तत्र  
पञ्चकपालेष्टिविधानम् , प्रयाजानुयाजयाज्यादीनां विधिः , पुन-  
राधेयस्य दक्षिणानिर्द्देशञ्चेति ॥

( २ प्र० २ ब्रा० )

अथाम्निहोत्रविधानार्थाख्यानम् । तत्र सर्वादिकृष्टिर्वर्णनम् ।  
अग्निहोत्रमग्निहोत्रिणोः प्रेतात्मनोर्गतिपार्थक्यसूचनम् । अग्नि-  
होत्रहवण्याः स्रुचोः वैकङ्कतत्वाख्यानम् , अग्निहोत्रहोमद्रव्यस्य  
पयसः उत्पत्त्यादिकथनम् , अग्निवायुसूर्याणां अग्निहोत्रदेव-  
तानां पौवापर्यनिरूपणञ्चेति ॥

( २ प्र० ३ ब्रा० )

अग्निहोत्रहोमकालविधिः । तत्र सायम्प्रातर्होमयोः काल-  
विशेषविधिविचारौ । अग्निहोत्रस्य ज्योतिष्टोमादित श्रीत्कर्ष-  
निर्णयः । ततः पयसोऽग्निहोत्रहोमसाधनत्वं विधाय तत्पयसो-  
ऽग्नावधिश्रयणपूर्वकश्रयणप्रकारोपदेशः, ततोऽनुपसादनोपसादनयो-  
र्विधिप्रशंसे, होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां प्रशंसादिकम् । ततो-  
ऽग्निहोत्रस्य याज्ञवल्क्याभिमतपाकयज्ञत्वोपन्यासः, अग्निहोत्री-  
याहुतिद्वयविधानार्थाख्यायिकादिकथनम्, तयोश्च सायम्प्रातर्हो-  
मयोर्मन्त्रद्वयान्नानादिकम्, होमप्रकारोपदेशश्च । ततो हुतशिष्टस्य  
स्थालीमध्यस्य पयसो ब्राह्मणपेयत्वविधानादिकञ्चेति ॥

( २ प्र० ४ ब्रा० )

अग्न्युपस्थानविधानम् । तत्र यजमाने इन्द्रयमनङ्गनैषिधेतिपञ्च-  
देवतानां स्थितिस्वीकारः, तद्विशेषवर्णनम्, पञ्चानां मग्नीनां देवत्व-  
प्रतिपादनञ्च । तत आहवनीयाग्न्युपस्थानप्रकारः, गार्हपत्योप-  
स्थानप्रकारः, अन्वाहार्यपचनोपस्थानप्रकारः, सभ्याग्न्युपस्थान-  
प्रकारः, आवसथ्याग्न्युपस्थानप्रकारश्च । ततोऽग्नेरवस्थाभेदतो  
रुद्रादिनामभेदाद्युपदेशश्चेति ॥

( ३ प्र० १ ब्रा० )

तत्र गार्हपत्याहवनीययोरग्न्योरुपस्थानविधिः । तत्रादाषग्नि-  
स्वभावादिनिर्देशः । प्रसङ्गतस्तत्राग्नावग्निहोत्रयाजिशरीरप्रक्षेप-  
कथादि, अग्न्यग्निहोत्रिणोः पितापुत्रसम्बन्धनिर्देशश्च । ततोऽग्नि-

होत्रयाजिनोऽमृतत्वावाप्तिफलकथनम्, सृत्वीरतिमोक्षलाभप्रकार  
प्रतिपादनम्, अग्निहोत्रद्वारा इतरयज्ञेष्वपि अतिमुक्तिः सिध्य-  
तीति प्रदर्शनम्, अहोरात्राभ्या मपि सृत्वीरतिमुक्तिर्यज-  
मानेन ज्ञातव्येत्युपदेशश्च । ततो होमार्थं मन्तरागमनविधिः ।  
ततोऽग्निहोत्रस्य नीरूपतया, चित्वाग्नि सम्पत्त्या, महदुक्त्य-  
सम्पत्त्या च स्तुतिश्चेति ॥

( ३ प्र० २ ब्रा० )

ततः सायङ्कालीनाग्न्युपस्थानविधानार्थाख्यानम् । तत्र विचारः ।  
तत आहवनीयोपस्थानविधिः, तदुपस्थानमन्त्राणां विधिव्याख्याने,  
'चित्वावसो'-इति मन्त्रस्यात्र त्रिर्जपविधिः, ततोऽत्यानासीन-  
भावविधिश्च । ततोऽग्न्युपस्थानाभिप्रायकथनम् । अतःपर मग्नि-  
होमद्रव्यस्य पयसः सम्पादनप्रकारादिकम् । ततो गार्हपत्यो-  
पस्थानविधिः, तदुपस्थानमन्त्राणां विधिव्याख्याने च । ततः  
समन्त्रकगोस्पर्शन विधिः, दर्शपूर्णमासयोरिवाग्निहोत्रेऽपि पुत्र-  
नामग्रहणविधिश्चेति ॥

( ३ प्र० ३ ब्रा० )

तत्रैव क्षुत्तकोपस्थानविधानम् । प्रवासं करिष्यत उपस्थान-  
मन्त्रस्य विधिव्याख्याने, प्रवक्ष्यत उपस्थानमन्त्रस्य विधि-  
व्याख्याने, गच्छतोऽग्निहोत्रिणः पथि वाचंयमविधिः, प्रत्यागमन-  
कालेऽपि वाचंयमविधिः, प्रत्यागतस्योपस्थानवैपरीत्यविधिः,  
प्रत्यागतस्य समन्त्रकाहवनीयोपस्थानविधिः, तथैव गार्हपत्यो-  
पस्थानविधिश्च । ततोऽमन्त्रकोपस्थानपक्षप्रतिपादनम् । ततः  
प्रवासादागतस्याग्निहोत्रिणोऽग्निविषयकर्त्तव्योपदेशादिकम्, गृह्याणा  
मुपचारश्चेति ॥



[ १० ]

( ३ प्र० ४ ब्रा० )

अथ मासिमास्यमावास्यायां पिण्डपिढ्यन्नविधानार्थाख्यानम् ।  
ततः पितृणां मर्चनप्रकारोपदेशः , देवानां मर्चनप्रकारोपदेशः ,  
मनुष्याणां मर्चनप्रकारोपदेशश्च । ततो गवादिपशूनां मसुरा-  
णाञ्च प्रजापत्युपसदनादिकथनम् , देवानां प्रजापत्याङ्गानुल्लङ्घन-  
कारित्वाख्यानम् , मनुष्याणां प्रजापत्याङ्गोल्लङ्घनकारित्वेन रोग-  
शोकपापनिलयभोगित्वाख्यानञ्च । ततो मनुष्याणां सायम्प्रातरा-  
शित्वाद्युपदेशश्च । ततः पिढ्यज्ञार्थं कालनिर्णयः , स्थान-  
निर्णयः , द्रव्यनिर्णयः , मन्त्रनिर्णयश्च । तत्रैव पिण्डदानार्थान्नि-  
विधानस्य , अग्नेजनस्य , बर्हिःस्तरणस्य , मन्त्रस्य च विधा-  
नम् । पिण्डदानानन्तरञ्च मन्त्रजपस्य , परागावर्त्तनस्य , उद-  
कावनेजनस्य , नमस्कारस्य , तन्मन्त्रस्य च विधानम् । ततः पिढ-  
प्रार्थनस्य , पिण्डशेषप्राणस्य च विधानादिकञ्चेति ॥

( ३ प्र० ५ ब्रा० )

अथाग्रयणेष्टिविधानम् । तत्र ऐन्द्राग्नि-वैश्वदेव-द्यावापृथिव्य-  
हविषां विधानम् । तत्रानाश्रितदोषविचारः । दक्षिणाविधा-  
नम् । ईजानानीजानभेदेनाग्रयणव्यवस्था । ब्राह्मणभोजनविधिः ,  
तद्दक्षिणाविधिश्चेति ॥

( ४ प्र० १ ब्रा० )

अथ दाक्षायणेष्टिविधानम् । तत्राख्यायिका । तद्यज्ञस्य  
नामनिरुक्तिः , फलकथनम् , विशिष्टफलान्तरहेतुताप्रतिपादनाय  
आख्यायिकया परकृतिद्वयोपन्यासश्च । ततो दाक्षायण्यज्ञप्रयोग-

विषयकोपदेशः । तत्र पूर्वपौर्णमास्या मनुष्ठेययागविधिः, ततः परेद्युरनुष्ठेययागहयविधिः, अमावास्याप्रयोगेऽप्येवं पूर्वेषु र्यागैकस्य परेद्युर्यागहयस्य च विधानञ्च । ततो दाक्षायणयज्ञस्य सोमयागरूपताप्रतिपादनादिकम् । ततः पौर्णमास्यां सान्नाय्ययागविध्यादिकम्, अमावास्यायां पयस्यायागविध्यादिकञ्च । वाजिनहोमविधानादि, वाजिनेन दिग्ब्याघारणञ्चेति । ततो यजमानपञ्चमाना ऋत्विजां भक्षणविधिः, तन्मन्त्रानुष्ठापनञ्चेति ॥

( ४ प्र० २ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागविधिः । तच्चातुर्मास्ययागीयं वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्व । तस्य वैश्वदेवयागस्य प्रजासृष्टिहेतुत्वाख्यानम्, आख्यायिकोक्तेऽर्थे मन्त्रप्रमाणप्रदर्शनम्, पादशस्तमन्त्रतात्पर्याख्यानञ्च । ततो वैश्वदेवयागविधिः; तत्र पञ्चानां हविषां विधिः, पयस्याप्रशंसादिकम्, पयस्यायागविधानादिकञ्च । ततस्तदीयविशेषाङ्गकर्मणां विधानम्; तत्र बर्हिराहरणामिमन्थनकाल-प्रयाजसञ्ज्ञा-समिष्टयजुषां प्रकृतियागतो विभिन्नताख्यानम्, वैश्वदेवयागस्य प्रजाश्रीफलसाधनत्वाख्यानञ्चेति ॥

( ४ प्र० ३ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागीयं वरुणप्रघासाख्यं द्वितीयं पर्व । तस्य वरुणप्रघासयागस्य वरुणपाशमोचनहेतुत्वाख्यानम्, तत्प्रयोगविध्यादिकञ्च । तत्र उत्तरवेदिनिवपनम्, पूर्वविहितपञ्चहविषाञ्चेह विधानम्, करीराणां मावपनम्, शमीपर्णानां मावपनम्, अन्तिमहविषो विध्नञ्च । करश्रपात्राणां निर्माणविधिः,

करभपात्रनिर्माणावशिष्टाद् यवपिष्टात् मेषमेधीमिथुनस्य निर्माण-  
विधिः, मेषमेथोः प्रथागादिकञ्च । ततोऽग्निमन्थनविधानम् ।  
तस्मिन्नेवान्मौ 'पत्नीकर्त्तृककरभपात्रहोमस्य विधानाय पत्नी-  
व्यभिचारप्रश्नादिकम्, तद्दोषप्रशमनाय मन्त्रवाचनञ्च । तत्क-  
रभपात्रसङ्घाविधानादि, यजमानस्य पत्रग्राह्य मन्त्रवाचनादि,  
तदनन्तरं अध्वयुप्रतिप्रस्थात्रोराश्रावणादिकम्, मेषमेथोर्विपरि-  
हरणम्, अध्वर्योर्वारुण्याः पयस्यायाः प्रचरणम्, प्रतिप्रस्थातु-  
र्मारुण्याः पयस्यायाः प्रचरणे विशेषोपदेशः, सूच्यवदानादिकञ्च ।  
अध्वर्योः प्राशित्रावदानम्, इडोपह्वानादिकञ्च । तत आसेचनम्,  
अतिक्रमणम्, सुगव्यूहनञ्च । ततोऽध्वर्याग्नीध्रयोरुक्तिप्रत्युक्ती ।  
ततः पत्नीसंयाजः, समिष्टयजूषि, अवष्टयगमनादिकम्,  
केशश्मश्रुवपनविधिश्चेति ॥

( ४ प्र० ४ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागीयं साकमेधाख्यं तृतीयं पर्व । तस्य  
साकमेधयागस्य पापोपशमनहेतुत्वाख्यानम्, तत्प्रयोगविध्यादि-  
कञ्च । तत्र पूर्वदिवसे प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु क्रमादनीकवदिष्टेः  
सान्तपनेष्टेः गृहमेधीयेष्टेः विधानादिकम् । ततः पूर्णदर्वाख्यस्य  
कर्मणो विधानादि । तत ऋषभध्वनी होमविधानादि, अन्त्येष्टि-  
विधिञ्च । ततो महाहविराख्यप्रधानहविषः प्रस्तावश्चेति ॥

( ५ प्र० १ ब्रा० )

तस्य साकमेधीयमहाहविषः प्रयोगविधिः । तत्र क्रमशो-  
ऽज्ञानां हविषां विधान मिति ॥

( ५ प्र० २ ब्रा० )

अथ पिण्डपितृयज्ञप्रस्तावः । तत्र प्रथमं पितृणां मृत्युत्ति-  
 कथनम्, पितृणां वसन्ताद्यृतुरूपत्वाख्यानञ्च । ततः पिण्डयज्ञ-  
 विधिः । तत्र सोमपानां प्रथमहविर्विधानम्, बर्हिषदां  
 द्वितीयहविर्विधानम्, अग्निष्वात्तानां तृतीयहविर्विधानञ्च ।  
 पिण्डयज्ञकारिणां दक्षिणामुखत्वादिविधानम्, पितृयाया वेदे-  
 निर्माणविधानादि, तदीयसामिधेनीप्रयोगोपदेशः, होत्रवरण-  
 निषेधादिकञ्च । प्रधानयागानन्तरं स्वष्टकृतस्थानीयकव्यवाहनयाग-  
 विध्यादि । ततः पिण्डदानस्य तदङ्गकर्मणां तन्मन्त्राणाञ्च विधयः,  
 हुतोच्छिष्टस्याग्न्यादौ प्रक्षेपादिर्विधिविकल्पश्चेति ॥

( ५ प्र० ३ ब्रा० )

अथ त्र्यम्बकयागविधानार्थाख्यानम् । तत्रादौ त्र्यम्बकनाम-  
 निरुक्त्यादि । ततः त्र्यम्बकहविषा मभिघारणादिविधानानि ।  
 ततश्चतुष्पथान् प्रत्यागतस्य मन्त्रहयजपः, तयोर्व्याख्यानञ्च ।  
 ततः परिगमनविध्यादि, तत्तन्मन्त्रविधिव्याख्याने च । ततो  
 मृतकासजनविधिः, तन्मन्त्रविधिव्याख्याने च । ततः केशश्मशु-  
 वपनविध्यादिकश्चेति ॥

( ५ प्र० ४ ब्रा० )

अथ चातुर्मास्ययागीयचतुर्थपर्वणः शुनासीर्थ्याख्यस्य विध्युपो-  
 द्यातत्वेन चातुर्मासानां चतुर्णां मेव यागानां मन्त्रव्यफलहेतुत्व-  
 वर्णनादि, विशेषतः शुनासीर्थ्यायागस्य श्रीलाभफलादिवर्ण-

नञ्च । ततः शुनासीर्यप्रयोगविधयः । तत्राप्यष्टानां हविषां विध्यादिकम् , यागदक्षिणा च । ततः शुनासीर्ययागस्य काल-विचारः परिवर्त्तनविधिश्चेति ॥

( ५ प्र० ५ ब्रा० )

अथ वैश्वदेवादिषु सर्वेष्वेव पर्वसु सेतिकर्त्तव्यताकपरिवर्त्तनविधिः । तत्रादौ चातुर्मास्ययागस्य शत्रुविजयहेतुत्वाख्या-नम् । ततश्चातुर्मास्यानां प्रथमपर्वणो वैश्वदेवयागस्यान्निमुख-त्वाख्यानम् , द्वितीयपर्वणो वरुणप्रघासयागस्य वरुणमुखत्वाख्या-नम् , तृतीयपर्वणः साकमेधस्येन्द्रमुखत्वाख्यानञ्च । ततो लौह-क्षुरेण केशानां छेदनं श्मश्रूणां वपनञ्च । ततश्चातुर्मास्ययाजिनां परमगतिफलान्नानश्चेति ॥

## ॥ अथ कर्मसूची ॥

| कर्म              | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म       | प्र०          | ब्रा० | क० |   |    |
|-------------------|------|-------|----|------------|---------------|-------|----|---|----|
| अग्निनिधानम्      | ...  | ३     | ४  | १४         | अग्निस्थापनम् | ...   | ५  | २ | ११ |
| अग्निमन्थनम्      | ...  | १     | ४  | ८          | अग्निहरणम्    | ...   | १  | ४ | १८ |
| अग्निमन्थनम्      | ...  | ४     | २  | १६         | अग्निहोत्रम्  | ...   | २  | २ | १  |
| अग्निमन्थनम्      | ...  | ४     | ३  | १६         | अग्नीतृषेधः   | ...   | ५  | २ | ४७ |
| अग्निव्याप्तयजनम् | ५    | ३     | ६  | अग्नाधानम् | ...           | १     | २  | ३ |    |

| कर्म .                 | प्र० | ब्रा० | क०  | कर्म .                | प्र० | ब्रा० | क० |
|------------------------|------|-------|-----|-----------------------|------|-------|----|
| अग्नाधानम् ... ..      | ५    | २     | ३२  | आश्रावणम् ... ..      | ५    | २     | २३ |
| अग्नाधानदक्षिणा ...    | १    | ५     | २१  | आहवनीयोद्धरणम्        | २    | ३     | ७  |
| अग्नाधानदक्षिणा        | १    | ६     | ३   | आहवनीयोपस्थानम्       | ३    | २     | ३२ |
| अभ्युपस्थानम् ... ..   | ३    | २     | ३   | आहवनीयोपस्थानम्       | ३    | ३     | ८  |
| अजोपबन्धनम् ... ..     | १    | ४     | ३   | आहवनीयोपस्थानम्       | ५    | २     | ३७ |
| अध्वर्युकर्म ... ..    | ४    | ३     | ३२  | इडाप्राशनम् ... ..    | ४    | ४     | १६ |
| अध्वर्युप्रेषः ... ..  | ५    | २     | २४  | इडोपह्वानम् ... ..    | ४    | ४     | १५ |
| अध्वर्याग्नीध्रसंवादः  | ३    | ३     | ४४  | इध्रप्रोक्षणम् ... .. | ५    | २     | १४ |
| अनुदिताहुतिः ... ..    | २    | ३     | २   | उत्तरवेदिनिवपनम्      | ४    | ३     | ६  |
| अनुयाजप्रेषः ... ..    | ४    | ३     | ४१  | उदकावनेजुनम् ... ..   | ३    | ४     | १६ |
| अनुयाजयागः ... ..      | ४    | २     | २०  | उदकावनेजुनम् ... ..   | ३    | ४     | २३ |
| अन्तरागमनम् ... ..     | ३    | १     | १३  | उदिताहुतिः ... ..     | २    | ३     | ३६ |
| अन्वाहार्यपचनम्        | २    | ४     | ६   | उपसादनम् ... ..       | २    | ३     | १७ |
| अपूपनिधानम् ... ..     | २    | १     | १२  | उपस्तरणादिहोमः        | ५    | २     | ३१ |
| अभिघारणम् ... ..       | ५    | ३     | ६   | उपस्थानम् ... ..      | १    | ४     | २६ |
| अभ्युक्षयम् ... ..     | १    | १     | ३   | उपसर्पणम् ... ..      | १    | ४     | २७ |
| अवभृथगमनम् ... ..      | ४    | ३     | ४६  | उपांशुचरणम् ... ..    | २    | १     | १६ |
| अस्नमिताहुतिः ... ..   | २    | ३     | ६   | उपांशुप्रचरणम् ... .. | ५    | २     | १६ |
| आखूत्करे क्षेपः ... .. | ५    | ३     | १०  | उल्मुकनिधानम् ... ..  | ३    | ४     | १५ |
| आग्रयणदक्षिणा ... ..   | ३    | ५     | १३  | उल्लिखनम् ... ..      | १    | १     | २  |
| आग्रयणोष्टिः ... ..    | ३    | ५     | १   | ऋषभाशनम् ... ..       | ४    | ४     | १६ |
| आग्नेययागः ... ..      | ४    | २     | ८   | करम्भपात्रनिर्माणम्   | ४    | ३     | १४ |
| आव्यग्रहणम् ... ..     | ५    | २     | ०१३ |                       |      |       |    |
| आव्यभागप्रचरणम्        | ४    | ३     | ३५  |                       |      |       |    |
| आव्यावदानम् ... ..     | ५    | २     | २६  |                       |      |       |    |

| कर्म .                   | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म .  | प्र०                 | ब्रा० | क० |    |    |
|--------------------------|------|-------|----|---------|----------------------|-------|----|----|----|
| करम्भपातहोमः             | ...  | ४     | ३  | २४      | त्रास्वकयागः         | ...   | ५  | ३  | १  |
| करौरावपनम्               | ...  | ४     | ३  | ११      | त्रास्वकहविःप्रणयनम् | ५     | ३  | ४  |    |
| कथवाहनयागः               | ...  | ५     | २  | ३०      |                      |       |    |    |    |
| कुमारीमन्त्रजपः          | ...  | ५     | ३  | १३      | दर्शष्टिः            | ...   | ४  | १  | १  |
| कुम्भीनिधानम्            | ...  | ४     | ४  | १६      | दाक्षायणयज्ञः        | ...   | ४  | १  | २  |
| केशप्रसश्रुवपनम्         | ...  | ४     | ३  | ४८      | दिग्वाघारणम्         | ...   | ४  | १  | २४ |
| केशप्रसश्रुवपनम्         | ...  | ४     | ३  | १६      | द्यावापृथिव्ययागः    | ...   | ४  | २  | १७ |
|                          |      |       |    |         |                      |       |    |    |    |
| गार्हपत्योपस्थानम्       | ...  | ३     | २  | २८      | निवपनम्              | ...   | १  | १  | २  |
| गार्हपत्योपस्थानम्       | ...  | ३     | ३  | ६       | निवान्यादोहनम्       | ...   | ४  | ४  | १६ |
| गार्हपत्योपस्थानम्       | ...  | ५     | २  | ३६      | नीविस्तृद्वर्हणम्    | ...   | ५  | २  | ४२ |
| गृहमेधीयेष्टिः           | ...  | ४     | ४  | ४       |                      |       |    |    |    |
| गोरुपस्थानम्             | ...  | ३     | २  | ३       | पञ्चत्विजाम्भक्षणम्  | ४     | १  | २५ |    |
|                          |      |       |    |         | पत्नीवाचनम्          | ...   | ४  | ३  | २१ |
|                          |      |       |    |         | पत्नीसंयाजः          | ...   | ४  | ३  | ४५ |
| चतुःस्रक्तिवेदिनिर्माणम् | ५    | २     | १० | पथिहोमः | ...                  | ५     | ३  | ७  |    |
| चतुरवदानम्               | ...  | ४     | ३  | ३६      | पयस्याप्रचरणम्       | ...   | ४  | ३  | ३७ |
| चतुरस्रयनम्              | ...  | २     | ३  | १७      | पयस्यायागः           | ...   | ४  | १  | २० |
| चतुष्पथहोमः              | ...  | ५     | ३  | ७       | पयस्यायागः           | ...   | ४  | २  | १५ |
| चरुनिर्वपनम्             | ...  | १     | ५  | १८      | पयसोऽधिभ्रयणम्       | ...   | २  | ३  | १५ |
| चरुअपणम्                 | ...  | ३     | ४  | १       | पयोदोहनम्            | ...   | २  | ३  | १४ |
| चरुअपणम्                 | ...  | ४     | ४  | ५       | पयोदोहनम्            | ...   | ४  | ४  | १६ |
| चरुहोमः                  | ...  | ३     | ४  | ११      | परिगमनम्             | ...   | ५  | ३  | १२ |
| चरुहासनम्                | ...  | ३     | ४  | ११      | परिग्रहपरिग्रहणम्    | ५     | २  | १२ |    |
| चरुहासनम्                | ...  | ४     | ४  | ६       | परिधिपरिधानम्        | ...   | ५  | २  | १६ |
| चर्वभिचारणम्             | ...  | ४     | ४  | ६       | परिवर्तनम्           | ...   | ५  | ४  | १४ |
| चातुर्मास्त्रिष्टिः      | ...  | ४     | २  | १       |                      |       |    |    |    |

| कर्म .                    | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म .                   | प्र० | ब्रा० | क० |
|---------------------------|------|-------|----|--------------------------|------|-------|----|
| परिवर्तनम् ... ..         | ५    | ५     | ७  | प्रजापत्युपसदनम् ...     | ३    | ४     | ४  |
| पवमानेष्टिः ... ..        | ५    | ५     | ६  | प्रतिपरिगमनम् ...        | ५    | २     | १५ |
| पिण्डदाहजपः ... ..        | ५    | २     | ४० | प्रतिप्रस्थाहकर्म ...    | ४    | ३     | ३१ |
| पिण्डदानम् ... ..         | ३    | ४     | १६ | प्रत्याभ्रावणम् ... ..   | ५    | २     | २३ |
| पिण्डदानम् ... ..         | ५    | २     | ३४ | प्रवत्स्यती वाग्यमनम्    | ३    | ३     | ६  |
| पिण्डदानम् ... ..         | ५    | २     | ३६ | प्रयाजयागः ... ..        | ४    | २     | २० |
| पिण्डदानोदीच्याङ्गम्      | ५    | २     | ४१ | प्रस्तराद्यासादनम् ...   | ५    | २     | १७ |
| पिण्डपितृयज्ञः ... ..     | ३    | ४     | १  | प्राशित्रावदानम् ... ..  | ४    | ३     | ४० |
| पिण्डपितृयज्ञः ... ..     | ५    | २     | १  |                          |      |       |    |
| पिण्डशेषाघ्राणम् ... ..   | ३    | ४     | २४ | फलीकरणम् ... ..          | ३    | ४     | ६  |
| पितृनमस्करणम् ... ..      | ३    | ४     | २४ |                          |      |       |    |
| पितृप्रार्थनम् ... ..     | ३    | ४     | २४ | वर्हिषदाजुनम् ... ..     | ५    | २     | ५  |
| पितृयज्ञः ... ..          | ३    | ४     | १  | वर्हिःसप्तहृदुम् ... ..  | ५    | २     | १५ |
| पित्रावाहनम् ... ..       | ५    | २     | २२ | वर्हिःस्तरणम् ... ..     | ५    | २     | १५ |
| पुत्रनामग्रहणम् ... ..    | ३    | २     | ४१ | वर्हिःस्तरणम् ... ..     | ३    | ४     | १७ |
| पुनराधेयम् ... ..         | २    | १     | १  | ब्रह्मौदनपाकः ... ..     | १    | ४     | ४  |
| पुनराधेयदक्षिणा ... ..    | २    | १     | २८ | ब्रह्मौदनप्राशनम् ... .. | १    | ४     | ६  |
| पुरोडाशनिर्वापः ... ..    | १    | ५     | २२ | ब्राह्मणभोजनम् ... ..    | ३    | ५     | १४ |
| पुरोडाशप्रतिपत्तिः        | ४    | ३     | १६ |                          |      |       |    |
| पुरोडाशुवाक्याप्रध्यावनम् | ५    | २     | २६ | मन्त्रजपः ... ..         | १    | ४     | २८ |
| पूर्णदर्वकर्म ... ..      | ४    | ४     | १७ | मन्त्रजपः ... ..         | ३    | ४     | २२ |
| पूर्णाहुतिहोमः ... ..     | १    | ५     | २  | महाहविःप्रयोगः ... ..    | ५    | १     | ५  |
| पूर्णाहुतिहोमः ... ..     | १    | ५     | ३  | महाहविरिष्टिः ... ..     | ४    | ४     | २  |
| घृषदाव्यव्यागयनम्         | ४    | ३     | ४१ | महाहविरिष्टिः ... ..     | ४    | ४     | २१ |
| पौर्णमास्येष्टिः ... ..   | ४    | १     | १५ | मारुतयागः ... ..         | ४    | २     | १२ |
| पौषयागः ... ..            | ४    | २     | ११ | मारुतेष्टिः ... ..       | ४    | ४     | २० |



| कर्म .                 | प्र० | ब्रा० | क० | कर्म .                  | ब्रा० | क० |
|------------------------|------|-------|----|-------------------------|-------|----|
| भूतकावसजनम् ...        | ५    | ३     | १७ | सर्पिरासिचनम् ...       | ४     | ४  |
| ऋताग्निहोत्रिप्रक्षेपः | ३    | १     | ५  | समिदाधानम् ...          | ३     | ३  |
| मेघमेघीनिर्माणम् ...   | ४    | ३     | १५ | समिष्टयज्ञःप्रयोगः ...  | ४     | ३  |
| मेघमेघीप्रक्षेपः ...   | ४    | ३     | १७ | समिष्टयज्ञ्यर्जनम् ...  | ४     | २  |
| मेघावदानम् ...         | ४    | ३     | ३८ | सम्भरणम् ...            | १     | १  |
| मेघीप्रत्यञ्जनम् ...   | ४    | ३     | ३८ | साम्बयजुर्हरणम् ...     | ५     | २  |
| यजमानमन्त्रजपः ...     | ५    | ३     | ११ | सथोर्वाहनम् ...         | ५     | ३  |
| रुद्रावसदानम् ...      | ५    | ३     | १८ | सान्तपनेष्टिः ...       | ४     | ४  |
| वरुणप्रघासेष्टिः ...   | ४    | ३     | १  | सान्नाथ्ययागः ...       | ४     | १  |
| वसिष्ठयज्ञः ...        | ४    | १     | २  | सामिधेन्यनुवचनम् ...    | ५     | ३  |
| विपरिहरणम् ...         | ४    | ३     | ३६ | सारस्वतयागः ...         | ४     | २  |
| त्रौह्यवहनम् ...       | ३    | ४     | ६  | सावित्रयागः ...         | ४     | २  |
| वैश्वदेवदक्षिणा ...    | ४    | २     | २२ | स्थानसंस्कारः ...       | ३     | ४  |
| वैश्वदेवपर्व ...       | ४    | २     | ७  | सुगन्धूहनम् ...         | ४     | ३  |
| वैश्वदेवपर्व ...       | ४    | ३     | १  | सुगन्धूहनम् ...         | ५     | २  |
| शमीपर्णावपनम् ...      | ४    | ३     | १२ | सोमपायजनम् ...          | ५     | २  |
| श्राकमेघपर्व ...       | ४    | ४     | १  | सौम्ययागः ...           | ४     | २  |
| शुनासौर्यदक्षिणा ...   | ५    | ४     | ६  | हविर्निर्वपणम् ...      | १     | १  |
| शुनासौर्ययागः ...      | ५    | ४     | २  | हविर्यज्ञः ...          | ४     | २  |
| शुनाशौर्ययागः ...      | ५    | ४     | ११ | हविरासादनम् ...         | ४     | ३  |
|                        |      |       |    | हुतशिष्टप्राशनम् ...    | ५     | २  |
|                        |      |       |    | हुतशेषप्राशनम् ...      | ५     | २  |
|                        |      |       |    | हुतशेषस्याग्नौप्रक्षेपः | ५     | २  |
|                        |      |       |    | होत्रपवेक्षणम् ...      | ५     | २  |

॥ अथ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ॥

- “अन्नय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति” ५. ४. १.  
 “अग्ने रेतो हिरण्यम्” २. १. २८.  
 “अथास्य शरीर मेवान्निर्दहति ; तद्यथा पितुर्वा मातुर्वा जायेतैव  
 मेघोऽग्नेरधिजायते ; शश्वद् वा एषः” २. २. ८.  
 “अन्नं वा आपः” १. १. ३.  
 “अयं वै यज्ञो योऽयं पवते” १. ४. २१.  
 “अयं वै वायुर्योऽयं पवते, एष वा इदं सर्वं प्रचावयति यदिदं  
 किञ्च ; वर्षति, वृष्टादोषधयो जायन्ते ; भीषधीर्जग्ध्वापः  
 पीत्वा तत एतदङ्गोऽधि पयः सन्भवति ; एष हि वा एतज्जन-  
 यति, तस्माद् वायव्यं भवति” ५. ४. ७. \*  
 “असौ (ऋगशिराः) असुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः” १. २. ८.  
 “आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतवः” २. १. ८.  
 “इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधात्, वृत्रं हत्वा यथा महाराजो  
 विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्” ५. १. ८.  
 “इन्द्रो वै यजमानः” १. २. ११.  
 “इयं वै पृथिवी पूषा” ५. १. ७.  
 “इयं वै पृथिव्यदितिः” १. ५. १८.  
 “उत्तरतो हि स्त्री पुमांस सुपशेते” ४. १. १७.

“उत्तरा हि सप्तर्षय उच्यन्ति” १. २. ४.

“उपह्वय प्राश्नन्ति । यावन्तो गृह्णा हविरुच्छिष्टाशाः स्युस्तावन्तः  
प्राश्नीयुः, अथो अप्यूत्विजः प्राश्नीयुः, अथो अप्यन्थे ब्राह्मणाः  
प्राश्नीयुः, यदि बहुरोदनः स्यादथैतां कुम्भी मपिधाय  
निदधति” ४. ४. १६.

“उभये ह वा इद मये सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च” ३. २. ४.

“ऋतवः पितरः” ३. ४. २४ ; ५. २. ४२.

“एता ह वै देवता योऽस्ति तस्मिन् वसन्ति, इन्द्रो यमी राजा नडो  
नैषिधः” २. ४. १, २.

“एते वै विश्वेदेवा रश्मयः । योऽथ परं भाः प्रजापतिर्वा स  
इन्द्रो वा” २. ३. ७.

“एष एव मृत्युर्य एष तपति ०—० अमुष्मिंल्लोके पुनः पुनरेव  
प्रमारयति” ३. १. ७, ८. 47648

“एष वै यज्ञो यदग्निः” १. ४. १८.

“कं वै प्रजापतिः” ४. ३. १३.

“कनीयांसो हि देवा मनुष्येभ्यः ०—० भूयांसो हि मनुष्या देवेभ्यः  
०—० भूयांसो हि पशवो मनुष्येभ्यः ०—० कनीयांसो ह वा  
अस्य भार्या भवन्ति, भूयांसः पशवः” २. ४. १८.

“कास्वालीकृता ह्येव तर्हि पृथिव्यास, नौषधय आसुः, न  
वनस्पतयः” २. २. ३.

“ह्यायथैव वा अयं पुरुषः” २. १. १०.

“तदग्निहोत्राच्छिष्टं ०—० नाब्रह्मणः पिबेत्” २, ३, ३८.

“तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्—‘प्रजा ह तिस्रोऽत्याय मीयुरिति”  
( ऋ० सं० ८. १०१. १४. ) ४. ३. ४.

“तान् द्वयोर्मृतकयोरुपनह्य वेणुयष्ट्यां वा कुपे वोभयत आबध्मोदङ्  
परेत्य यदि वृक्षं वा स्याणुं वा वल्मीकं वा विन्देत , तस्मिन्ना-  
सजति ;— ‘एतत् ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽनीहि-  
-इति” ५. ३. १७.

“तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः” ३. ४. २१.

“देवाः सन्ति ०—० पितरश्चोषधयश्च सन्ति ०—० मनुष्याः  
सन्ति” २. ३. १८.

“द्वीर्वह्नी नक्षत्रैः” १. ४. २८.

“द्वयं वा इदं जीवनम् , मूलि चैवामूलञ्च” ३. ३. १०.

“हया वै देवाः । अहैव देवाः, अथ ये ब्राह्मणाः शशुवांसोऽनूचानास्ते  
मनुष्यदेवाः ; ०—० आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति , दक्षि-  
णाभिर्मनुष्यदेवान्” १. ६. ६ ; ३. ५, १४.

“न श्नः श्न सुपासीत को हि मनुष्यश्च श्नो वेद” १. ३. ८.

“नो ह्यनाहिताग्नेर्गतचर्यास्ति” १. ४. ७.

“नैर्ह वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्” ३. १. १५, १६.

“पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा” ५. ३. १४.

“पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति” ४. ३. ८.

“परमां गतिं गच्छति” ५. ५. ८.

“पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति ( ऋ० सं० १. ८८. ८. )” ३. १. ६.

“पूर्वाह्नो वै देवानाम्, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम् अपराह्नः पितृ-  
णाम्” ३. ४. ८.

“प्रजापतिं ०—० देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्यो-  
पासीदंस्तानब्रवीद् यज्ञो वोऽन्न ममृतत्वं व जगं वः सूर्यो वो  
ज्योतिरिति” ३. ४. १.

“( प्रजापतिं ) पशव उपासीदन् तेभ्यः स्वैष मेव चकार यदेव यूयं  
कदा च लभञ्चै यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाग्राथेति” ३. ४. ४.

“( प्रजापतिं ) पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदं-  
स्तानब्रवीन् मासि मासि वोऽन्नं स्वधा वो मनोजवो वसुन्द्रमा  
वो ज्योतिरिति” ३. ४. २.

“( प्रजापतिं ) मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीत्  
साम्यम्प्रातर्वोऽग्निं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति” ३. ४. ३.

“( प्रजापतिं ) शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुस्तेभ्यस्तमश्च मायाश्च  
प्रददौ” ३. ४. ५.

“प्रथमदुग्धमुष्णं भवति ; अग्नेर्हि रेतः” २. २. १५.

“मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति ३. ३. ११.

“माता धेनुर्मातेव वा इयं मनुष्यान् विभर्ति” १. ५. २१.

“मेधो वै पयः, मेधस्तण्डलाः, तमुभयं मेधमात्मन् धत्ते, तस्मान्  
क्षौरौदनो भवति ४. ४. ४.

“यत्रैतत् प्रतितरा मिव तिरस्त्रीवाञ्छिः संशाम्यतो भवति, तर्हि  
क्षैप भवति मित्रः” २. ४. १२.

“यत्रैतत् प्रथमं समिद्धो भवति, धूप्यत एव, तर्हि ह्यैष भवति  
रुद्रः” २. ४. ८.

“यत्रैतत् प्रदीप्ततरो भवति, उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्वलीति,  
तर्हि ह्यैष भवतीन्द्रः” २. ४. ११.

“यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति, तर्हि ह्यैष भवति वरुणः” २. ४. १०.

“यत्रैतदङ्गाराशाकश्यन्त इव, तर्हि ह्यैष भवति ब्रह्म” २. ४. १३.

“यथैवासी सूर्य एवं ( नक्षत्रम् )” १. २. १८.

“योषा वा आपः, वृषाम्निः” १. १. ४.

“वर्षा ह त्वेव सर्वेषा ऋतूनां रूपम्” २. १. ७, ८.

“वसन्तो श्रीमो वर्षास्ते देवा ऋतवः” १. ३. १.

“वीर्यं वा अश्वः” १. ४. २४.

“शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः ( ऋतवः )” १. ३. १.

“शाखया वक्षानपाकृत्य पवित्रवति सन्दोह्य, तं चरुं अययति,  
चरुं ह्येव स यत्र क्व च तण्डुलानापयन्ति” ४. ४. ४.

“स उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेघी मवदधाति, दक्षिणस्यां  
मेघम्” ४. ३. १७.

“स एतास्त्रिस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्” १. ५. १४.

“स एष पुत्रः सन् पिता भवति” ३. १. ५.

“स पत्नी मुदानिथन् पृच्छति केन चरसीति; वरुणं वा एतत् स्त्री  
करोति, यदन्यस्य सत्यन्वेन चरति” ४. ३. २०.

“सप्त च वै शतान्यशीतीना ऋचो विंशतिश्च” ३. १. १८.

“स यत्रोदङ्कावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति ०—० अथ यत्र  
दक्षिणावर्त्तते पित्रेषु तर्हि भवति” १. ३. ३.

“स यो ह्येवं विद्वान् सायम्प्रातराग्नी भवति, सर्वं ह्येवायुरेति” ३. ४. ६.

“सर्वतोमुखी वा असावादित्यः ०—० सर्वतोमुखोऽय मग्निः ०—०

अन्यतोमुखः पुरुषः” ५. ४. १४—१६.

“सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राची दिग्दक्षवन्ते” १. २. ३.

“सायुज्यं सलोकतां जयति” ५. ५. ८.

“सोमो राजा देवाना मन्नं यच्चन्द्रमाः” ४. १. १५.

“स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेति” २. २. ६.

“हिरण्यम् ०—० अनेर्हि रेतः” १. १. ५.

## ॥ अथर्षिनामादिसूची ॥

| ऋषिनामादि. | प्र० | ब्रा० | क०     | ऋषिनामादि. | प्र० | ब्रा० | क०       |
|------------|------|-------|--------|------------|------|-------|----------|
| अप्रवानः   | ...  | ...   | ३ २ १४ | आसुरिः     | ...  | ...   | २ ३ ६    |
| अम्बिका    | ...  | ...   | ५ ३ ६  | आसुरिः     | ...  | ...   | ३ ३ २    |
| अरुणः      | ...  | ...   | १ ६ २० | आसुरिः     | ...  | ...   | ५ २ ३५   |
| आरुणिः     | ...  | ...   | २ ३ ३१ | आसुरिः     | ...  | ...   | ५ २ ३३   |
| आरुणिः     | ...  | ...   | २ ३ ३४ | आसुरिः     | ...  | ...   | ५ ४ १७   |
| आसुरिः     | ...  | ...   | १ ४ २७ | इन्द्रः    | ...  | ...   | २ ४ १, २ |

| ऋषिनामादि.        | प्र० | ब्रा० | क०.  | ऋषिनामादि.         | प्र० | ब्रा० | क०.  |
|-------------------|------|-------|------|--------------------|------|-------|------|
| उर्वासकम् ... ..  | ५    | ३     | १२   | देवभागः ... ..     | ४    | १     | ५    |
| ऋषयः ... ..       | १    | ५     | १४   | नङ्गः ... ..       | २    | ४     | १, २ |
| ऋषयः ... ..       | ३    | २     | २४   | नैषिधः ... ..      | २    | ४     | १, २ |
| ऋषिः ... ..       | ४    | १     | ४    | पाश्चिः ... ..     | १    | ४     | २७   |
| एके ... ..        | ५    | २     | ३३   | पार्वतिः ... ..    | ४    | १     | ६    |
| श्रौपवेशिः ... .. | १    | ६     | २०   | प्रतीदर्शः ... ..  | ४    | १     | ३    |
| श्रौशिजः ... ..   | ३    | २     | ३५   | भाल्लवेयः ... ..   | १    | ४     | ६    |
| कक्षीवान् ... ..  | ३    | २     | ३५   | भृगवः ... ..       | ३    | २     | १४   |
| कहोड़ः ... ..     | ३    | ५     | १    | माधुकिः ... ..     | १    | ४     | २७   |
| कुमार्यः ... ..   | ५    | ३     | १३   | यमः ... ..         | २    | ४     | १, २ |
| कुरवः ... ..      | ४    | १     | ५    | याज्ञवल्काः ... .. | २    | ३     | ११   |
| कौषीतकिः ... ..   | ३    | ५     | १    | याज्ञवल्काः ... .. | ३    | ५     | २    |
| केलकिः ... ..     | २    | ३     | ३४   | श्रौतर्षिः ... ..  | ३    | १     | ५    |
| जीवलः ... ..      | २    | ३     | ३४   | श्वेताः ... ..     | ४    | १     | ३    |
| ज्ञातयः ... ..    | १    | ६     | २०   | सहदेवः ... ..      | ४    | १     | ४    |
| तन्वा ... ..      | २    | ३     | ३१   | सार्ङ्गयः ... ..   | ४    | १     | ४    |
| दचः ... ..        | ४    | १     | १, ६ | सुजा ... ..        | ४    | १     | ४    |
| दाशायणाः ... ..   | ४    | १     | ६    | वृद्धयाः ... ..    | ४    | १     | ४, ५ |



## ॥ सर्वसूची ॥

|                        | पृष्ठ |                               | पृष्ठ |
|------------------------|-------|-------------------------------|-------|
| अथ सम्पादकोक्तिः ...   | अ, आ  | अथ कण्डिकासूची ...            | ३     |
| अथ मूलशुद्धिपत्रम् ... | क, ख  | अथ विषयसूची ...               | १५    |
| अथ प्रपाठकसूची ...     | १     | अथ कर्मसूची ...               | २४    |
| अथाध्यायसूची ...       | १     | अथ स्मर्त्तयालोच्यवचनसूची ... | २६    |
| अथ ब्राह्मणसूची ...    | २     | अथ विंशानामादिसूची ...        | ३४    |

# शतपथब्राह्मणम् ।



अथ

## द्वितीयकाण्डम् ।

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपि वा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥



॥ हरिः ॐ ॥

स यदा ऽइतश्चेतश्च सम्भरति । तत्सम्भाराणां  
सम्भारत्वं यत्र-यत्रानेर्न्यक्तं ततस्ततः सम्भरति  
तद्यज्ञसेव त्वदेवैर्न मेतत् समर्द्धयति पशुभिरिव  
त्वन्मिथुनेनेव त्वत् सम्भरन् ॥ १ ॥

अथोऽस्त्रिखति । तद्यदेवास्त्रै पृथिव्या ऽअभिष्ठितं  
व्वाभिष्टूतं\* वा तदेवास्या ऽएतदुद्बन्त्य यन्नियाया  
मेव पृथिव्या माधत्ते तस्माद्वा ऽउऽस्त्रिखति ॥ २ ॥

\* 'वाभिष्टूतं'—इति घ । एवं सर्वत्र बोध्यम् ।

अथाहिरभ्युक्षति । एष वा अपाऽऽ सम्भारो युद-  
हिरभ्युक्षति तद्यदपः सम्भरत्यन्नं वा ऽआपोऽन्नं हि वा  
ऽआपस्तस्माद्यदेमं लोकं माप आगु\*च्छन्त्यथेहान्नाद्यं  
जायते तदन्नाद्येनैवैन मेतत् समर्हयति ॥ ३ ॥

योषा वा ऽआपः । व्युषाग्निर्मिथुनेनैवैन मेत-  
त्प्रजननेन समर्हयत्यह्निर्व्या ऽइदं सर्वं माप्तु मन्नि-  
रेवैन मेतदापत्वाधत्ते तच्चादपः सम्भरति ॥ ४ ॥

अथ हिरण्यं सम्भरति । अग्निर्ह वा ऽअपोऽभि-  
दध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः सम्भूव तासु रेतः  
प्रासिञ्चत्तहिरण्यं मभवत्तच्चादेतदग्निं सङ्गाशं मग्ने-  
र्हि रेतस्तच्चादपु श्चिन्दन्त्यपु हि प्रासिञ्चत्तस्मादेनेन  
न धावयति न किञ्चन करोत्यथ यशो देवरेतसं हि  
तदाशसैवैन मेतत् समर्हयति सुरेतस मेव क्वात्स्न मग्नि  
माधत्ते तच्चाहिरण्यं सम्भरति ॥ ५ ॥

अथोषान्त्सम्भरति । असौ ह वै द्यौरस्यै पृथिव्या  
ऽएतान् पशून् प्रददौ तस्मात्पशुव्यं मूषर मित्याहुः  
पशुवो ह्येवैते साक्षादेव तत् पशुभिरेवैन मेतत् समर्ह-  
यति तेऽमुत् ऽआगता ऽअस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितास्तु

मनयोर्द्यावापृथिव्यो रुसं मन्यन्ते तदनयोरेवैनमेतद्  
 द्यावापृथिव्यो रुसेन समर्हयति तस्माद्दुषान्त्सु  
 स्मरति ॥ ६ ॥

अथाखुकरौषं सम्भरति । आखुवो ह वा ऽस्यस्यै  
 पृथिव्यै रुसं विदुस्तस्मात् तेऽधोऽध ऽङ्गमां पृथिवीं  
 चरन्तः पीविष्ठा ऽस्यस्यै हि रुसं विदुस्ते यत्र ते ऽस्यै  
 पृथिव्यै रुसं विदुस्तत उत्किरन्ति तदद्या\* ऽएवैनमेतत्  
 पृथिव्यै रुसेन समर्हयति तस्मादाखुकरौषं सम्भरति  
 पुरीष्य ऽङ्गति वै त माहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै  
 पुरीषं च करीषं च तदेतस्यैवावर्ह्यै तस्मादाखु-  
 करौषं सम्भरति ॥ ७ ॥

अथ शक्रराः सम्भरति । देवाश्च वा ऽस्यसुराश्चोभये  
 प्राजापत्याः पस्पृधिरे सा हेयं पृथिव्यलेलायद्यथा  
 पुष्करपर्णु मेवं तां ह रुम व्यातः संव्वहति सोपैव  
 देवान् जगामोपासुरान्त्सा यत्र देवानुपजगाम ॥ ८ ॥

तबोचुः । हन्तेमां प्रतिष्ठां हृंहामहै तस्यां ध्रुवा-  
 या मग्निथिलाया मग्नी ऽआदधामहै ततोऽस्यै सपुत्रान्  
 न्निर्भक्ष्याम ऽङ्गति ॥ ९ ॥

तद्यथा शङ्कुभिश्चर्मं विहन्त्यात् । एव मिमां  
प्रतिष्ठां शर्कराभिः पर्यवृहन्त सेयं ध्रुवाग्निथिला  
प्रतिष्ठा तस्यां ध्रुवाया मग्निथिलाया मग्नी ऽप्रादधत  
ततोऽस्यै सपत्नान् निरभजन् ॥ १० ॥

तथो ऽएवैष ऽएतत् । इमां प्रतिष्ठां शर्कराभिः  
परिवृहते तस्यां ध्रुवाया मग्निथिलाया मग्नी  
ऽप्राधत्ते ततोऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माच्छर्कराः  
सम्भरति ॥ ११ ॥

तान्वा ऽएतान् । पञ्च सम्भारान्त्वम्भरति पाङ्को  
यज्ञः पाङ्कः पशुः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरस्य ॥ १२ ॥

तदाहुः । षडेवऽर्त्तवः संवत्सरस्येति न्यूनं मु  
तर्हि मिथुनं प्रजननं क्रियते न्यूनाद्वा ऽइमाः प्रजाः  
प्रजायन्ते तच्छ्वेयस मुत्तरावत् तस्मात् पञ्च  
भवन्ति यद्यु षडेव ऽर्त्तवः संवत्सरस्येत्यग्निरेवैतेषां  
षष्ठस्तथो ऽएवैतदन्यूनं भवति ॥ १३ ॥

तदाहुः । नैवैकञ्चन सम्भारं सम्भरेदित्यस्या वा  
ऽएते सर्वे पृथिव्यां भवन्ति स यदेवास्या माधत्ते तत्  
सुर्वांसम्भारानाप्नोति तस्मान्नैवैकञ्चन सम्भारं  
सम्भरेदिति तदु सुमेव भरेद्यदेवास्या माधत्ते तत्

सुर्वाङ्गम्भारुनाप्नोति युद्धु सम्भारैः सम्भृतैर्भवति  
तद्दु भवति तुच्छाद्दु सु मेव भरेत् ॥ १४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [१.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानां मुपक्रमे ।

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

आद्ये काण्डे प्रपञ्चेन पौर्णमासेष्टिरीरिता ।

सा सम्पूर्णापदेशत्वादन्यासां प्रकृतिर्मता \* ॥ ३ ॥

पवमानेष्ट्यादिकानां द्वितीये त्वग्निच्छिद्ये ।

आधानं पवमानेष्टिरग्निहोत्र मुपस्थितिः ॥

चातुर्मास्यादिकः सर्वो हविर्यज्ञोऽत्र वर्ष्मणे ॥ ४ ॥

\* अथ यत्र सर्वं कर्त्तव्यं प्रकर्षेण कर्मान्तरनिरपेक्ष्योपदिश्यते, सा प्रकृतिः । यत्र विशेषरूपमेव कर्त्तव्यं श्रुत्योपदिश्यते इतरत् सर्वं प्रकृतेरतिदिश्यते, सा विकृतिः । प्रकृतिश्च द्विविधा ; मूलप्रकृतिरवान्तरप्रकृतिश्चेतिभेदात् । सर्वात्मना, कर्मान्तरनिरपेक्षा मूलप्रकृतिः । कतिपयेष्वङ्गेषु कर्मान्तरश्चापेक्षते स्वयञ्च कैश्चित् कर्मभिरपेक्षणीया भवति, सेय मवान्तरप्रकृतिः । सर्वेषु हि मीमांसायाः सप्तमाष्टमाध्यायाभ्यां विचार्य निरूपितम् । तथाच न्यायमालाया अप्यष्टमाध्यायस्य प्रथमपाटीयद्वितीयाधिकरणद्वितीयवर्णके इष्टाग्निहोत्रसोमाणा मेव सर्वयागमूलप्रकृतित्वं निर्णीतम् ।

तत्र तावत् सर्वेष्टप्रकृतित्वेन प्राक् प्रतिपादिताया दर्शपूर्ण-  
मासेष्टेः, विधास्यमानाना मग्निहोत्रादिकर्मणां च त्रेताग्नि-  
साध्यत्वात् \* तद्वेतुभूत माधानं प्रतिपाद्यते । तत्र चोदकहिर-  
ण्यादिसम्भाराणां पञ्चानां † सम्भरणं विधिः सम्भारनामनिर्वचनं  
करोति—“स यदा इति । ‘इतश्च’ अस्माद् वक्ष्यमाणादुदक-  
हिरण्यादिद्रव्यजातात् ‘सः’ अध्वर्युस्तदेकदेश माहृत्य ‘यद्’ यस्मा-  
देकस्थाने ‘सम्भरति’ समूहीकरोति, ‘तत्’ तस्मात् सम्भ्रियन्त  
इति सम्भाराः, इति व्युत्पत्त्या तेषां ‘सम्भार’-नाम सम्प्रत्यय मित्यर्थः ।  
“इतश्चेतश्चेति । “नित्यवीक्ष्योः”—इति ‡ द्विवचनम् ।

एतदेव विशदयन् सम्भरणं विनियते— “यत्र-यत्रेति ।  
यस्मिन् यस्मिन् पदार्थे ‘अग्नेः’ सम्बन्धि तेजो ‘न्यक्तं’ निस्तीनं  
भवति, तस्मात् सर्वस्मात् अपि सम्भरणं कार्यं मित्यर्थः ॥

एतत् सम्भरणीयद्रव्यविशेषोपजीवनेन प्रशंसति— “तद्यश-  
सेवेति । सम्भरतीत्युपरिष्ठात्सर्वशेषतया श्रुतत्वात् त्रिष्वपि  
वाक्येषु त्वदित्यनन्तरं सम्बध्यते । त्वच्छब्दश्च एकशब्दपर्यायः ;  
“उत त्वः पश्यन्”—इत्यादौ § तथा दर्शनात् । “अप्येकः पश्यन् न  
पश्यति वात मिति यास्कः ¶ । ‘तत्’ तत्र ‘तत्’ एकं हिरण्याख्यं

\* “दृष्टिणादिर्गाहपत्याहवनीयौ त्रयोऽग्नयः । अग्निश्चय मिहं त्रेता”—  
इति अ० को० २, ७, २० ।

† १ उदकम्, २ हिरण्यम्, ३ ऊषाः ( पशवः ), ४ व्याखुरीषम्  
( व्याखुरीषम् ), ५ शर्कराः ( कङ्करिति ख्याताः ) ।

‡ पा० सू० ८, १, ४ । § अ० सं० १०, ७१, ४ ।

¶ निरु० १, ६, ३ ।

वस्तु 'सम्भरन्' 'एनम्' अग्निम् एतेन सम्भरणेन 'यशसैव समर्ह-  
यति' । हिरण्यस्य यशोरूपत्व मये वक्ष्यते \* ।

एव मुत्तरवाक्ययोरपि योजना । तत्र त्वदितिपदाभ्या-  
मुपोदकद्रव्यौ विवक्षितौ । तयोश्च पशुमिथुनरूपत्वे † उपरिष्ठात्  
समाप्तास्येते ‡ ॥ १ ॥

तस्य च हिरण्यादिसम्भारस्य निवपन मुक्लेखनाभ्युक्षण-  
संस्कृतेश्चैव गार्हपत्याद्यायतनेषु कार्यं मित्यभिप्रेत्य प्रथम  
मुक्लेखनं विधाय प्रशंसति— "अथोक्लिखतीति । 'अस्यै वृथिव्यै'-  
इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी § । 'अस्याः वृथिव्याः' सम्बन्धि, यत् 'अभि-  
ष्ठितम्' उपर्यवस्थानेन पादस्पर्शजनितम्, 'अभिष्टूतम्' तदुपरि  
निठीवनादिजनितश्चेत्यर्थः । 'वा'-शब्दौ चार्थौ । "यन्निवाया  
मिति । यन्नार्ह्यायां मित्यर्थः ॥ २ ॥

उक्लिखिताना मन्व्यायतनाना मभ्युक्षणं विधत्ते— "अथेति ।  
एतदभितः सर्वतो यदभ्युक्षणम्, 'एष वा अपां सम्भारः' ; न तु  
हिरण्यादिवत् वृषगुणादाय तासां निवपनं कार्यं मित्यर्थः ।  
'अन्नं वा इत्यादि । निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

एव मन्वाद्यहेतुत्वेनाभ्युक्षणं प्रशस्य मिथुनरूपेण प्रशं-  
सति— "योषा वा इति । अपां स्त्रीलिङ्गत्वाद्देश्य पुंलिङ्गत्वा-  
दुभयमित्थितं सदेकं मिथुनम्, तच्च पुत्रपौत्रादिप्रजननहेतुरिति

\* 'अथ यशः'—इत्यादि द्रष्टव्यम् ( ५ क० ) ।

† यदि च श्रुतौ मिथुनस्याग्ने विधानम्, पशूनां तत उत्तरम् ; तथापि  
'अन्पात्तरम् ( पा० सू० २, २, ३४ )—इतिशासनात्पशुशब्दस्येह इन्द्र-  
मित्तः पूर्वनिपातो बोध्यः ।

‡ इहैवानुपदं चतुर्थेषु कण्डिकयोर्दृश्ये । § पा० २, ३, ६१ सू० वा० ।



‘एनम्’ अग्निं ‘समर्चयति’ एतेन ‘मिथुनेन’ । त्वदिति प्रागुक्तं तद्विद्यतं भवति ।

एवं लिङ्गोपजीवनेन प्रशस्य अप्शब्दप्रतिपादितार्थपर्या-  
लोचनयापि प्रशंसति— “अग्निर्वा इति । “आपो वा इदं मये  
सलिलं मासीत्”— इति श्रुतिः \* । सर्वम् ‘इदम्’ जगत् ‘अग्निः’  
खलु ‘आप्तम्’ अत आपनशीलाभिस्ताभिरग्निः ‘एनम्’ अग्निं  
प्राप्य ‘आधत्ते’ इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् सन्धारनिवपनसमये-  
ऽभ्युक्षणाद्यं कस्मिंश्चित् पात्रे अपः सन्धरेदिति निगमयति—  
“तस्मादिति ॥ ४ ॥

हिरण्यस्य सन्धारणं विधत्ते—“अथ हिरण्यं मिति । तस्य  
हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वं’ प्रतिपादयति— “अग्निर्ह वा इत्यादिना ।  
‘अभिदध्यौ’ अभिध्यातवानित्यर्थः । “ध्वे चिन्तायाम् †”—  
इत्यस्मात्प्रति “आत् औ णलः”— इत्यौत्वम् ‡ । अभिध्यान-  
प्रकारमाह— “मिथुन्याभिरिति । ‘आभिः’ अग्निः अभ्युक्षणाग्निः  
स्त्रीभिः ‘मिथुनीस्याम्’ प्रयोगमिथुनं तत्संयोगान्मिथुनं भवा-  
नीत्यर्थः । मिथुनशब्दादभूततद्भावे च्चिः § । “तस्मादेतदिति ।  
यस्मादग्निवीर्यं हिरण्यात्मना परिणतम्, ‘तस्मात्’ एतत् हिरण्यम्  
‘अग्निसङ्काशम्’ अग्नेः सदृशं मेव वर्ण्यत उपलभ्यते । यस्माच्चाप्सु  
निषिक्तम्, ‘तस्मात्’ तत् हिरण्यम् ‘अप्सु’ ‘विन्दन्ति’ लभन्ते  
इत्यर्थः । “तस्मादेनेनेति । यस्मादानेयं हिरण्यम् ‘तस्मादेनेन’  
दन्तान् ‘न धावयेत्’ । तथा यदन्यत् किमपि ह्योनं कर्म, तदपि  
तेन न कुर्यादित्यर्थः ।

\* ते० ब्रा० १. १. ३. ५ ।

† भा० प० ६३३ धा० ।

‡ पा० सू० ७. १. ३४ ।

§ पा० पृ. ४. ५० सू० २ वा० ।

“अथ यश इति । ‘अथ’-शब्दो वाक्यालङ्कारे । यस्मात्तद्विरण्यं  
‘देवरेतसं’ देवस्यान्नेर्वीर्यम्, तस्माद् यशोरूपम् । देवरेतस मिति  
‘अनसन्तात्’-इत्यकारः समासान्तः \* । तथाच हिरण्यसम्भरणेन  
‘यशसैव’ ‘एनम्’ अन्तिं समृद्धं करोति । एतेन “यशसेव त्वदिति  
प्रागुक्तं † व्याख्यातं भवति । “सरेतस मेवेति । हिरण्यस्य  
सम्भरणाभावे हि रेतसोऽन्यत्र स्थितत्वात् तद्रहित आहितोऽग्नि-  
रक्तस्त्र एव भवति ; तत्सम्भरणे तु सरेतसः सः ॥ ५ ॥

“अथोषानिति । ऊषाणां पशुरूपत्वं प्रतिपादयन् तत्  
समृद्धिहेतुत्वेन स्तौति—“असौ ह वा इति । यस्मात् ‘पृथिव्यै’  
द्युलोकेन इमे पशवो दत्ताः, ‘तस्मात्’ तत्सम्बन्धि ‘ऊषरम्’  
ऊषयुक्तं स्थानं ‘पशव्यम्’ पशुभ्यो हितम् ‘इति’ ब्रह्मवादिनः  
‘आहुः’ । ‘पशवो हि’ तादृशं स्थान मासाद्य लिहन्ति ; अतः  
पशुहितत्वात् पश्व्वात्मकाः ‘एवैते’ ऊषाः । “ऊषर मिति ।  
“ऊषसुषिमुष्कमधो रः”-इति ‡ मत्वर्थीयो रः । स्पष्ट मन्वत् ।  
द्यावापृथिव्यो रसत्वेनैतान् प्रशंसति—“तेऽमुत इति । ‘अमुतः’  
अमुष्माद् द्युलोकात् ‘आगताः’, ‘अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः’ च ;  
अतः पश्वात्मकस्य ऊषद्रव्यस्य द्यावापृथिवीरसत्वम् । किं  
ततः इत्याह— “तदनयोरिति ॥ ६ ॥

द्रव्यान्तरस्य सम्भरणं विधत्ते—“अथाखुकरीष मिति ।  
(आखुभिः खननेन विलात् बहिर्नीताः पांशव आखुकरीषम्) ॥  
“आखुवो हेति । यस्मात् ‘आखुवः’ पृथिवीरसजाताः,

\* पा० सू० ५, ४, १०३ ।

† १ प्र० १२पं०, ७ प्र० \* इति च द्रष्टव्यम् । ‡ पा० सू० ५, २, १०७ ।

¶ बन्धन्यन्तर्गतग्रन्थोऽयं च-पुस्तकमात्रे विद्यते ।

‘तस्मात्’ एव पृथिवीमध्ये ‘अधोऽधः’ खनन्तः, पृथिव्या  
अन्तरधक्षात् समीपे ‘चरन्तः’ तद्रसास्वादनसम्बन्धिनि ‘यत्र’  
यत्स्थाने ‘रसं’ ‘विदुः’ जानन्ति, तत् स्थानं गत्वा ‘रसम्’  
उपजीव्य पांशून् बहिः ‘उत्किरन्ति’ उत्क्षिपन्ति । “कृ  
विक्षेपे”—इति \* धातुः । अत आखूत्करस्य पृथिवीरसत्वात्  
तेनैव ‘एनम्’ अग्निं समृद्धं करोति । प्रकारान्तरेण स्तीति —  
“पुरीष इतीति । ‘यः’ खलु ‘श्रियं’ सम्पदं ‘गच्छति’, ‘तं  
पुरीष इति’ लोका वर्णयन्ति । तत्रैवं पुरीषस्यैव श्रीप्राप्ति-  
हेतुता, करीषस्य किं मायात मित्यत आह — “समान मिति ।  
पुरीषकरीषशब्दावत्र सम.नार्थावित्यर्थः । अतः करीषसम्बन्धा-  
दग्निः श्रियं प्राप्नोति । तादृशस्याग्नेरवनीधाय करीषसम्भरणं  
कार्यं मित्यर्थः ॥ ७ ॥”

शर्कराणां रुम्भरणं विधत्ते—“अथ शर्करा इति ।  
मन्मिश्रिताः सूक्ष्मपाषाणाः शर्कराः । तेषां मधिश्रितानां  
दाढ्यहेतुत्वं मितिहासेन दर्शयति—“देवाश्च वा, इति ।  
देवासुरा उभये स्पृष्ट्वाश्चक्रिरे । देवासुरेषु युद्धाय कर्तोऽयमेषु  
तद्गयात् ‘पृथिवी अलेलायद्’ चाञ्चल्यं प्राप्नोति । तत्र दृष्टान्तं  
माह—“यथेति । ‘यथा’ जलस्योपरि ‘पुष्करपर्णम्’ इतस्ततः  
चञ्चलं भवति, ‘एवम्’ पृथिव्यपि इतस्ततः कम्पिता । ‘तां’  
तदवस्थां मापन्नां पृथिवीं ‘वातः’ वायुः पुष्करपर्णवद्वं ‘संवहति  
स्म’ । यथा दारुमयीं (नावं) कश्चित् परपारं नयति, स्थानात्  
स्थानान्तरं प्रापयति । ‘सा’ त्वेवं कम्पमाना पृथिवी उभय-  
विधानपि तान् ‘उपाजगाम’ ॥ ८ ॥

यदा च सा देवानवाप्नोत्, तदा तत्कृतं परिहारं दर्शयति — “तद्वोचुरिति । ‘प्रतिष्ठां’ प्रतिष्ठितां ‘हं हामहे’ दृढीकर-  
वामहे । ‘भ्रुवावां’ निश्चलायाम्, ‘अशिशिलायां’ दृढायाम् ।  
वाक्यार्थः स्पष्टः । ‘ततः’ तस्मात् अग्न्याधानात् ‘अस्यै’ अस्याः  
पृथिव्याः सकाशात् शत्रुभूतानसुरान् ‘निर्भक्ष्यामः’ निर्भक्तान्  
भागरहितान् कुर्यामित्यर्थः । इत्थं प्रतिज्ञायथाः ॥ ९ ॥

प्रतिज्ञातैः कृतं दर्शयति— “तद्यथेति । ‘यथा’ आर्द्रं  
‘चर्म’ भूमौ प्रसार्य ‘शङ्कुभिः’ परितो ‘विहृत्यात्’, ‘एवं’ ‘प्रतिष्ठां’  
सर्वप्राणस्यास्पदभूताम् ‘इमां’ पृथिवीं शर्कराभिः ‘पर्यवृंहन्त’  
परितः शर्करास्थापनेन दृढीकृतवन्तः । निगदसिद्ध  
मन्यद् ॥ १० ॥

एवं पुरावृत्तं सुदाहृत्यैतद्वदन्तेन, प्रकृतं मनुमन्यते —  
“तथो एवेति । उक्तार्थं शेतत् ॥ ११ ॥ •

विहितसम्भरणं मनुम्यं तत्कृद्धीपजीवनेन प्रगंसति —  
“तान् वा एतानिति । ‘तान्’ पूर्वोक्तान् ‘पञ्च सम्भारान्’  
‘सम्भरति’ । उदकहिरण्योपाखुकरीपशर्कराः पञ्च सम्भाराः ।  
‘पाङ्क्तो यज्ञ इति । पञ्चपदा पङ्क्तः \* ; ‘यज्ञ’ अपि  
धानाकरभ्रादिपञ्चहविष्क इति † पञ्चसङ्ख्यायोगात् ‘पाङ्क्तः’ ।  
अस्थिमज्जेतिपञ्चधातुमयत्वात् ‘पशुः’ अपि ‘पाङ्क्तः’ ‡ । संवत्सर-  
सम्बन्धिनः ऋतवः वसन्ताद्या अपि पञ्चसङ्ख्याकाः । हेमन्त-  
शिशिरयोः समासाभिप्रायं जेतत् । तथा चैतरेयकम् — “हेमन्त-  
शिशिरयोः समासेन” — इति ¶ ॥ १२ ॥

\* ऐ० ब्रा० ६, ४, ४ ; ५, ४, २ ।

† “धानाः, करम्भाः, परिव्रापः पुरोडाशाः, पयस्येति” ऐ० ब्रा० २, ३, ६

‡ ऐ० ब्रा० ६, ५, ३ ।

¶ ऐ० ब्रा० १, १, १ ।

तदेतत् पञ्चत्वं लोकप्रसिद्धिं विरुद्धं मित्यान्निपति— “तदाहु-  
रिति । हेमन्तशिशिरो हि पृथक्त्वेन लोके प्रसिद्धौ ; अतस्तयो-  
रेक्यं न युक्तं मितिर्भावः । परिहरति— “न्यून मिति । ‘तर्हि’  
तथा सति ऋतुषट्के मिथुनत्रयसम्पत्तिः ; षड्के तु तन्मिथुनत्रय  
मेकेन ‘न्यून’ भवति, तच्च प्रजननसाधनम् \* । अत्र लोक-  
प्रसिद्धि माह— “न्यूनादिति । स्त्रीपुंसयोर्वीर्यस्य परस्परन्यूनत्वे  
सति तस्मात् ‘न्यूनात्’ मियुनात् स्त्रीपुंससंलक्षणानि अपत्यानि  
‘जायन्ते’ । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ पञ्चसम्भारलक्षणेन यत् मिथुनस्य  
न्यूनत्वम्, ‘तत्’ ‘श्वः श्रेयसम्’, ‘श्वः’ परदिवसे श्रेयसो जनकम् ।  
“श्वसो वसीयः श्रेयसः”—इत्यच् समासान्तः † । तथा ‘उत्तरा-  
वत्’, ‘उत्तरा’ आगामिनी अभिवृद्धिः, तद्योपेत मित्यर्थः । एष  
ऋतूनां षट्केऽपि सम्भाराणां पञ्चसङ्ख्याकत्वं सुपपाद्याद्यापि  
न्यूनत्वं नाम कश्चित् जेष्ट इत्याशङ्क्य ‡ परिहरति— “यद्यु इति ।  
यदि षडृतुत्वं संवत्सरस्य सङ्ख्यास्ति, तर्हि एतेषां सम्भाराणां  
माधीयमानः ‘अग्निरेव’ ‘षष्ठः’ षट्सङ्ख्यापूरकः ॥ १३ ॥

असम्भार पञ्च माह— “तदाहु रिति । “एकञ्चनेति । एक  
मपीत्यर्थः । अत्रीपपत्ति माह— “अस्या मिति । आरोपित  
सर्वसम्भारभूतायां पृथिव्या माधानादेव तत्कार्यप्राप्तेर्न पृथक्  
सम्भारापेक्षेत्यर्थः । सम्भरणपञ्च मेव निगमयति— “तदु स  
मेवेति । “यदु सम्भारैरिति । ‘यत्’ खल्वाधाने सम्भृतैः ‘सम्भारैः’  
निष्पन्नं भवति, ‘तत्’ खल्वाधानं भवति ; सम्भारविरहे तु

\* ‘तच्चाप्रजननसाधनम्’—इति च ।

† पा० सू० ५, ५४, ८० ।

‡ ‘कश्चिन्मन्येतेत्याशङ्का’—इति च ।

तदाधान मेव न भवतीति कृतस्तस्य पृथिवीसम्बन्धवशात्  
सम्भरणप्राप्तिरित्यर्थः ॥ १४ ॥ १ ॥

इति श्रीसायणाचार्यवरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् )

कृत्तिकास्वग्नी ऽआदधीत । एता वा ऽअग्नि-  
नक्षत्रं यत्कृत्तिकास्तद्वै सलोम योऽग्निनक्षत्रेऽग्नी  
आदधातै तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत \* ॥ १ ॥

एकं द्वे त्रीणि । चत्वारितीति वा ऽअन्यानि  
नक्षत्राण्यथैता एव भृयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद्गुमान  
मेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥ २ ॥

एता ह वै प्राच्ये दिशो न च्यवन्ते । सर्वाणि  
ह वा ऽअन्यानि नक्षत्राणि प्राच्ये दिशश्च्यवन्ते तत्  
प्राच्या मेवास्त्रैतद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिका-  
स्वादधीत † ॥ ३ ॥

अथ यस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत । ऋक्षाणां ‡

\* 'दधीत'—इति ग, घ, ङ ।

† 'दधीत'—इति ग, घ, ङ ।

‡ 'ऋक्षाणां'—इति ग, घ, ङ ।

ह वा ऽएता अग्ने पुत्राः आसुः सप्तऽर्षीन् ह स्त्रा वै  
 पुरऽर्चा इत्यावक्षते ता मिथुनेन व्यार्ध्यन्तामी  
 ह्यतराहि सप्तऽर्षय उद्यन्ति पुर एता अश मिव वै  
 तद्यो मिथुनेन व्यृद्धः स जेन् मिथुनेन व्यृद्धा ऽद्विति  
 तस्मान्न कृत्तिकास्त्रादधीत ॥ ४ ॥

तद्वैव दधीत । अग्निर्वा ऽएतासां मिथुन मग्नि-  
 नैता मिथुनेन समृद्धास्तस्त्रादैव दधीत ॥ ५ ॥

रोहिण्या मग्नी ऽत्रादधीत । रोहिण्यां ह  
 वै प्रजापतिः प्रजाकामोऽग्नी ऽत्रादधे स प्रजा  
 असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तव्यास्तस्य  
 रोहिण्य इवैव तद्वै रोहिण्यै रोहिणीत्वं बहुर्हैव  
 प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान् रोहिण्या  
 माधत्ते ॥ ६ ॥

रोहिण्या मु ह वै पशवः । अग्नी ऽत्रादधिरे  
 मनुष्याणां कामं रोहिमेति ते मनुष्याणां काम  
 मरोहन् य मु हैव तत् पशवो मनुष्येषु काम मरोहन्तु  
 मु हैव पशुषु कामं रोहिति य एवं विद्वान् रोहिण्या  
 माधत्ते ॥ ७ ॥

सृगशीर्षेऽग्नी ऽत्रादधीत । एतद्वै प्रजापतेः

शिरो यन् मृगशीर्षं श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिर-  
स्तस्माद्योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्द्धस्य शिर-  
इत्याहुः श्रियं ह गच्छति य एवं विद्वान् मृगशीर्षं  
ऽआधत्ते ॥ ८ ॥

अथ यस्मान्न मृगशीर्षं ऽआदधीत । प्रजापतेर्वा  
एतच्छरीरं यत्र वा ऽएनं तद्विध्यंस्तदिषुष्ठा त्रिकाण्डे-  
नेत्याहुः स एतच्छरीर मजहाद्वास्तु वै शरीर मय-  
ज्ञियं निर्व्वीर्यं तस्मान्न मृगशीर्षं ऽआदधीत ॥ ९ ॥

तद्वैव दधीत । न वा ऽएतस्य देवस्य वास्तु  
नायज्ञियं न शरीर मस्ति यन् प्रजापतेस्तस्मादैव  
दधीत पुनर्व्वसोः पुनराधेय मादधीतेति ॥ १० ॥

फल्गुनीष्वग्नी ऽआदधीत । एता वा ऽइन्द्र-  
नक्षत्रं यत् फल्गुन्योऽप्यस्य प्रतिनाम्नोऽर्जुनो ह वै  
नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नामार्जुन्यो वै नामैतास्ता  
एतत् परोऽक्ष माचक्षते फल्गुन्य इति को ह्येतस्या-  
र्हति गुह्यं नाम ग्रंहीतु मिन्द्रो वै यजमानस्तस्त्वं ऽएवै-  
तन्नक्षत्रेऽग्नी आधत्त ऽइन्द्रो यज्ञस्य देवतैतेनो हास्ये-  
तरसेन्द्र मग्न्याधियं भवति पूर्व्वयोरादधीत पुरस्तात्  
क्रतुर्हेवास्त्रौ भवत्युत्तरयोरादधीत श्वःश्रेयसं हेवा-  
स्त्रा ऽउत्तरावद् भवति ॥ ११ ॥



हस्तेऽग्नीं ऽआदधीत । य इच्छेत् प्र मे दीये-  
तेति तद्वा ऽअनुष्टया यद्गस्तेन प्रदीयते प्र हैवाश्चै  
दीयते ॥ १२ ॥

चित्राया मग्नीं ऽआदधीत । देवाश्च वा असुरा-  
श्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे त उभय एवामुं  
लोकं समासुरुच्चाञ्चक्रुर्दिव मेव ततोऽसुरा रौहिण  
मित्यग्निं चिक्षिरेऽग्नेनामुं लोकं समारीक्ष्याम  
इति ॥ १३ ॥

इन्द्रो ह वा ऽईचाञ्चक्रे । इमं चेहाऽइमे चिन्वते  
त एव नोऽभिभवन्तीति सु ब्राह्मणो ब्रुवाण  
एकेष्टकां प्रवध्येयाय \* ॥ १४ ॥

स होवाच । हुन्ताह मिमा मप्युपद्धा ऽइति  
तथेति ता मुपाधत्त तेषा मल्पका देवाग्निरुसञ्चित  
आस ॥ १५ ॥

अथ होवाच । अन्वा ऽअहं तां दास्ये या ममे-  
हेति ता मभिपद्या बवर्ह † तस्या मावृढाया मग्नि-  
र्व्यवशशादारग्नेर्व्यवशाद् मन्वसुरा व्यवशेदुः स ता  
एवेष्टका वज्रान् कृत्वा गीवाः प्रेचिच्छेद ॥ १६ ॥

ते ह देवाः समेत्योचुः । चिचं वा ऽअभूम य

\* 'प्रवध्येयाय' - इति ग घ ।

† 'बवर्ह' - इति क, ख ।

ऽद्रयतः सपत्नानुबधिष्तेति तद्वै चित्रायै चित्रात्वं\*  
 चित्रं ह भवति हन्ति सपत्नान् हन्ति द्विषन्तं  
 भ्रातृव्यं य एवं विद्वांसिचित्राया माधत्ते तस्मादेतत्  
 क्षत्रिय एव नक्षत्र मुपेत्यंज्जिघांसतीव क्षेष सपत्नान्  
 वीव जिगीषते ॥ १७ ॥

वाना ह वा ऽएतान्यये क्षत्राण्यासुः । यथैवासी  
 सूर्य्यं एवं तेषा मेष उद्यन्नेष वीर्य्यं क्षत्र मादत्त  
 तस्मादादित्यो नाम यदेषां वीर्य्यं क्षत्र मादत्त ॥१८॥

ते ह देवा ऊचुः । यानि वै तानि क्षत्राण्य-  
 भूवन् न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निदि तद्वै नक्षत्राणां  
 नक्षत्रत्वं तस्माद् सूर्य्यनक्षत्र ऽएव स्यादेष क्षेषां वीर्य्यं  
 क्षत्र मादत्त यद्यु नक्षत्रकामः स्यादेतदा ऽश्नुनपराहं  
 नक्षत्रं यत् सूर्य्यः स एतेनैव पुण्याहेन यदेतेषां नक्ष-  
 त्राणां कामयेत तदुपेत्यंत्तस्माद् सूर्य्यनक्षत्र ऽएव  
 स्यात् ॥ १९ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [१. २] ॥

कर्मणः कालसापेक्षत्वात् साधानस्य नक्षत्रं † विधत्ते—  
 “कृत्तिकास्त्रित्यादिना । ‘अग्नी’ गार्हपत्याहवनीयावित्यर्थः ।

\* ‘चित्रात्वं’—ग, घ ।

† ‘नक्षत्राणि’— इति च ।

अग्निदेवताकत्वाद्ग्निनक्षत्रं कृत्तिकाख्यम् । त्र्युयते हि—  
 “कृत्तिकामक्षत्रं मग्निदेवतेति \* । तस्मिन्नग्निनक्षत्रेऽग्न्याधानं  
 ‘सलोम’ सदृशं, योग्य मिति यावत् ॥ १ ॥

अथैतस्य नक्षत्रस्य बहुत्वोपजीवनेन प्रशंसति—“एक  
 मिति । कृत्तिकातः ‘अन्यानि नक्षत्राणि’ एक-द्वि-त्रि-चतुः-  
 सङ्ख्याकाधिष्ठानान्यल्पीयांसि, कृत्तिकास्तु षट्सङ्ख्याधिष्ठानयोगात्  
 ‘भूयिष्ठाः’ बहुतराः । तत्राद्रीदीनाम् ‘एकम्’ अधिष्ठानम्,  
 फल्गुन्यादीनां ‘द्वे’, अश्विन्यादीनां ‘त्रीणि’, पुनर्वसादीनां  
 ‘चत्वारि’ । ‘तत्’ तस्मात्, एभ्यो भूयिष्ठनक्षत्राधानात् यज-  
 मानोऽपि ‘भूमानं’ बहुत्व मेवोपगच्छतीत्यर्थः ॥ २ ॥

नियतदिक्सम्बन्धवशेनेताः प्रशंसति—“एता इ वा इति ।  
 ‘प्राच्ये’ प्राच्याः ‘दिग्ः’ सकाशात् ‘न च्यवन्ते’ दक्षिणत उत्तरतो  
 वा विक्षेपवशात् न चलन्ति, किन्तु नियमेन शङ्खप्राच्या मेवो-  
 च्यन्ति; ‘अन्यानि’ तु ‘नक्षत्राणि’ प्राचीदिग्भागाद् दक्षिणत  
 उत्तरतो वा विक्षेपवशात् चलन्ति, प्राचीदिग्भागाद् दक्षिणत  
 उत्तरतश्च नियमेन परिवर्तन्ते । “तत् प्राच्या मित्यादि ।  
 निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

कृत्तिकास्वाधानपक्षं मिथुनवृद्धिहेतुत्वान्निषेधति—“अथ  
 यस्मादिति । ‘यस्माद्’ वक्ष्यमाणदोषोऽस्ति, तस्मात् ‘कृत्तिकासु  
 न आदधीत’ । कोऽसी दोषः ? त मुपन्यस्यति—“ऋक्षाणां  
 हेति । ऋक्षशब्दार्थं माह—“सप्तर्षीनि । ‘ऋचं’ नक्षत्रम्;  
 तद्रूपेणावस्थानात् । इह ‘ऋचं’-शब्देन सप्तर्षयोऽभिधेयन्ते । “पुर

\* ‘एतदा अग्नेर्नक्षत्रं यत् कृत्तिकाः’— इति दे० ब्रा० १. १. २. १ ।

ऋक्षा इति \* प्रकृतिभावो ऋक्षस्य† । 'व्यार्धन्त' विगतर्द्धिका  
 अभवन् । व्यृद्धि मेव‡ देशभेदोदयेन स्पष्टयति—“अमी हीति ।  
 'अमी' खलु 'समर्षयः' 'उत्तराहि' । “आहि च दूरे”—इति §  
 आहिप्रत्ययः । दूरदेशे उत्तरदिग्भागे 'उद्यन्ति' । 'एताः  
 क्तिकाः 'पुरः' पूर्वस्यां दिशि । अत एव तासां विभिन्नदेशा-  
 वस्थानेन ¶ पुरुषसम्भोगविरहात् मिथुनवृद्धिः । तद्यासमीचीन  
 मित्याह—\*अथ मिव वै तदिति । अतः क्तिकास्वाधानं  
 कुर्वन्नपि तदत् मिथुनेन व्यृद्धयते, अतो 'न इत्' नैवाहं 'मिथुनेन'  
 'वृद्धैः' व्यृद्धो भवानीत्यभिप्रेत्य तत्र नादधातीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैतद्दोषं परिहरन्नाधानपक्ष मेव निगमयति—“तद्व-  
 वेति । 'तत् उ आ एव' तस्मिन्नपि नक्षत्रे आदधीतैव ।  
 “अग्निर्वा इत्यादि, स्पष्टम् ॥ ५ ॥

नक्षत्रान्तरं विधाय प्रशंसति—“रोहिण्य मिति । 'आदधे'  
 आधानं कृतवान् । 'उपस्तब्धाः' प्रतिबद्धगतयोः ॥ विनाश-  
 रहिताः पुत्रपौत्रादिरूपेणैकरूपा अविच्छिन्नप्रवाहाः 'तस्थुः'  
 स्थितवत्यः \*\* । तासु 'रोहिण्यः' स्वर्गादिलोकारोहणसाधन-  
 मूता इति स्थिताः †† । एतदुपजीवनेन नामनिर्वचनं करोति—  
 “तदा इति । स्पष्टार्थं मन्यत् ॥ ६ ॥

रोहिण्याधानं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“रोहिण्या मु हेति ।

\* पुराः चर्चा इत्येव पाठो दृश्यते मूलपुस्तकेषु ।

† पा० ६. १. १२० सूत्रं दृष्टव्यम् । ‡ 'वृद्धि मिव'— इति च ।

§ पा० सू० ५. ३. ३७. ।

¶ 'अत एवातीवसम्भिन्नदेशावस्थानेन'— इति च ।

॥ 'प्रतिबद्धजातयो'— इति च । \*\* 'स्थितवन्तः'— इति च ।

†† 'साधना इति'— इति च ।

मनुष्याणां कामं रोहेमेति । 'मनुष्याणां' 'कामः' भोग्यवस्तु-  
विषयः, तत्पूरणसामर्थ्ययोग्येन तं प्राप्नुयामेत्यर्थः । "यं मु-  
ह्येवेति । रोहिष्याधानेन काम्यमानं भोग्यवस्तुजातं पूरण-  
सामर्थ्यायोगात् 'मनुष्येषु' अवस्थितं 'यं मु' यं मेव 'कामं'  
प्राप्नुवन्, 'तम्' एव 'पशुषु' अवस्थितं रोहिष्या माधानतः  
प्राप्नोति \* । एतं मेव सर्वे जना उपजीव्यत्वेन कामयन्त इति  
भावः ॥ ७ ॥

नक्षत्रान्तरं विधाय प्रशंसति— "सृगशीर्षं इति । पुरा  
खलु प्रजापतिः सृगरूपं † मास्थाय सृगीभूतां खदुहितरं मघ्या-  
गमत् ‡ । "एतद्वा इति । एतत् ज्ञात्वा चकार्यकारिणः  
प्रजापतेः शिरः छेत्तुं देवाः कञ्चित् क्रोधमयं पुत्रधं निर्माय  
प्रत्यतिष्ठन् । स चेष्टुषा तस्य शिरश्चिच्छेद । तच्च सृग-  
शरीरं मिषुच्छिन्नशिरश्चेत्येतदुभय § मन्तरिच मुत्प्लुत्य नक्षत्रात्म-  
नावस्थितं सन्दृश्यते । तथा चैतरेयकम्— "प्रजापतिर्वै स्वां  
दुहितरं सम्यध्यायत्"—इत्युपक्रम्य "सो एवेषुस्त्रिकाण्डा"—इत्यन्ते-  
नायं मर्थः प्रतिपादितः ¶ । ईदृशी श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरण 'वै'-  
शब्देन द्योत्यते ॥ । "श्रीर्वैशिर इत्यादि । व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

तदेतच्चसृगशीर्षाधानं निषेधति— 'अथ यस्मान्नेति । सृग-  
शीर्षाधानं न कार्यम्, अत्र हेतुः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । कोऽसौ  
हेतुः ? तं माह— "प्रजापतेरिति । सृगशीर्षाख्यस्य नक्षत्रस्य

\* "यो रोहिष्या मणि माधत्ते, ऋधोत्येव"— इति तै० ब्रा० १.१.२.२ ।

† 'कण्ठगुरु'— इति च ।

‡ 'मेवोपागमत्'— इति च ।

§ 'इषुः शिरश्चेत्येतदुभय'— इति च ।

¶ ऐ० ब्रा० ३. ३. ६ ।

प्रजापतिशरीरत्व माह— 'यत्न' यस्मिन् समये 'एनं' प्रजापतिं  
 सृगरूपम्, \* 'तत्' तेन स्वदुहितृगमनरूपेण दोषेण हेतुना  
 देवाः 'अविध्यन्', 'तत्' तदानीं पत्रदारुग्रन्थरूपावयव-  
 त्रयोपेतेन † 'इषुषा' खलु तच्छिरश्छिन्नम् ‡ 'इत्याहुः' ब्रह्मवा-  
 दिनः । 'सः' च प्रजापतिस्तदानीम् 'एतच्छरीरम्' त्यक्तवान् । अतो  
 निरात्मकत्वात् 'निर्वीर्यं' नक्षत्रात्मनावस्थितं सृगशिरः 'वास्तु'  
 शून्यस्थानम् । यत् एवात्मना त्यक्तम्, अत एव 'शरीरं' विशरण-  
 शीलम्; अतएव च 'अयन्नियं' यन्नानर्हम्, न हि सृगशरीरस्य  
 यन्नात्मत्वं सम्भवति । 'तस्मात्' तदात्मके सृगशीर्षास्थे नक्षत्रे  
 आधानं न युक्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥

इमं दोषं परिहरन् प्रागुक्तं मेव पक्षं निगमयति—  
 "तद्वैवेति । "देवस्येति । मनुष्येण त्यक्तस्य वास्वादिरूपत्वम्,  
 अयं हि प्रजापतिर्देवः, तेन त्यक्तस्य तत्त्वाभावात् वास्वादि-  
 रूपो दोषो नास्ति; सृगरूपस्य शिरः स्वमहिम्नैव नक्षत्र-  
 रूपत्वं सम्पन्नम्, न खलु मानुषं शिरस्तथा भवितुमर्हति ।  
 तस्मात् तदाधाने नोक्तदोष इत्यर्थः ॥

पुनर्वस्त्रादास्य नक्षत्रस्य क्षिप्रवशात् पुनराधेय-विषयता  
 माह— "पुनर्वस्त्रोरिति । आहितानां मध्यगनीनां पुनर्वस्त्रा-  
 भिन्नवशादाधानं पुनराधेयम् § । नक्षत्रं चैतत् नष्टस्य वसुणः

\* 'क्षान्दसृगरूपम्'—इति च ।

† " 'त्रिकाण्डा' अनीकं, प्राण्यः, तेजस मित्यवयवत्रयोपेता"— इति  
 रे० ब्रा० ३. ३. ६, सा० भा० । ‡ 'श्चिन्नति'—इति छ. ज ।

§ 'पुनराधेय माधानाप्रतिज्ञास्य'— इत्यादीनि सूत्राणि द्रष्टव्यानि  
 ( का० श्रौ० सू० ११. १.—१५. ) ।

पुनःप्राप्तिहेतुत्वात् पुनर्वस्वाख्यम् † । तथाच तैत्तिरीयके स्पष्ट  
मान्नातम्—“स पुनर्वस्वोरग्नि मादधीत, पुनरेवेनं वामं  
वसूपावर्त्तते”—इति † ॥ १० ॥

“फलगुनीष्वग्नी इति । पूर्वोत्तरफलगुन्याख्ययोर्नक्षत्रयोः  
प्रत्येक मधिष्ठानद्वित्वयोगात् द्वित्वम् । फलगुनीनामोपजीवनेन  
प्रशंसति—“एता वा इति । कथं मस्य नक्षत्रस्येन्द्रसम्बन्ध इत्यत  
आह—“अप्यस्येति । ‘अस्य’ इन्द्रस्य प्रतिनिधिभूताः फलगुन्यः  
सम्भाव्यते । ‘अपि’ सम्भावनार्थः । प्रतिनिधित्वं च समान-  
शब्दाभिधेयत्वादित्याह—“अर्जुनो ह्येति । ‘अर्जुनः’ इति  
हि इन्द्रस्य रक्षस्यं नाम ; अत एव खलु तत्पुत्रे पाण्डुमध्यमे  
प्रवृत्तिः । अर्जुनफलगुनशब्दौ च पर्यायी ; अर्जुनः फलगुनः  
पार्थ इति समानार्थपरिगणनात् । ‘अर्जुन्यः’ एव ‘एताः’,  
पारोक्ष्येण ‘फलगुन्य इति’ उच्यन्ते । न तु किं पारोक्ष्येणेत्यत  
आह—“कोऽर्हतीति । अतः फलगुनीशब्दस्य परम्परयेन्द्रीप-  
लक्षकत्वात् तन्नामकं नक्षत्रम् । “इन्द्रो वा इत्यादि, स्पष्टम् ।  
फलगुनीषु पूर्वोत्तरत्वमुपजीव्य हित माधानं प्रशंसति—  
“पूर्वयोरित्यादिना ‡ । “पुरस्तात् क्रतुरिति । पूर्वस्मिन्ना-  
गामिनि कालेऽग्निष्टोमादिलक्षणः ‘क्रतुः’ शीघ्रं सिद्धयतीत्यर्थः ।  
“श्वःश्रेयस मित्यादि । उक्तार्थम् § ॥ ११ ॥

\* ‘पुनर्वस्वोः’—इति का० श्रौ० सू० ४. ११. ५ ।

† तै० ब्रा० १. १. २. ३ ।

‡ “पूर्वयोः फलगुन्योरग्नि मादधीत”—इत्यादि, “उत्तरयोः फलगुन्यो-  
रग्नि मादधीत”—इत्यादि च तै० ब्रा० १. १. २. ४ ।

§ “कृत्तिकारोद्विष्णीव्यगशिरःफलगुनीषु”— इति का०श्रौ०सू० ४. ७. २ ।

“हस्तेऽग्नीत्यादि । निगदसिद्धम् । स्वहस्तेन ‘यत्’ खलु दानम्, ‘तद्’ एव ‘अनुष्ठा’ अनुष्ठामेन समीचीनम् । अतो हस्तनक्षत्रे अन्याधानात् परकर्तृकं हस्तेन दानं प्राप्नोतीति तात्पर्यार्थः \* ॥ १२ ॥

“विज्ञाया मित्यादि । “भारुक्ष्णाञ्जुरिति । भारोदु मिच्छां कृतवन्त इत्यर्थः । अमु मिति ‘अदस्’-शब्देन पारोक्ष्येण यो लोको निर्दिष्टः, तं विशिनष्टि— “दिव मेवेति । ‘ततः’ अनन्तरम् ‘असुराः’ ‘रौहिण मिति’ एतन्नामकं रोक्ष्यसाधनम् ‘अग्निं’ ‘चिक्वे’ । व्यत्ययेनैकवचनम्, † ‘चिक्विरे’ चितवन्तः । “अनेनेत्यादि । अष्टम् ॥ १३ ॥

“इन्द्रो हेति । “इमं चेत्यादि । यम् ‘इमम्’ अग्निं वयं चेष्यामः, इम मेव चेदसुरा अपि चिन्वीरन्, ‘ततः’ तस्मात् ‘एव’ साधनात् ‘नः’ अस्मान् ‘अभिभवन्ति’ असुराः, अभिभवितुं समर्था भवन्ति । ‘इति’ विचार्य, ‘सः’ इन्द्रः ‘ब्राह्मणः’ भूत्वा असुरद्वितं भुवाण एव ‘एका मिष्टकां’ ‘प्रबध्य’ गृहीत्वा ‘द्वयाय’ जगाम ॥ १४ ॥

“स ह्योवाचेति । गत्वा च तान् असुरान् ‘उवाच’ । ‘अहम्’ अपि ‘इमाम्’ इष्टकां भवदीयेऽग्नी ‘उपदधै’ उपधानं करवाणि ‘इति’ । ‘तथा इति’ तैरनुज्ञातः, ‘ताम्’ इष्टकां तत्र ‘आधत्त’ । अन्यदीये चयने अन्यदीयेष्टकोपधान मशास्त्रीयमित्येतस्मात् ‘अल्पकादेव’ श्रेषात् ‡ ‘तेषाम्’ असुराणाम् ‘अग्निः’ असम्यक् चितो विकल्पो ब्रूव ॥ १५ ॥

\* “हस्तो लाभकामस्य”— इति का० श्रौ सू० ४. ७. ३ ।

† पा० सू० १. ४. ६ । ‡ ‘अग्ने भंशो यथोचितात्’— इत्यमरः २. ८. २३ ।



‘अथ होवाचेति । ‘अथ’ कालान्तरे स एव ब्राह्मणरूप इन्द्रः तानसुरान् ‘उवाच’ । ‘इह’ अस्मिन् चित्तप्रदेशे ‘या’ ‘मम’ इष्टका, ‘ताम्’ ‘आदास्ये’ इत्युक्त्वा तत्समीप मभिप्राष्य, ‘ताम्’ इष्टकाम् ‘आववर्ह’ \* उवाचाम्, तस्मात् स्थानादचालय-  
दित्यर्थः । “इह उद्यमने”—इति ण धातुः । ‘तस्यां’ चेटकायां  
चित्त्वान्तेः सकाशाच्चालितायां सत्यां, सः ‘अग्निः’ ‘व्यवशसाद’कं  
विशीर्षो बभूव । तदनन्तरं तच्चेतारः ‘असुराः’ च ‘व्यवशेदुः’‡  
व्यवससाः १ शिथिला बभूवुः । “स ता इत्यादि स्पष्टम् । “ग्रीवा  
इति । असुरसम्बन्धिनीः ॥ १६ ॥

“ते ह देवा इति । चित्राख्येष्टका । अस्या एव चित्र-  
हेतुत्वात् ‘चित्रा’ नाम सम्भव मित्यर्थः । “चित्रं हेत्यादि निगद-  
सिद्धम् । “तस्मादेतदित्यादि । यस्मादुत्तरीत्या चित्रा-  
नक्षत्रस्य शत्रुघ्ननमाधनत्वम्, ‘तस्मात्’ आधाने ‘क्षत्रिय एव’  
‘एतत्’ नक्षत्रं (‘उपेक्षेत्’) स्वीकुर्यात् ॥ । तत्र कारण माह—  
“जिघांसतीवेति । ‘एषः’ खलु क्षत्रियः अन्याम् शत्रून्  
‘जिघांसति’ इत्यु मिक्षति ‘इव’, तथा ‘विजिगीषने’ ‘इव’ विजेतु  
मिक्षतीव । तस्माच्छत्रुघ्ननकामस्य क्षत्रियस्यैवैतन्नक्षत्रम्,  
नान्यस्येत्यर्थः \* ॥ १० ॥

\*—‘आववर्ह’—इति, ‘इह’—इति च ह—पठौ, मतान्तरेऽस्ति  
चेष्ट धातुरन्वस्यपूर्वोऽपि । ‡ ‘व्यवशसाद’— इति ह ।

§—१ ‘व्यवशेदुः’— इति च । ‘व्यवशसाः’— इति ह, ज ।

॥ “स चित्राया मयि मादधीत”— इत्यादि ते० ब्रा० १. १. २. ६ ।

\*\* “चित्रायां क्षत्रियस्य”— इति का० श्रौ० सू० ४. ७. ४ ।

सूर्येणापहृतवीर्याणि कृत्तिकादिनक्षत्राण्यनादृत्य तेजस्विनि सूर्यात्मके नक्षत्रे उद्यति सति आधानं कार्यं मित्याह—“नाना ह वा इति । पुरा खलु कृत्तिकादिनक्षत्रमण्डलानि सूर्यमण्डलवत् तेजस्विन्येव बभूवुः । ‘एषः’ खलु ‘सूर्यः’ ‘उद्यन्’ क्षत्रं तेजः सामर्थ्यं च उदय माप्नुवन् ‘एव’ तेषां’ वीर्यं ‘आदत्ते’ स्वीकृतवान् । ‘तस्मात्’ आदानात् ‘आदित्यः’ इति उच्यते ॥ १८ ॥

नक्षत्रनामधेयं निर्वक्ति—“ते हेति । ‘यानि’ खलु पुरा ‘क्षत्राणि’ ‘अभूवन्’, ‘तानि’ इदानीं सूर्येण क्षत्रगुणस्यापहृतत्वात्, न विद्यते क्षत्र मेषा मिति व्युत्पत्त्या ‘नक्षत्राणि’ सम्पन्नानीत्यर्थः । यस्मादेवं कृत्तिकादीन्यपहृतवीर्याणि, ‘तस्मात्’ एव कारणात् सूर्यात्मके ‘एव’ तेजस्विनि नक्षत्रे आधानं स्यात् \* । तत्र हेतु माह—“एष हीति । ‘हि’ यस्मात् ‘एषः’ सूर्यः ‘एषां’ नक्षत्राणां वीर्यादिकम् ‘आदत्ते’, तस्मात् सवीर्यं तस्मिन्नाधानं युज्यत इत्यर्थः । यदि च यजमानः तत्तत्पूजार्थं नक्षत्रकामः स्यात्, तदानीं मपि सूर्यात्मक मेव नक्षत्रं सुपाददीतेत्याह—“एतद्वा इति । ‘अनपराहम्’—इति हेतुगर्भविशेषणम् । यतस्तेजोवियोगलक्षणापराधरहितम्, अतस्तदेव सूर्यात्मकं नक्षत्रं कामयेतित्यर्थः । तेन कृत्स्ननक्षत्राणां प्राप्ति माह—“स एतेनैवेति । ‘एतेनैव’ सूर्येणोद्यता पुण्यकामात्मना

\* सूर्यो नक्षत्रं कालोपलक्ष्यं यस्य सोऽयं सूर्यनक्षत्रः ; सूर्यापेक्षिते एव काले आर्द्धीत, न नक्षत्रोपलक्षिते इत्यर्थः । कथं तत् सूर्यकालं लक्षयति ? उदगयनम्—इत्याद्याहृहृ हरिस्वामी ।

कृत्स्ननक्षत्रेऽप्याधानफलं सुपगच्छेत् । 'तस्मात्' सूर्यात्मके  
एव नक्षत्रे उद्यति सति आधानं स्यात्, न रात्रा-  
वित्यर्थः \* ॥ १६ ॥ २ ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* (१) "अग्नेः कृत्तिकाः ०००। (२) प्रजापते रोहिणी ०००।  
३) सोमस्येन्वका [ ऋगग्निराः ] ०००। (४) रुद्रस्य वाहू [ व्याद्री ]  
०००। (५) अदित्ये पुनर्वसू ०००। (६) बृहस्पते स्तिष्यः [ पुष्यः ]  
०००। (७) सर्पाणा मञ्जुषाः ०००। (८) पितृणां मघाः ०००।  
(९) अर्यमणः पूर्वे फल्गुनी ०००। (१०) भगस्योत्तरे ०००।  
(११) देवस्य सवितुर्हस्तः ०००। (१२) इन्द्रस्य चित्रा ०००। (१३) वायो-  
निष्ठा [ स्वाती ] ०००। (१४) इन्द्राग्नयोर्विशाखे ०००। (१५) मित्र-  
स्यानूराधाः ०००। (१६) इन्द्रस्य रोहिणी [ ज्येष्ठा ] ०००। (१७) निर्ऋत्ये  
मूलवर्हिणी ०००। (१८) अर्षा पूर्वाषाढाः ०००। (१९) विश्वेषां देवानां  
मुत्तराः ०००। (२०) विष्णोः श्रौणा [ श्रवणा ] ०००। (२१) वसूनां  
श्रविष्ठाः [ धनिष्ठाः ] ०००। (२२) इन्द्रस्य शतभिषक् ०००।  
(२३) अजस्यैकपदः पूर्वे प्रोष्ठपदाः ०००। (२४) अह्वेबुधियस्योत्तरे  
०००। (२५) पूषो रेवती ०००। (२६) अश्विनोरश्वयुजौ ०००।  
(२७) यमस्यापभरणीः ०००।— "इति तै० ब्रा० १. ५. १ अ०। ततो-  
ऽग्रे २अ०— (२८) "अभिजिन्नाम नक्षत्रं सुपरिष्ठादषाढानां मघस्ताच्छ्रो-  
णायै"—इत्यादि उत्तराषाढानक्षत्रस्य यच्चतुर्थः पादः, श्रवणनक्षत्रस्य  
च यः प्रथमः पादः, तदुभयं मिलित्वा नक्षत्रसन्धिरूपं अभिजिदास्त्रं किञ्चि-  
न्नक्षत्रम्— इति च तत्र सा०। अत्र च "कृत्तिकाः प्रथमं विशाखे  
उत्तमम्, तानि (१—१४) देवनक्षत्राणि; अनूराधाः प्रथमं मघभरणी-

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम्. )

व्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः \* । ते देवा ऋतवः शर-  
 ह्वेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स  
 देवा योऽपचीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः  
 पितरः पुनरङ्गः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ॥१॥

ते वा ऽएत ऽऋतवः । देवाः पितरः स यो हैवं  
 विद्वान् देवाः पितर इति ह्वयत्या हास्य देवा  
 देवह्वयं गच्छन्त्या पितरः पितृह्वय भवन्ति हैनं देवा  
 देवह्वयेऽवन्ति पितरः पितृह्वये य एवं विद्वान् देवाः  
 पितर इति ह्वयति ॥ २ ॥

स यत्रोदङ्ङावर्त्तते† । देवेषु तर्हि भवति‡ देवां-  
 स्तुर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्त्तते पितृषु तर्हि  
 भवति पितृस्तुर्ह्यभिगोपायति ॥ ३ ॥

स यत्रोदङ्ङावर्त्तते§ । तुर्ह्यग्नी ऽआदधीतापहत-

रुत्तमम्, तानि ( १५-२८ ) यमनक्षत्राणि । यानि देवनक्षत्राणि, तानि  
 दक्षिणेन परियन्ति ; यानि यमनक्षत्राणि, तान्युत्तरेण । ००० । यान्येव  
 देवनक्षत्राणि, तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात् ; पुण्याच्च एव कुरुते—इति च  
 तत्रैव तत उत्तरम् । \* 'वर्षाः'—इति ग, घ ।

†, § 'दङ्गावर्त्तते'—इति क । 'दगावर्त्तते'—इति ग, घ ।

‡ 'भवति'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

पाप्मानो देवा अप पाप्मानः हतेऽमृता देवा  
 नामृतत्वस्याशास्ति सर्वं मायुरेति यस्तर्ह्याधत्तेऽथ  
 यत्र दक्षिणावर्त्तते यस्तर्ह्याधत्तेऽनपहतपाप्मानः  
 पितरो न पाप्मान मपहते मर्त्याः पितरः पुरा  
 हायुषो म्रियते यस्तर्ह्याधत्ते ॥ ४ ॥

ब्रह्मैव व्वसन्तः । क्षत्रं ग्रीष्मो व्विडेव व्वर्षा-  
 स्तस्माद् ब्राह्मणो व्वसन्तऽआदधीत ब्रह्म हि व्वसन्त-  
 स्तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्मऽआदधीत क्षत्रं हि ग्रीष्म-  
 स्तस्माद्गैश्य व्वर्षास्वादधीत व्विड् व्वर्षाः ॥ ५ ॥

स यः कामयेत । ब्रह्मवर्चसी स्या मिति व्वसन्ते  
 स आदधीत ब्रह्म वै व्वसन्ती ब्रह्मवर्चसी हैव  
 भवति ॥ ६ ॥

अथ यः कामयेत । क्षत्रं श्रिया यशसा स्या मिति  
 ग्रीष्मो स आदधीत क्षत्रं वै ग्रीष्मः क्षत्रं हैव श्रिया  
 यशसा भवति ॥ ७ ॥

अथ यः कामयेत । बहुः प्रजया पशुभिः  
 स्या मिति व्वर्षासु स आदधीत व्विड् वै व्वर्षा अन्नं  
 विशो बहुहैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं व्विद्वान्  
 वर्षास्वाधत्ते ॥ ८ ॥

ते वा ऽएत ऽऋतवः । उभय ऽएवापहतपाप्मानः  
 मूर्य एवैषां पाप्मनोऽपहन्तोद्यन्नेवैषा मुभयेषां पाप्-  
 मान मुपहन्ति तच्छाद्यदैवैनं कदा च यज्ञु ऽउपनुमे-  
 द्ध्याग्नी ऽआदधीत नु श्वःश्व मुपासीत को हि मनु-  
 प्यस्य श्वो व्वेद ॥ ८ ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [१,३.] ॥

अथाधानस्य वसन्ताद्यृतुविध्यर्थं सत्वादीनां देवपित्रात्मना  
 द्वेषा विभाग माह— “वसन्त इत्यादिना । वसन्ताद्यृतुसमये  
 देवानां सूर्यदर्शनादहर्भवतीति तेषां तादात्म्यम् ; शरदादीनां  
 तद्द्वैलक्षण्यात् पितृरूपत्वम् । “य एवापर्यते”—इत्यादि, निगद-  
 सिद्धम् ॥ १ ॥

“ते वा एत ऋतव इति । “स यो हैवं विद्वानित्यादि ।  
 एव ऋतूनां देवत्वं पितृत्वं च ‘विद्वान्’ तान् ऋतून् ‘देवाः  
 पितरः’ ‘इति’ ‘द्वयति’ व्यवहरेदित्यर्थः । तस्य फल माह—  
 “आ हास्येति । ‘अस्य’ आह्नातुः ‘देवहूयं देवाह्वानं प्रति देवा  
 आगच्छन्ति, तथा ‘पितृहूयं’ पितृक माह्वानं प्रति पितरोऽप्या-  
 गच्छन्ति । आगताश्च ते स्वसम्बन्धे कर्मणि ‘एनम्’ आह्नाता-  
 रम् ‘अवति’ इत्यर्थः ॥ २ ॥

आधानस्योदगयनं कालं विधित्सुर्हयोरप्यनयोर्देवपितृ-  
 सम्बन्धं क्रमेणाह— “स यत्वेति । ‘सः’ सूर्यो यस्मिन् काले  
 दक्षिणगोलादुत्तरगोलं प्रति ‘उदङ्’ पर्यावर्तते, ‘तर्हि’ तदा,  
 तस्मिन् समये मेरोरुपरिभागेऽवस्थितानां देवानां स दृष्टि-

गोचरो भवतीति तेषु उदङ् 'द्वेषु' प्रकाशो भवतीति । 'अथ'  
'यत्र' यस्मिन् काले पुनरुत्तरगोलाद् दक्षिणगोलं पर्यावर्त्तते,  
तदा दक्षिणदिगवस्थितस्य प्रकाशः, स तु तेषु 'पिटषु'  
भवति ॥ ३ ॥

एव मुत्तरायणे दक्षिणायने च देवपिटसम्बन्ध मभिधाय,  
तत्सम्बद्ध माधान मपि तत्रैव कार्यं मिति विधत्ते—“स यत्रेति ।  
“अपहृतपाप्मान इति । देवानां पापराहित्यात् मरणधर्मराहि-  
त्याच्च तत्सम्बन्धिन्ययनेऽग्न्याधानकारिणोऽपि तदुभयं सिद्धती-  
त्यर्थः । दक्षिणायने आधातुरुक्तवैपरीत्य माह—“अथ यत्रेति ॥४॥

एव मुदगयनं विधाय तत्रापि ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानुसारेण  
ऋतुव्यवस्थां करोति—“ब्रह्मैव वसन्त इत्यादिना । वसन्ताद्या  
ऋतवः जात्या ब्रह्मक्षत्राद्यात्मकाः, अतस्तेषां क्रमेण तत्तज्जात्या-  
धानकालत्वम् \* ॥ ५ ॥

एवं नित्यपक्ष मभिधाय काम्यपक्ष माह—“स य इति ।  
“ब्रह्मवर्चसी हैवेति । ब्राह्मणजात्यात्मके वसन्ते आधानात्  
क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणतेजस्सम्पन्नो भवतीत्यर्थः । एव मुत्तर-  
त्रापि योज्यम् ॥ ६ ॥

“अथ यः कामयेति । “क्षत्रं श्रियेति । क्षत्रियजाते-  
रपि 'श्रिया' सम्पदा कीर्त्या च क्षत्रात्मकः स्या मिति कामय-  
मानस्य ब्राह्मणादिः शीघ्र आधानकाल इत्यर्थः ॥ ७ ॥

\* “वसन्तो ब्राह्मण-ब्रह्मवर्चसकामयोः, शीघ्रः क्षत्रिय-श्रीकामयोः,  
वर्षाः प्रजापशुकाम-वैश्वरथकृताम्”—इति का० श्रौ० सू० ४. ७. ५,  
६, ७ । “शिश्निरः सार्ववर्षिकः”— इति च प्राखान्तरम् ।

“अथ यः कामयेतेति । बहुप्रजापखादिसृष्टिकामस्य  
वैश्यस्यापि तरुफलप्राप्तये वर्षास्वाधानं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एव मयनविशेषं मृतुविशेषं चाभिधाय पक्षान्तरं च वक्तुं  
सर्वेषां मप्यृतूनां पापसम्बन्धराहित्यं माह — “ते वा एत इति ।  
“उभय एवेति । देवपितृसम्बन्धितया द्विधा प्रतिपादिता  
एवेत्यर्थः । पापराहित्ये कारणं माह — “सूर्य एवेति । यस्मा-  
देव सर्वेषु तवः पापराहित्येन शुद्धाः, ‘तस्मात्’ यस्मिन् कस्मिन्-  
श्चिद्वृत्तौ सोमयागं मभिगच्छेत्, ‘अथ’ अनन्तरं मेव अग्न्या-  
धानं कुर्यात् ; ‘न श्वः-श्वं सुपासीतेति । ‘श्वः करवाणि’-इत्येवं  
कालान्तरप्रतीक्षा न कुर्यात् । तत्र हेतुं माह — “को हीति ।  
‘मनुष्यस्य’ ‘श्वः’ श्वः कालसम्बन्धिं जीवनं ‘कः’ नाम ‘वेद’  
जानीयात् ? आयुषोऽस्थिरत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥ ३ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

यद्गृहस्य ऋतोऽग्न्याधेयुः स्यात् । दिवैवाग्नी-  
यान्मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति तेऽस्यैतच्छ्रो-



ऽग्न्याधियं विदुस्तेऽस्य त्विष्वे देवा गृहानागच्छन्ति  
तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथः ॥ १ ॥

तन्वे\*वानवकृप्तं यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वी-  
ऽग्नीयादथ किं मु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वीऽग्नीयात्  
तस्माद् द्विवैवाग्नीयात्तद्वपि† काम मेव नुक्त मग्नीयान्नो  
ह्यनाहितान्नेव्रतचर्यास्तिमानुषो ह्येवैष तावद्भवति  
यावद्नाहिताग्निस्तस्माद्द्वपि काम मेव नुक्त मग्नी-  
यात् ॥ २ ॥

तद्वैकेऽज मुपव्वक्षन्ति । आग्नेयोऽजोऽग्नेरेव  
सर्व्वत्वायेति अदन्तस्तद्दु तथा न कुर्याद्यद्यस्याजः  
स्यादग्नीधः ऽएवैनं प्रातर्दद्यात्तेनैव तं काम माप्नोति  
तस्माद् तन्नाद्रियेत ‡ ॥ ३ ॥

अथ चातुष्प्राश्य मोदनं पचन्ति । कृन्दास्यनेन  
प्रीणीम इति यथा येन व्याहनेन खन्तस्यन्तस्यात्तत्  
सुहितं कर्त्तवै ब्रूयादेव मेतदिति अदन्तस्तद्दु तथा न  
कुर्याद्यद्वा ऽअस्य ब्राह्मणाः कुले व्वसन्त्यृत्विजश्चा-

\* 'तन्वे'—इयि क, ख, ड ।

† 'तद्वपि'—इति च डा०-वेवर-दृष्टः ।

‡ 'तं नाद्रियेत'—इति ख, डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

नृत्विजश्च तेनैव तं काममाप्नोति तस्माद् तन्ना-  
द्रियेत \* ॥ ४ ॥

तस्य सर्पिरासेचनं कृत्वा । सर्पिरासिच्याश्व-  
त्थीन्सिन्धुः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्धतीभिर्घृत-  
वतीभिरङ्गिभिरभ्यादधति शमीगर्भं मेतदाप्नुम इति  
वृद्धन्तः स यः पुरस्तात्संवत्सरं मभ्यादध्यात् स ह तं  
काममाप्नुयात् तस्माद् तन्नाद्रियेत † ॥ ५ ॥

तद् होवाच भ्रातृभ्यः § । यथा वा ऽन्नन्यत्-  
करिष्यन्त्सोऽन्यत् कुर्याद्यथान्यद्वादिष्यन्त्सोऽन्यद्दद्या-  
थान्येन पथैष्यन्त्सोऽन्येन प्रतिपद्येतैवं तद्य एतं चातु-  
ष्पाशय मोदनं पुचेद्दुपराद्विरेव सेति न हि तदव-  
कल्पते यस्मिन्नग्नावृचा वा साम्ना वा यजुषा वा  
समिधं वाभ्यादध्यादाहुतिं वा जुहुयाद्यत्त दक्षिणा  
वा हरियुग्नु वा गमयेयुर्दक्षिणा वा ह्येनं हरन्य-  
न्वाहार्यपचनो भविष्यतीत्यनु वा गमयन्ति ॥ ६ ॥

अथ जायति जायति देवाः ¶ ॥ तद्देवानेवेतदुपा-

\* † 'तं नाद्रियेत'— इति ख, डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'सर्पिः'— इति च दृष्टो वे० ।

§ 'भ्रातृभ्यो'— इति क, ड ।

¶ 'देवाः'— इति ग, घ ।

॥ 'देवाः स्तु'— इति क, ड ।

वर्त्तते स सदेवतरः \* । श्वान्तरस्तपस्वितरोऽग्नी  
 ऽश्वाधत्ते तद्वपि काम मेव स्वप्यान्नो ह्यनाहितानेर्वृत-  
 चर्यास्ति मानुषो ह्येवेष तावद् भवति यावदनाहि-  
 ताग्निस्तस्माद्वपि काम मेव स्वप्यात् ॥ ७ ॥

तद्वैकेऽनुदिते मथित्वा † । त मुदिते प्राञ्च मुह-  
 रन्ति तदु तदुभे ऽषहोरात्रे परिगृह्णीमः प्राणोदानयो-  
 र्मनसश्च व्वाचश्च पर्याप्त्या ऽद्भुतिव्वदन्तस्तदु तथा न  
 कुर्यादुभौ हैवाश्च तथानुदित ऽश्वाहितौ भवतो-  
 ऽनुदिते हि मथित्वा त मुदिते प्राञ्च मुहुरन्ति स  
 य उदित ऽश्वाह्वनीयं मन्येत् स ह तत्पर्याप्नु-  
 यात् ॥ ८ ॥

अहर्वैः देवाः ‡ । अनपहतपाप्मानः पितरो न  
 पाप्मान मपहते मर्त्याः पितरः पुरा हायुषो म्रियते  
 योऽनुदिते मन्यत्यपहतपाप्मानो देवा अप पाप्मानं  
 हतेऽमृता देवा नामृतत्वस्याशक्ति सर्व्व मायुरेति  
 श्रीर्देवाः श्रियं गच्छति यशो देवा यशो ह भवति य  
 एवं व्विद्वानुदिते मन्यति ॥ ९ ॥

\* 'सदेवतरः'— इति ग, घ ।

† 'मथित्वा'— इति ग, घ ।

‡ 'देवाः'— इति ग, घ ।

तदाहुः । यन्नऽर्चान् साम्ना न यजुषाग्नि-  
राधीयतेऽथ केनाधीयत इति ब्रह्मणो हेवैष ब्रह्म-  
णाधीयते व्वाग्वै ब्रह्म तस्यै व्वाचः सत्य मेव ब्रह्म ता  
वा एताः सत्य मेव व्याहृतयो भवन्ति तदद्य  
सत्येनैवाधीयते ॥ १० ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । इमा \* मजनयत भुव  
इत्यन्तरिक्षं स्वरिति दिव मेतावहा इदं सर्वं  
यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते ॥ ११ ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । ब्रह्मा†जनयत भुव  
इति क्षत्रं स्वरिति विश्व मेतावहा इदं सर्वं  
यावद् ब्रह्म क्षत्रं विश्वं सर्वेणैवाधीयते ॥ १२ ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । आत्मान‡ मजनयत  
भुव इति प्रजां स्वरिति पशूनेतावहा इदं सर्वं  
यावदात्मा प्रजा पशवः सर्वेणैवाधीयते ॥ १३ ॥

स वै भूर्भुव इति । एताऽवतैव गार्हपत्य माद-  
धात्यथ यत्सर्वं रादध्यात्केनाहवनीय मादध्याद् हे

\* 'प्रजापति । रिमा'— इति क, छ ।

† 'प्रजापति । ब्रह्मा'— इति क, छ ।

‡ 'प्रजापति । आत्मान'— इति क, छ । § 'इत्ये । ता'— इति छ ।

ऽअक्षरे परिशिनष्टि तेनो ऽएतान्युयातयामानि  
भवन्ति तैः स्रुवैः पञ्चभिराहवनीय मादधाति भूर्भुवः  
स्वरिति तान्यष्टावक्षुराणि सुम्भयन्ते ऽष्टाक्षरा वै  
गायत्री गायत्रु मग्नेऽकुन्दः खेनैवैन मेतःकुन्दसा-  
धत्ते ॥ १४ ॥

देवान्ह वा ऽअग्नी ऽआधास्यमानान् । तान-  
सुररक्षसानि ररक्षुर्नाग्निर्जरिष्यते नाग्नी आधा-  
स्यध्व ऽइति तद्यदुरक्षंन्तस्माद्रक्षाऽसि ॥ १५ ॥

ततो देवा एतं व्वृजं ददृशुः । यदुश्वं† तं पुर-  
स्तादुदश्वंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्मा-  
द्यन्वाग्निं मन्यिष्यन्त्यात्तदुश्व मानेतवै ब्रूयात् स  
पूर्व्वगोपतिष्ठते व्वृज मेवैतदुच्छयति तस्याभयेऽनाष्ट्रे  
निवातेऽग्निर्जायते ॥ १६ ॥

स वै पूर्व्वगाट् स्यात् । स ह्यपरिमितं व्वीर्य्यं  
मभिवर्द्धते‡ यदि पूर्व्वगाहं न विन्देदपि य एव कश्चाश्व  
स्याद्युश्व न विन्देदप्यनङ्गानेव स्यादेष ह्येवानङ्गुही  
बन्धुः ॥ १७ ॥

\* 'मानां । स्तान्'—इति क, ङ ।

† 'ददृशु । यदुश्वं'—इति क, ङ ।

‡ 'वर्द्धते'—इति ङ ।

तं यत्र प्राञ्चः हरन्ति । तत्पुरस्तादुश्वं नयन्ति  
तत्पुरस्तादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाः सपन्नैत्यथाभयेनानाष्ट्रेण  
हरन्ति ॥ १८ ॥

तं वै तथैव हरेयुः । यथैन \* मेघ प्रत्यङ्ङुपाचरे-  
देष वै यज्ञो यदग्निः प्रत्यङ् हैवैनं यज्ञः प्रविशति तं  
क्षिप्रे यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङ्  
हैवास्माद्यज्ञो भवति स यो हैनं तन्नानुव्याहरे-  
त्पराङ्स्माद्यज्ञोऽभूद्वितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥ १९ ॥

एष उ वै प्राणः † । तं ‡ वै § तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेघ प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं प्राणः प्रवि-  
शत्यथ यस्मात् पराङ् भवति पराङ् हैवास्मात् प्राणो  
भवति स यो हैनं तन्नानुव्याहरेत् पराङ्स्मात्  
प्राणोऽभूद्वितीश्वरो ह यत् तदैव स्यात् ॥ २० ॥

अथं वै यज्ञो योऽयं पवते । यं वै तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेघ प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं यज्ञः प्रवि-

\* हरेयुः । यथैन— इति ख, ड ।

† 'प्राणः'— इति ग, घ ।

‡ 'प्राण । स्तं'— इति क, ड ।

§ 'मि'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

शति तं चिप्रे यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात् पुराङ् भवति  
पुराङ् हेवास्माद् यज्ञो भवति स यो हैनं तत्रानुव्या-  
हरेत्पुराङ्स्माद् यज्ञोऽभूद्वितीश्वरो ह यत् तथैव  
स्यात् ॥ २१ ॥

एष उ वै प्राणः । तं \* वै † तथैव हरियु-  
र्यथेन मेष प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हेवेनं प्राणः प्रवि-  
शत्यथ यस्मात् पुराङ् भवति पुराङ् हेवास्मात् प्राणो  
भवति स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्पुराङ्स्मात् प्राणो-  
ऽभूद्वितीश्वरो ह यत् तथैव स्यात्तस्माद् तथैव  
हरियुः ॥ २२ ॥

अथाश्व माक्रमयति । त माक्रमय्य प्राञ्च मुन्न-  
यति तं पुनरावर्त्तयति त मुदञ्चं प्रमुञ्चति व्वीर्य्यं  
वा ऽश्वो नेदस्मादिदं पुराग्वीर्य्यं मसद्विति तस्मात्  
पुनरावर्त्तयति ॥ २३ ॥

त मश्वस्य पद ऽधाधत्ते । व्वीर्य्यं वा ऽश्वो  
व्वीर्य्यं ऽएवैन मेतदाधत्ते तस्मादश्वस्य पद ऽधा-  
धत्ते ॥ २४ ॥

\* 'प्राण । स्त'—इति क, ङ ; प्राणः । ते—इति ग, घ ।

† 'वै' इति च दृष्टो ङा० वेवरेण ।

स वै तूष्णीं मेवाय ऽउपस्पृशति । अथोद्यच्छत्य-  
थोपस्पृशति भूर्भुवः स्वरित्येव तृतीयेनादधाति  
त्रयो वा ऽइमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकानाप्रोत्ये-  
तन्त्वेकम् \* ॥ २५ ॥

अथेदं द्वितीयम् । तूष्णीं मेवाय ऽउपस्पृशत्यथो-  
द्यच्छति भूर्भुवः स्वरित्येव द्वितीयेनादधाति यो वा  
ऽअद्या मप्रतिष्ठितो भारु मुद्यच्छति नैनं शक्तोत्यु-  
द्यन्तुं सः हैनं शृणाति ॥ २६ ॥

स यत्तूष्णीं मुपस्पृशति । तदस्यां प्रतिष्ठायां  
प्रतिष्ठन्ति सोऽस्यां प्रतिष्ठित आंधन्ते तथा न  
व्यथते तदु हैतरपञ्चैव दधिर ऽआसुरिः पाञ्चिर्मा-  
धुकिः सर्व्वं वा ऽअन्यदियसित मिव प्रथमेनैवोद्यत्या-  
दध्याद् भूर्भुवः स्वरिति तदेवानियसित मित्यतो  
यतमथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ २७ ॥

अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्व्वार्हं मुल्मुकाना  
मभिपद्य जपति द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव व्वरिम्भोति  
यथासौ द्यौर्बह्वी नचत्रैरेवं बहुर्भुयास मित्येवैतदाह  
यदाह द्यौरिव भूम्नेति पृथिवीव व्वरिम्भोति युधेयं

\* 'तं ल्केकम्'—इति क, ड ; 'तं ल्केकम्'— इति ख ।



पृथिव्युर्ध्वमुरुर्भूयास मित्येवैतदाह तस्यास्ते पृथिवि  
 देवयजनि पृष्ठ ऽद्भ्यस्यै ह्येनं पृष्ठ ऽमाधत्तेऽग्नि  
 मन्नाद् मन्नाद्यायादध ऽद्भ्यत्रादोऽग्निरन्नादो भूयास  
 मित्येवैतदाह सैषाशीरेव स यदि कामयेत जुपेदे-  
 तद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत ॥ २८ ॥

अथ सर्पराज्ञा \* ऋग्भिरुपतिष्ठते । आर्यं गोः  
 पृश्नीरक्रमीदुसदन्मातरं पुरः † । पितरं च प्रयुत्स्वः ।  
 अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन्म-  
 ह्निषो दिवम् ॥ त्रिंशद्दाम व्विराजति व्वाक्पतङ्गाय  
 धीयते । प्रति वसोरुह द्युभिरिति तद्यदेवास्यात्र  
 सम्भारैर्वा नृचत्रैर्वर्तुभिर्विधानेन वानाप्तं भवति  
 तदेवास्त्रैतेन सर्व्वं माप्तं भवति तस्मात् सर्पराज्ञा  
 ऋग्भिरुपतिष्ठते ॥ २९ ॥

तदाहुः । न सर्पराज्ञा ऋग्भिरुपतिष्ठेतेतीयं  
 वै पृथिवी सर्पराज्ञी स युदेवास्या माधत्ते तत्  
 सर्व्वान् कामानाप्नोति तस्मात् सर्पराज्ञा ऋग्भ-  
 र्पतिष्ठेतेति ॥ ३० ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [ १. ४. ] ॥

\* 'सर्पराज्ञा'— इति ड, एव मिहोत्तरत्रापि सर्वत्र । † 'पुरः'— इति क, ख

अग्न्याधेयदिवसात् पूर्वस्मिन् उपवसथदिवसे कर्त्तव्यं व्रत  
मुपदिशति— “यदहरस्येति । ‘दिवैव’-इत्येवकारेण रात्रा-  
वशनं व्यावर्त्तते । “मनो ह वै देवाः”—इत्यादि दर्शपूर्णमासिक-  
प्रस्तावे प्रागिव व्याख्यातम् \* ॥ १ ॥

दिवैव भोजनं न रात्राविति प्रतिपाद्य पक्षान्तर माह—  
“तन्वेवेति । “तदपीति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘कामं’ यथोक्तं  
रात्रावपि ‘अश्रीयात्’ । तत्र कारण माह—“नो ह्यना-  
हिताग्नेरिति । ‘न’ खलु ‘अनाहिताग्नेः’ व्रतचरणम् ‘अस्ति’;  
तस्येतरपुरुषवश्वानुषत्वात् ; आहिताग्निर्हि संस्कारेण देवभावं  
प्राप्नो व्रतचरणं मर्हतीति भावः ॥ २ ॥

“तद्वैक इति । “अज मुपवध्नतीति । उपवसथदिवसस्य  
रात्रौ गार्हपत्यागारै कस्यचिदजस्य बन्धनं कार्यं मिल्येकेषां  
मतम् । तेषा मभिप्राय माह—“आग्नेयोऽज इति । अग्निना  
सह प्रजापतिमुखजातत्वात् ‘अजः आग्नेयः’ † ; अतोऽजस्य  
सम्बन्ध माधीयमानस्य ‘अग्नेः’ ‘सर्वत्वाय’ कारस्त्र्याय सम्पद्यते,  
‘इति’ इम मभिप्रायं वदन्त इत्यर्थः । तदेतन्निरस्यति—“तदु  
तथा नेति । कथं तर्हि कार्यं मिति, तदाह—“यदीति ।  
‘अस्य’ यजमानस्य ‘अजः’ विद्यते चेत्, ‘एनम्’ अजम् ‘प्रह्वः’  
आधानदक्षिणाकाले ‘अग्नीधे’ आग्नीध्राय ‘दद्यात्’ । तथाच

\* १. १. १. ७, ८ ( १ भा० २३८० ) ।

† “प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति, स मुखतस्त्रिष्टुतं निरमिमीत त  
मभिर्देवता मन्वष्ट्यन्त, गायत्रीच्छन्दो रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणा  
मजः पशूनाम् । तस्मात् ते मुख्या मुखतो ह्यष्ट्यन्त”— इति तै०  
सं० ७. १. १. ६ ।

कात्यायनः— “गार्हपत्यागारेऽजं बध्नाति न वा, विद्यमानं प्रात-  
रग्नीधे दद्यात्”—इति \* । तेनैवेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मोदनपाकविधिं मतभेदकथनेनोक्तं प्रतिपादयति— “अथ  
चातुष्प्राश्य मोदन मिति । चतुर्भिः अर्धर्युब्रह्मादिभिर्ऋत्विग्भिः  
प्राश्रितव्य मित्यर्थः । “हृन्दांस्यनेनेति । ‘अनेन’ ब्रह्मोदन-  
पाकेन गायत्रीतिष्ठवृजगत्याख्यानि हृन्दांसि ‘प्रीचीमः’ तर्पयाम  
इत्यभिप्रायः । अस्योदनस्य चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशनं युक्त  
मिति दृष्टान्तेनोपपादयति— “यथेति । ‘येन वाहनेन’ अश्व-  
दिना ‘स्यन्त्यन्’ यास्यन् ‘स्यात्’, ‘तद्’ वाहनं ‘सुहितं’ सुढमं  
कर्तुं यथा ब्रूयात्, ‘एव मेतत्’; आदौ ऋत्विजां कर्मीपयुक्तानां  
प्राशनं युक्त मित्यर्थः । स्यन्त्यन्निति “स्यन्दू श्ववणे च”—इत्य-  
स्माकटः सत्तादेशः ।

इमं प्राशनपक्षं निषिध्योपपादयति—“तदु तथेति । ‘ऋत्वि-  
जश्च अर्धत्विजश्च ब्राह्मणाः’ ‘अस्य’ यज्ञमानस्य ‘कुले वसन्ति’  
इति ‘यत्’, ‘तेनैव’ वासेन ‘तं काम माप्नोति’, यः कामः प्राशन-  
निमित्तकः प्रागुक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ पक्षस्योदनस्य कसुर्ह्युपयोग इत्याह— “तस्य सर्पि-  
रासेचन मिति । सर्पिरासिच्यतेऽस्मिन्निति सर्पिरासेचनम्, घृत-  
धारणार्थं मोदनं निम्नं ‘क्त्वा’ इत्यर्थः । “सर्पिरासिचे-  
त्यादि स्पष्टम् । “समिहतीभिर्घृतवतीभिरिति । समिच्छद्-  
युक्ताभिर्घृतशब्दयुक्ताभिश्चेत्यर्थः । ताश्च कात्यायन उदाजहार—  
“आश्वत्योस्त्रिस्तः समिधो घृताक्ता आदधाति समिधानि मिति

प्रत्युच मिति”-इति \* । समिदाधानं कुर्वता मभिप्राय माह— “शमीगर्भं मिति । शमीगर्भो योऽश्वत्यः, तत्रस्थो योऽग्निः, तम्, ‘एतत्’ एतेनाश्वत्यसमिदाधानेन ‘आप्नुमः’ इति ब्रुवाण इत्यर्थः । तस्य च समिदाधानस्य कालविशेष माह— ‘स य इति । अन्याधानस्य ‘पुरस्तात्’ ‘यः’ यजमानः समिधः ‘अभ्यादध्यात्’, ‘सः’ खलु ‘तं कामम्’ प्राप्नुयात् । ‘तस्मात्’ समिदाधानार्थं एव ‘तत्’ प्राशनं नादरणीयमिति । निगमयति— “तस्मादिति ॥ ५ ॥

अस्मिन्नर्थे संवादं दर्शयति— “तदु होवाच भाल्लवेय इति । ‘तत्’ तत्र विषये इन्द्रद्युम्नः ‘भाल्लवेयः’ उक्तवान् । कथं मिति ; तदाह— “यथा वा इत्यादि । ‘यथा’ ‘अन्यत्’ चिकीर्षतः ; तदनुपयुक्तस्यान्यस्य कारणं यथा व्यधिकरणत्वादसङ्गतम्, तथा अग्नीनाधिक्रताग्नावेव किञ्चित् कर्तव्यम् ‘एतत्’ चातुष्प्राश्यकरणं मसङ्गतम् ; अतोऽसमृद्धिक एव तथा-विधौदनपाक इति भाल्लवेयाभिप्रायः ॥

त मिमं दोषं परिहृत्य प्राशनपक्षमेव निगमयति— “न हि तदित्यादिना । ऋक्सामादिमन्त्रैर्यस्मिन्नग्नी समिधमाहुतिं च प्रचिपेत्, तस्याग्नेर्दक्षिणाहरणं मनुगमनं च यदि स्यात्, सोऽग्निरन्वाहार्यपचनः । अन्वाहार्यः ओदनः, तस्य पाकहेतुर्भविष्यति । अतो दक्षिणाहरणं मनुगमनं वाहुतिसंस्कृतस्याने-

\* का० श्रौ० सू० ४. ८. ५ ।

† इहैव पुनरुपरिष्ठाहान्नास्यते “इन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयः”— इति (१०. ६. १. १.) । अन्यत्र च— का० उप० ५. ११. १ ।

नैव कल्पते । अतः पक्वतण्डुलो न होमार्थः, किन्तु प्राशनार्थं इत्यभिप्रायः । गत मन्यत् ॥ ६ ॥

तस्यां रात्रौ यजमानस्य जागरणं विधत्ते— “अथ जाग्रतीति । व्यत्ययेन बहुवचनम्, जागर्त्तीत्यर्थः । “जाग्रति देवा इत्यादि । श्वः करिष्यमाणेष्वधाणादिकर्मस्वरूपभूता ये देवा उपवसथेऽह्नि यजमानगृह मागताः, ते खल्वस्यां रात्रौ ‘जाग्रति’ जागरणं कुर्वन्ति । तेषु च जाग्रत्सु यजमानस्य स्वापो न युक्त इति तेन जागरणेन यजमानो ‘देवानिव’ जाग्रतः ‘उपावर्त्तते’ उपगता भवन्ति । ‘सः’ च यजमानः ‘सदेवतरः’ अतिशयेन देवसहितः । निद्राभावादिना अतिशयितं अम मासः । अन्याधानयोग्यतां जागरणवशात् प्राप्नोतीत्यर्थः । अथ स्वापमप्यनुजानाति— “तदपीति ॥ ७ ॥

एवं रात्रौ नीताया माघास्यमानस्याग्नेर्मन्यनविषय मेकीर्यमत मुपन्यस्यति— “तद्वैक इति । ‘अनुदिते’ सूर्योदयात् प्रागेवोषाकाले मन्यनं कार्यम् । सूर्यं चोदिते आहवनीयार्थं तस्य प्रागुद्धारणम् । एवं वदता मभिप्राय माह— “तदिति । तेन मन्यनोद्धारणयोः अहोरात्रसम्बन्धित्वेन, अत एव ‘अहोरात्रे’ ‘परिगृह्णीमः’ कर्माङ्गतया स्वीकुर्मः । तस्यापि प्रयोजन माह— “प्राणोदानयोरिति । अहोरात्रे परिग्रहस्य तद्रूपयोः ‘प्राणोदानयोः’ वाङ्मनसयोश्च ‘पर्याप्तिः’ प्रयोजनमित्येवं प्रतिपादयन्त इत्यर्थः । त मिसं पचं निषेधति— “न कुर्यादिति । तत्र दोष माह— “उभौ ह्वेति । गार्हपत्याहवनीयौ ‘उभौ’ अपि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अनुदिते’ रात्रावेव ‘आहितौ’ भवतः । कथं मुभयोरनुदिते आधान मिति, तत्राह— “अनुदिते हीति ।

‘अनुदिते’ मधितो योऽग्निः, स एवाहवनीयत्वेन स्थाप्यत इति तस्यापि रात्रिसम्बन्धो दुर्निवारः । तस्मात् ‘उदिते’ एव ‘आहवनीयम्’ अग्निं ‘मन्येत्’ ॥ ८ ॥      ॥ ९ ॥

रात्रौ मन्यनस्य दोषाभिधानसाधनत्वं विधातुं प्रस्तीति—  
“तदाहुरिति । ऋक्सामयजुरात्मकास्त्रिविधामन्वाः, तैः ‘यद्’ यस्मात् ‘अग्निः न आधीयते’, केन तर्हि स आधेय इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । तस्योत्तरम्— “ब्रह्मणो हेति । ब्रह्मणः सम्बन्धि यद् ब्रह्म, तेनाधानं कार्यम् । किमिति, तदुभयं दर्शयति— “वाग्वा इति । षष्ठ्यन्तेन निर्दिष्टं यद् ब्रह्म, तद् वागात्मकम् ; तस्या वाचः सम्बन्धि यद् वाक्यम्, ‘सत्यम्’ विद्यमानार्थप्रतिपादि, तत् ‘एव’ ‘ब्रह्म’ । तत्र वाचः सत्यं किमिति, तद् दर्शयति— “ता वा एता इति । ‘ताः’ एताः भूरादिव्याहृतयो यदुदीरितसत्यरूपाः, ‘तत्’ तस्मात् ‘अस्य’ यजमानस्य व्याहृतिभिरग्न्याधाने ‘सत्येनैव’ सोऽग्निराहितो भवति ॥ १० ॥

व्याहृतीनां सत्यरूपत्वमुपपादयंस्तत्कारणकमाधानं प्रशंसति— “भूरिति वा इति । सृष्टिसमये प्रजापतिः ‘भूरिति’ अनया व्याहृत्या ‘इमां’ भूमिम् ‘अजनयत्’ । “भुव इत्यन्तरिक्षमित्यादावप्येवं योजना । “इमे त्रयो लोका इति । यावदस्ति, एतावदेव हीदं सर्वं जगदतो भूरादिलोकहेतुभिराधीयमानोऽग्निरनेव ‘सर्वेषैव’ जगता आहितो भवति ॥ ११ ॥

ब्रह्मचक्रादिवर्णत्रयोत्पत्तिहेतुत्वेन तत्कारणकमाधानं प्रशंसति— “भूरिति वा इति । ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः, ‘क्षत्रं’ क्षत्रियजातिः ॥ १२

आत्मप्रजापशुसर्जनहेतुत्वेन तत् प्रशंसति— “भूरिति वा

इति । “एतावद्वा इति । ‘इदं सर्वं’ सर्वजगत् ‘एतावद् वै’ एतावदेव । ‘यावत्’ स्वरूपेणावस्थितं स्वात्मभोगसम्पादनहेतवः ‘प्रजाः’ ‘पशवः’ चेति एतच्चितयान्तर्गतं मेव सर्वं जगत्, अनेन ‘सर्वेण’ सोऽग्निराहितो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

एवं साधारण्येन व्याहृतीना माधानसाधनत्वं प्रतिपाद्य, गार्हपत्याधाने विशेष माह— “स वा इति । हाभ्या मेव व्याहृतिभ्यां ‘गार्हपत्यम्’ ‘आदधाति’ । तिसृभिरपि व्याहृतिभिः गार्हपत्याधाने आहवनीयाधानस्य मन्वो न स्यात्, अतः सुव-  
रिति ‘हे अक्षरे’ परिशेषयेत् । ‘तेन’ कारणेन परिशिष्टा-  
क्षरद्वयसहितानि भूराद्यक्षराणि ‘अयातयामानि’ अगतसाराणि  
‘भवन्ति’ । आहवनीयाधाने तिसृणां व्याहृतीनां विनियोग  
माह— सर्वैरिति । “तान्यष्टाक्षराणि”—इत्यादि निगदसिद्धम् ।  
“गायत्र मन्वेच्छन्द इति । उभयोः प्रजापतिमुखजात-  
त्वात् \* ॥ १४ ॥

अग्निमन्यनसमये तस्य पुरस्तादश्वस्य धारणं विधित्पुरिति-  
हासं दर्शयति— “देवानिति । ‘अग्नी’ गार्हपत्याहवनीयी ।  
‘ररक्षुः’ निरुद्धवन्त इत्यर्थः । निरोधप्रकार माह— “नाग्नि-  
रिति ॥ १५ ॥

देवैः कृतं परिहारं दर्शयति— “ततो देवा इति । अश्वा-  
त्वं यं ‘तं’ मन्यनदेशस्य ‘पुरस्तात्’ ‘उदश्वयन्’ उच्छ्रित मस्था-  
पयन् । ‘तस्य’ वज्रस्य सम्बन्धिनि, ‘अभये’ भयरहिते, ‘अनाष्ट्रे’  
रक्षःप्रभृतिनाशकरहिते, ‘निवाते’ वातरहिते एवभूते स्थाने  
मन्यनाद् ‘अग्निः’ उदपद्यतेत्यर्थः । एव मितिहास सुपन्यस्य

\* तै० सं० ७. १. १. ६. द्रष्टव्यम् ।

प्रकृते योजयति— “तस्मादिति । ‘आनेतवै’ आनेतु मित्यर्थः । तुमर्थे तवैप्रत्ययः \* । “स पूर्वेणेत्यादि उक्तप्रायम् ॥ १६ ॥

स चाश्वः पूर्ववयस्क एवानेतव्य इत्याह— “स वै पूर्ववा-  
डिति । पूर्वं वयसि वहतीति पूर्ववाट्’ । ‘वहश्च’-इति  
खिः † । तस्यालाभे पक्षान्तर माह— “अपि य एवेति ।  
निगदसिद्ध मन्वत् । “एष ह्येवेति । अश्वविधेयः स्तावको-  
ऽर्थवादः, अनडुधिधेरपि एष एव स्तावक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

आह्वनीयदेशं प्रत्यग्नेर्हरणं समाप्याश्वस्यापि पुरस्तात् नयनं  
विधत्ते— “त मिति । तस्य प्रयोजन माह— “तत्पुरस्ता-  
दिति । स चाश्वोऽग्नेः पुरस्तात् गमनमार्गं विद्यमानं रक्षः-  
प्रभृतिकम् ‘अपघ्नन्’ हिंसन् ‘एति’ गच्छति । तथा च भयादि-  
रहितेन मार्गेण तस्याग्नेर्हरणं सिध्यतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्मिन् हरणे विशेष माह— “तं वा इति । ‘यथा’ ‘एनं’  
यजमानम् ‘एष’ अग्निः ‘प्रत्यङ्’ ‘उपाचरेत्’ अभिसुखं मुपा-  
वर्त्तते, ‘तम्’ अग्निम् ‘अवहरियुः’ आह्वनीयायतनस्य पूर्वभागं  
प्रापयेयुरित्यर्थः । तस्य प्रयोजन माह— “एष वा इति ।  
‘एषः’ ‘वै’ खलु अग्निः ‘यज्ञः’ तन्निष्पादकत्वाद् । तस्य प्रत्य-  
गावर्त्तनेन ‘एनं’ यजमानं ‘यज्ञः एव प्रत्यङ् प्रविशति’ अभि-  
मुखं आवर्त्तते । तथा च ‘तं’ यजमानं ‘क्षिप्रे’ अल्पकाले  
एव, शीघ्रं यज्ञः उपगच्छति । एतद् व्यतिरेकमुखेनोपपाद-  
यति— “अथ यस्मादिति । सः अग्निः ‘यस्मात्’ बहुयजमानात्  
‘पराङ्’ पराङ्मुखः भवति, तर्हि ‘अस्मात्’ ‘यज्ञः’ अपि पराङ्मुखो



‘भवति’ । ‘तत्र’ तथा सति ‘यः’ कश्चिद् द्वेष्यः, ‘एनं’ यजमानम्  
 ‘अनुव्याहरेत्’ । किमिति— ‘यज्ञोऽस्मात् पराङ् अभूत्’—इति ।  
 स यजमानः ‘तथैव’ भवितुम् ‘इंश्वरः’ ‘स्यात्’ ॥ १९ ॥

एव मग्नेर्यज्ञरूपत्वेन प्रत्यगावर्त्तनं प्रतिपाद्य प्राणात्मकत्वा-  
 दपि तत् प्रतिपादयति— “एष उ वा इति । ‘एषः’ खल्वग्निः  
 ‘प्राणः’ । “तं वा इत्यादि, पूर्ववत् ॥ २० ॥

अथैनं यज्ञात्मक मग्निं वायुतादात्म्येन स्तौति—“अयं वा  
 इति । “तं वा इत्यादि, पूर्ववत् ॥ २१ ॥

बाह्यात्मक मग्निं प्राणरूपतया स्तौति— “एष उ वा इति ।  
 अन्यत् पूर्ववत् ॥ २२ ॥

एव मग्नेर्हरणप्रकारं प्रतिपाद्य तदनन्तरकर्त्तव्यता माह—  
 “अथाश्व मिति । आहवनीयायतने सन्धारान् निधाय दक्षिण-  
 पूर्वपादेन ‘अश्व माक्रमयति’ । एवम् ‘आक्रमय्य’ ‘प्राञ्चं’ नीत्वा  
 ‘तम्’ अश्वम् ‘पुनरावर्त्तयति’ आहत्य स्थापयति । अनन्तर  
 मश्वम् ‘उदञ्चम्’ उदञ्चुखं प्रमुञ्चति । सूत्रते हि कात्या-  
 यनेन— “सन्धारानधिष्ठाप्य दक्षिणपूर्वपादेन प्राञ्चं नीत्वावर्त्त्य  
 स्थापयति”— इति \* । पुनरावर्त्तनस्य प्रयोजन माह—  
 “वीर्यं वेत्यादि । अश्वलक्षणं यत् ‘इदं’ वीर्यम्, तत् ‘नेत्’ नैव  
 ‘अस्मात्’ ‘पराग्’-भूतम् भवेदित्यनेनाभिप्रायेण तस्याश्वस्य पुन-  
 रावर्त्तनं कार्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

आहृतस्याग्नेराधानं विधत्ते— “त मश्चस्येति । आहव-  
 नीयायतने यदश्वस्य पदम्, तस्मिन् ‘तम्’ अग्निं मन्त्रेण स्थाप-  
 येत् । तदेतत् प्रशंसति— “वीर्यं वा इति ॥ २४ ॥

\* का० श्रौ० सू० ४, ६, १४ ।

तत्र विशेष माह - "स वा इति । 'अग्ने' प्रथमम् अश्वस्य पद मग्निना 'तूष्णीम्' 'उपसृशति' । त मग्नि मुद्यम्य पुनरपि 'उपसृशति' । एवं द्विरुपसृश्य तृतीयेनोपस्पर्शनेन व्याहृतिभिः त मग्निं तस्मिन् पदे स्थापयति । व्याहृतिगतं त्रित्वं प्रशंसति - "त्रयो वा इति । इमं पञ्चं निगमयति - "एतदिति । 'एतत्' खल्वाहवनीयाधानस्य 'एकं' विधान मित्यर्थः ॥ २५ ॥

पक्षान्तर मपि वक्तुं प्रतिजानीते - "अथेदं द्वितीय मिति । "तूष्णी मेवेत्यादि । अश्वपदं 'तूष्णीं' सकृदेवाग्निनोपसृश्य, त मुद्यम्य द्वितीयेनोपसृशति । न व्याहृतिभिः तत्र स्थापयेदित्यर्थः । एतस्योपस्पर्शनस्य प्रयोजन माह - "यो वा अस्या मिति । 'अस्यां' भूम्यां दृढ मनवस्थितः सन् 'यः' वोढा 'भारम् उद्यच्छति', सः 'एनं' भारम् 'उद्यन्तु' 'न शक्नोति'; प्रत्युत निपततोऽस्योपरि निपतन् भार एव 'एनं' पुरुषं हिनस्ति ॥ २६ ॥

"स यत् तूष्णीं सुपसृशतीति । यस्तु भूम्यां प्रतिष्ठाय भार मुद्यच्छति, स भारं वोढुं शक्नोतीति । तत्समान मेवैतद् भूमेः सकृदुपस्पर्शनम् । तथा च तेन स्पर्शनेन भूम्यां प्रतिष्ठित एवाग्निराहितो भवति, 'न व्यथते' न चलते । "व्यथ भयभलनयोः" - इति \* धातुः । पक्षान्तरं वक्तु मन्यस्मिन् पक्षे दोष माह - "तदु हैतदिति । आसुरिप्रभृतयस्त्वथो मुनयः तदेतदुपसृशन्तीहम्य द्वितीयस्पर्शनेनाधानं 'पशेव' पश्चाद्भूत मिव 'दध्निरे' अधारयन् । एतावता को दोष इति । अग्निनोप-

स्पृश्य पुनस्तस्मिन्नेव तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मायतनस्थं सभार-  
दिकम् 'इयसितम्' इयत्तया परिच्छिन्नं व्यक्तं मिव भवति ।  
अतोऽग्निं मुद्यम्य प्रथमेनैवोद्यमनेन व्याहृतिभिः 'आदध्यात्' ।  
तथा एवं सति 'अनियसितम्' \* अव्यक्तं मेव सर्वं भवति ।

उक्तानां पक्षाणां मिच्छया विकल्प माह — "यतमथेति ।  
एतत् पक्षत्रयं मपि सूत्रितं कात्यायनेन — "अग्निना पदं  
द्विरुपस्पृश्य तृतीयेनादधाति, द्वितीयेन प्रथमेन वा भूर्मुवः-  
स्वरिति"—इति † ॥ २७ ॥

आहितस्याग्नेः पूर्वभागस्य मुल्मुक मन्वारभ्य मन्त्रस्य  
जपं विधत्ते — "अथ पुरस्तादिति ‡ । मन्त्रतात्पर्यं माह —  
"यथासाविति । बहुभिः 'नक्षत्रैः' 'यथासौ द्यौः' 'बह्वी' बहु-  
त्वोपेता, 'एवम्' अहं मपि पुत्रपौत्रादिबहुत्वेन 'बहुः भूया-  
सम्' इति, "द्यौरिव भूम्ना" — इत्यस्य भागस्य अर्थः । पृथि-  
वीत्यादिकं मनूय तात्पर्यं माह — "यथा इयं पृथिवी" 'उर्वी'  
विज्ञोतीर्णा, 'एवम्' अहं मपि 'वरिष्णा' उरुत्वेन सुविस्तीर्णा  
भूयास मिति । भागान्तरं मनूय व्याचष्टे — "तस्यास्त  
इति । उरुत्वं प्रति उपमानभूतायाः 'तस्याः' 'ते' तव 'पृष्ठे'  
उपरि भागे "अग्निम् आदधे"—इत्युरत्तत्र सम्बन्धः । "अस्यै  
हीति । अस्या एव खलु पृथिव्याः 'पृष्ठे' उपरि आधत्ते, अतो  
युक्तं तस्यास्ते इति वाक्य मिति भावः । अन्तिमं भागं मनूय  
व्याचष्टे — "अग्नि मन्नाद मिति । आहवनीयादिरूपेण हवि

\* पूर्वस्मिन् काण्डे ( ६१० पृ० ५ पं० ) "इयसितं" द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. १६; मन्त्रस्त्वेषः वा० सं० ३. ५. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ६. १७ । मन्त्रस्तु — वा० सं० ३. ५. २ ।

लक्ष्मणम्, तद्विलक्षणं च सर्वे मन्त्र मतीत्य 'अन्नादोऽग्निः' ।  
एव मन्नादशब्देनाग्नेर्विशेषणादह मप्यन्नादो भूयास मिति  
तात्पर्यगम्योऽर्थः । "सैषाशीरित्यादि । 'एषा' मन्त्रात्मिका  
ऋक् 'आशीः' फलप्रार्थन मेव ; अतः सत्यां कामनायां तस्य  
मन्त्रस्य जपः ; तदभावे तु जपोऽपि न कर्तव्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ तस्याग्नेः सर्पराज्ञीभिरुपस्थानं विधत्ते — "अथ सर्प-  
राज्ञया इति \* । सर्पणशीलानां प्राणिनां राज्ञी 'सर्पराज्ञी',  
तत्सम्बन्धिनीभिर्ऋग्भिरग्नि मुप्रतिष्ठते । का पुनस्ता इति तिस्र-  
ऋचः पठति — "आयं गौरिति प्रथमा †, "अत्ययति रोच-  
नेति द्वितीया ‡, त्रिंशद्भामेति तृतीया § । अस्योपस्थानस्य  
प्रयोजन माह — "तद् यदेवेति । 'अस्य' यजमानस्य 'अत'  
अस्मिन्नाधाने सन्धारादिभिर्विकल्पनिमित्तेन यत् 'अनाप्तम्'  
अप्राप्तं भवति, 'एतेन' उपस्थानेन 'अस्य' तत् 'सर्वम्' आप्यते  
सर्पराज्ञ्याः सर्वाधिष्ठानभूतत्वात् । अत एव तन्नामनिर्वचन  
मन्यत्रान्नातम् — "इयं वै सर्पराज्ञी, देवा वै सर्पाः, तेषा मियं  
राज्ञीति ¶ ॥ २९ ॥

तेषां पृथिव्या माधानादेव सन्धारादीनां सर्वेषा भवामत्वात्,

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. १८ ।

†, ‡, § वा० सं० ३. ६, ७, ८ ।

¶ "इयं वै सर्पराज्ञी" — इत्यादि ऐ० ब्रा० ५. ४. ४ । अत्र 'सर्पराज्ञी'-  
शब्देन काचिद् ब्रह्मवादिनो गम्यते । "इयं वै सर्पतो राज्ञी" — इति तै०  
ब्रा० १. ४. ६. ६ । "देवा वै सर्पास्तेषा मियं राज्ञी" — इत्यादि च तै०  
ब्रा० २. २. ६. १ । ता० ब्रा० ६. ८. ७ ( ब्रह्मवादिनी ) । आर्यै० ब्रा० ३.  
२६ ( सर्पाणाम् ) । ऋ० सं० १०, १८६ मा० भा० ( ऋषिः ) ।

तदवाप्तये सर्परानीभिरुपस्थानं न कार्यं मिति पक्षान्तर माह —  
“तदाहुरिति ॥ ३० ॥ ४ [ १. १. ] ॥

इति श्रीसायणार्थविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।

पुमर्थ्यांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्मम्,  
सप्तद्वीपान् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुभौवर्णभूमिः ।  
रत्नोत्स्रां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्थी,  
व्यश्राणीद्विप्रवक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
आज्यीयं प्राज्यजन्मा \* लवणज मन्वणः शार्करं चार्कतेजाः,  
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मल्लत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्थः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहस्तिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण

सायणचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

\* 'प्राज्यबुद्धिर्'— इति च ।

( अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. )

उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं जुहोति । तद्यत्पूर्णाहुतिं जुहोत्यन्नादं व्या ऽएतु मात्मनो जनयते\* यदग्निं† तस्मा ऽएतदन्नाद्य मपिदधाति यथा कुमाराय जाताय व्वत्साय वा स्तुन मपिदध्यादेव मस्मा ऽएतदन्नाद्य मपिदधाति ॥ १ ॥

सु एतेनान्नेन शान्तः । उत्तराणि हवींषिः‡ श्रय्यमाणान्युपरमति शुश्रूव इ वा ऽअध्वर्युं वा युजमानं वा प्रवहेत्तौ ह्यस्य नेदिष्ठं चरतो यदस्मिन्नेता माहुतिं न जुहुयात् तस्माद्वा ऽएता माहुतिं जुहोति ॥ २ ॥

तां वै पूर्णां जुहोति । सुर्व्वं वै पूर्णं सुर्व्वेणैवैन मेतच्छमयति स्वाहाकारेण जुहोत्यनिरुक्तो वै स्वाहाकारः सुर्व्वं वा ऽअनिरुक्तं सुर्व्वेणैवैन मेतच्छमयति ॥ ३ ॥

यां वै प्रजापतिः । प्रथमा माहुति मजुहोत्

\* 'जनयते'— इति क, ख, म ।

† 'यदग्निं'— इति च इष्टो डा०-वेवरेण ।

‡ 'हवींषिः'— इति च इष्टो डा०-वेवरेण ।

स्वाहेति वै ता मजुहोत्सो खिदेषा निदानेन तुस्मात्  
स्वाहेति जुहोति तस्यां व्वरं ददाति सर्व्वं वै व्वरः  
सर्व्वेषु वै न मेतच्छमयति ॥ ४ ॥

तदाहुः । एता मेवाहुतिं हुत्वायोत्तराणि  
हवींषि नाद्रियेतैतयैव तं काम माप्नोति यु मभि-  
काम मुत्तराणि हवींषि निर्व्वपतीति ॥ ५ ॥

स वा ऽअग्नये पवमानाय निर्व्वपति । प्राणो  
वै पवमानः प्राण मेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्देतयैवास्मिं-  
स्तद्दधात्यन्नं हि प्राणोऽन्न मेषाहुतिः ॥ ६ ॥

अथाग्नये पावकाय निर्व्वपति । अन्नं वै  
पावक मन्न मेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्देतयैवास्मिंस्तद्दधा-  
त्येषा ह्येव पत्यन्न मन्न माहुतिः ॥ ७ ॥

अथाग्नये शुचये निर्व्वपति । व्वीर्य्यं वै शुचि  
यदा ऽअस्यैतदुज्वलत्येतदस्य व्वीर्य्यं शुचि व्वीर्य्यं  
मेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्देतयैवास्मिंस्तद्दधाति यदा ह्ये-  
वास्मिन्नेता माहुतिं जुहोत्यथास्यैतद् व्वीर्य्यं शुच्यु-  
ज्वलति\* ॥ ८ ॥

तस्मादाहुः । एता मेवाहुतिं हुत्वायोत्तराणि

\* 'ज्वलति' — इति प्र. ड ।

हवींषि नाद्रियेतैतयैव \* तं काम माप्नोति य मभिकाम मुत्तराणि हवींषि निर्व्वपतीति तदु निर्व्वपे-  
देवोत्तराणि हवींषि परोऽन्न मिव वा ऽएतद्यद-  
स्तदिद मित्तीव ॥ ९ ॥

सु यदग्नेये पवमानाय निर्व्वपति । प्राणा वै पवमानो यदा वै जायतेऽथ प्राणोऽथ यावन् न जायते मातुर्व्वैव तावत् प्राण मनु प्राणिति यथा वा तुज्जातु ऽएवास्मिन्ने तत् प्राणं दधाति ॥ १० ॥

अथ यदग्नेये पावकाय निर्व्वपति । अन्नं वै पावकं तुज्जातु ऽएवास्मिन्ने तदन्न दधाति ॥ ११ ॥

अथ यदग्नेये शुचये निर्व्वपति । व्वीर्य्यं वै शुचि यदा वा ऽअन्ने न व्वर्द्धतेऽथ व्वीर्य्यं तदन्ने नैवैन मेतद् वर्द्धयित्वाथास्मिन्ने तद् व्वीर्य्यं शुचि दधाति तस्मादग्नेये शुचये ॥ १२ ॥

तद्देतदेव सद्विपर्य्यस्त मिव । अग्निर्ह यन्न देवेभ्यो मनुष्यानभ्युपाववर्त्त तद्देक्षाञ्चक्रे मैव सर्व्व-  
णोवात्मना मनुष्यानभ्युपावृत मिति ॥ १३ ॥

सु एतास्तिस्मस्तनूरेषु लोकेषु व्विन्यधत्त ।

\* 'तुतयैव'— इति च इथो डा० वेवरेण ।



युदस्य पुत्रमानं रूपं मासीत्तदस्यां पृथिव्यां न्यध-  
त्ताथ यत् पावकं तदन्तरिक्षेऽथ यच्छुचि तद् दिवि  
तद्वा ऽऋषयः प्रतिबुबुधिरे य ऽउ तर्ह्युषय आसुर-  
सर्वे ॥ वै न आत्मनाग्निरभ्युपावृतदिति \* तस्मा ऽए-  
तानि हवींषि निरवपन् ॥ १४ ॥

स युदमनये पुत्रमानाय निर्व्वपति । युदेवा-  
स्यास्यां पृथिव्यां रूपं तदेवास्त्रैतेनाप्रोत्यथ युद-  
मनये पावकाय निर्व्वपति युदेवास्यान्तरिक्षे रूपं तदे-  
वास्त्रैतेनाप्रोत्यथ युदमनये शुचये निर्व्वपति युदे-  
वास्य दिवि रूपं तदेवास्त्रैतेनाप्रोत्येवमु क्तस्त्रमेवाग्नि-  
मनपनिहित माधत्ते तस्मादु† निर्व्वपेदेवोत्तराणि  
हवींषि ॥ १५ ॥

केवलबर्हिः‡ प्रथमं हविर्भवति । समान-  
बर्हिषी ऽउत्तरे ऽअयं वै लोकः प्रथमं हविरथेद  
मन्तरिक्षं द्वितीयं द्यौरेव तृतीयं बहुलेव वा ऽइह  
पृथिवी लेलयेवान्तरिक्षं लेलयेवासी द्यौरुभे

\* 'वृत्तदिति'— इति ख ।

† 'तस्मादु'— इति च दृश्ये डा०-तेवरेण ।

‡ अत्रैव द्वेदचिह्नः (।) क-पुस्तके ।

चिदेनां प्रत्युद्यामिनी\* स्ता मिति तस्मात् समान-  
बर्हिषि ॥ १६ ॥

अष्टाकपालाः सर्व्वे पुरोडाशा भवन्ति । अष्टा-  
क्षरा वै गायत्री गायत्र मग्नेऽच्छन्दः स्त्रेनैवैन मेतच्छन्द-  
साधत्ते तानि सर्वाणि चतुर्व्विंशतिः कपालानि  
सम्पद्यन्ते चतुर्व्विंशत्यक्षरा वै गायत्री गायत्र  
मग्नेऽच्छन्दः स्त्रेनैवैन मेतच्छन्दसाधत्ते गायत्रो याग्या-  
नुवाक्या भवन्ति गायत्र मग्नेऽच्छन्दः स्त्रेनैवैन मेत-  
च्छन्दसाधत्ते† ॥ १७ ॥

अथादित्यै चरुं निर्व्वपति । प्रच्यवत ऽद्वव  
वा ऽएषोऽस्माल्लोकाद्य एतानि हवींषि निर्व्वपती-  
मान् हि लोकान्त्वमारोहन्नेति ॥ १८ ॥

स यदुदित्यै चरुं निर्व्वपति । इयं वै पृथिव्यु-  
दितिः सेयं प्रतिष्ठा तदद्या मेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रति-  
तिष्ठति तस्मादुदित्यै चरुं निर्व्वपति ॥ १९ ॥

तस्यै विराजौ संयाज्ये स्याता मित्याहुः । विरा-

\* 'प्रत्युद्यामिनी'— इति घ ।

† 'गायत्रो— ०साधत्ते'— इत्येष ग्रन्थभागे च-पुस्तके नास्ति ।

द्वीय\* मित्यथो त्रिष्टुभौ त्रिष्टुव्भीय मित्यथो जगत्थौ  
जगती हीय मिति विराजावित्येव† ख्याताम् ॥ २० ॥

तस्यै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव वा ऽद्वयं मनु-  
ष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे माता धेनुर्मातिव वा  
ऽद्वयं मनुष्यान् विभर्त्ति तस्माद् धेनुर्दक्षिणैतन्वे क‡  
मयनम् ॥ २१ ॥

अथेदं द्वितीयम् । आग्नेयु मेवाष्टाकपालं पुरो-  
डाशं निर्व्वपति परोऽक्ष मिव वा ऽएतद्यदग्नये  
पवमानायाग्नये पावकायाग्नये शुत्रय ऽद्वृतीवा-  
थाञ्जसैवैन मेतत् प्रत्यक्ष माधत्ते तस्मादग्नयेऽथादित्यै  
चरुं निर्व्वपति स यु एव चरोर्व्वभ्युः स बभ्युः ॥ २२ ॥ ५ ॥  
॥ इति प्रथमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [२.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

आदित आरभ्यैतावत्पर्यन्तं तात्पर्यार्थ्याभिधानविनियोगादि  
प्रदर्शनपुरस्सरं वाक्ययोजनं कृतम् ; उपरिनाध्यायगतानि

\* 'द्वीय'— इति क, ख, ग । † 'त्रिष्टुवु'— इति क, ख, ग ।

‡ 'तन्वेक'— इति क, ग ; 'तं न्वेक'— इति ख ।

§ 'तत्राध्यायगतानि'— इति च ।

यानि वाक्यानि, तानि समानन्यायतया \* पूर्ववदेव योजयितुं शक्यानीति ग्रन्थविस्तरभयात् केवलं प्रकटार्थकथनं विषमपद-  
विवरणं च क्रियते ।

एवं गार्हपत्याद्यग्निषु स्वरूपेण सिद्धेषु क्षुधितस्याग्नेः शमनाय  
पूर्णाहुतिं विधत्ते— “उद्धृत्याहवनीय मित्यादिना †” ॥ १ ॥

“स एतेनान्नेन शान्त इति । “शश्वद् वा अध्वर्युं मिति ।  
अग्नौ खल्वग्निः ‘शश्वत्’ ध्रुवम् अध्वर्युयजमानयोरन्यतरं  
प्रदहेत् ; ‘ती’ खलु ‘अस्य’ अग्नेः ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमम्,  
समीपे सञ्चरेते इत्यर्थः । “अन्तिकवाटयोर्नेदसाधौ”—इती-  
ष्ठानि अन्तिकस्य नेदादेशः ‡ ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

मन्त्ररहितेन स्वाहाकारमात्रेण हीम मुपपादयति— ‘यां  
वा इति । पुरा खलु प्रजापतिः पुरुषाश्वादि§—सर्वजगत्-  
सर्जनहेतुभूतां ‘प्रथमा माहुतिं’ स्वाहाकारेणैव ‘अजुहोत्’,  
‘एषा’ अपि पूर्णाहुतिः तथा क्रियमाणा ‘निदादेन’ ( निदान-  
भूतेन ¶ ) कारणेन ‘सो खित्’ सैव, प्रजापतिना हुता प्रथमा-  
हुतिः खल्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

पूर्णाहुतेः सकलकामावाप्तिहेतुत्वं माह— तदाहुतिरिति ।  
‘यं’ ‘कामम्’ ‘अभि’-लक्ष्य ‘उत्तराणि’ पवमानादीनि ‘हवींषि’

\* ‘सोमानं घायतया ( १ )’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. ५ क । “ऊद्धरेति यजमानो ब्रूयात् साय-  
म्प्रातरग्निहोत्रे । गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरणं मगस्तमितानुदितयोः”—  
इति च का० श्रौ० सू० ४. १२. १, २ । ‡ पा० सू० ५. ३. ६३ ।

§ ‘पश्वादि’— इति च । ¶ नास्त्येतत्पदं च पुस्तकादन्यत्र ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. १०. ५ ख ।

निरूप्यन्त । 'तं' कामम् 'एतथैव' पूर्णाहुत्या प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

तत्प्राप्तिकारणमाह — "स वा इत्यादिना \* । पवमानश्च विभिर्जातेऽग्नौ प्राणान्नवीर्या यथाक्रमं स्थाप्यन्ते । 'तत्' सर्वम् 'एतथैव' पूर्णाहुत्या ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥

तस्मादाहु रिति । भक्ष मेव सिद्धान्तयति — "उत्तराणीति । आधानान्तरभाषीनि अग्नये — पवमानाय — इत्यादीनि विधेयानीत्यर्थः । "परोक्ष मिव वेति । 'यद्दहः' † प्राणान्नवीर्यधारणं पूर्णाहुत्याग्नौ क्रियते, 'एतत्' 'परोक्ष मिव', पवमानेष्टिभिः 'तत्' ‡ इदम् इति इव' प्रत्यक्षत एव क्रियते ; पवमानपावकशुचिशब्दैः प्राणान्नवीर्याणां प्रतिपादनात् । अतस्माद्दृष्टयो नियमेन कर्त्तव्या इत्यर्थः ॥ ९ ॥

ता इष्टीर्विधायं प्रशंसति — "स यदित्यादिना । "प्राणा वै पवमान इति । पवनक्रिया हि वायुधर्मः, प्राणश्च वायुत्मक इति पवमानशब्देन तत्प्रतिपादनम् । एतेन चानिं विशिषन् प्राणमेवास्मिन् जातेऽग्नौ स्थापितवान् भवति । जननात् पूर्वन्तमातुर्मर्भावस्थस्य तु प्राणो मातुः प्राणादभिन्न इति न तत्पृथक् तद्व्यकरणपेक्षेत्यर्थः ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥

"अथ यदग्नये शुचय इति । "यदा वा अग्नेनेति । लौकिकदृष्टान्तकथनम् । "अग्नेनैवैन मिति । पावकेष्टिरूपेषाम्नेनानिं 'वर्द्धयित्वा' अग्नन्तर मेव 'अस्मिन्' अग्नौ अग्नया तृतीयेष्ट्या 'शुचि' दीप्यमानं 'वीर्यं' च धारयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

\* का० श्रौ० सू० ४, १०. ८, ६ ।

† 'यद्दहः' — इति च ।

‡ 'तत्' — इति च ।

“तद्वेतदिति । ‘तदेतत्’ सर्वं पूर्णाहुतिपक्षे ‘सत्’ विद्यमानमपि ‘विपर्यस्तमिव’ भवति । अतो नासौ पक्षो युक्त इत्यर्थः । न केवलमेतावदेवेष्टीनां \* प्रयोजनम्, अपि तु मनुष्यैराधीयमानस्याग्नेः कार्त्स्न्यं मप्याभिः सम्पद्यत इत्याख्यायिकापुरस्कारमाह — “अग्निर्हं यत्रेति । “अभ्युपाहतमिति । अभ्युपागममित्यर्थः । इतेर्लुङि उत्तमैकवचने व्युतादित्वात् च्चेरङ् १० ॥ १३ ॥

“स एतास्त्रिस्त इति ऽः । ‘सः’ अग्निर्हि मनुष्यान् प्रत्यागमनसमये ‘एताः’ पवमानपावकशुच्याख्याः ‘त्रिस्तः’ आत्मीयाः ‘तनूः’ पृथिव्यन्तरिक्षव्युल्लोकेषु यथाक्रमं निधाय ‘न’ ‘सर्वेषु’ कस्त्रेणैव ‘आत्मना’ स्वरूपेण अस्मान् ‘अभि’-लक्ष्य ‘उपाहतत्’ उपागमत् । ‘इति’ इममर्थम् ‘ऋषयः’ अबुध्यन्त । ‘तस्मै’ अग्नये कार्त्स्न्यसम्पादनाय पवमानहवींषि निरवपन्नित्यर्थः ॥ १४ ॥

“स यदग्नये पवमानायेत्यादि, स्पष्टम् । “अनपनिहितमाधत्त इति । यत् पृथिव्यादिवृष्मिना निक्षिप्तमात्मीयं रूपम्, तद् आभिः पवमानेष्टिभिः खीकृत्य ‘कस्त्रमेव’ तम् ‘अग्निम्’ आहितवान् भवतीत्यर्थः । “तस्मादिति, निर्वापपक्षनिगमनम् । कात्यायनोऽपि “द्वादशाह्नास्ते तनूहवींषि निर्वपति”—इति ऽ तनुरुपपवमानेष्टिनिर्वापं प्रक्रम्य “सद्यो वा न वा”—इत्यकरणपक्षमपि ॥ सूत्रयामास ॥ १५ ॥

\* ‘मेतावदेष्टीनां’— इति च ।

† पा० सू० ३. १. ५५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. ११ । § का० श्रौ० सू० ४. १०. ७ क ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. १०. ७ ग ।

“केवलबर्हिर्हिति । अग्नये पवमानायैतत् यत् ‘प्रथमं हविः’, तत् ‘केवलबर्हिः’ यजनम्, न साधारणं तन्वयुक्तं कर्त्तव्यम्; हविरन्तरेण न समुच्चित्यानुष्ठेयमित्यर्थः । “समानबर्हिषी इति । ‘उत्तरे’ तु हविषौ समानतन्त्रे कार्ये इत्यर्थः । तदेतद् द्वयमुपपादयति — “अयं वा इत्यादिना । “लेख्ये-वान्तरिक्षमिति । लीनमिव ह्यन्तरिक्षं नीरूपत्वात् । तथा ‘द्वी’ अपि विप्रकृष्टत्वात् लीयमानैव भवति । अत एते ‘उभे’ अपि ‘एनां’ पृथिवीं ‘प्रति’ ‘उद्यामिनो स्नाम्’ बाधितुमुद्युक्ते भवेताम् । अतः प्रथमं हविः पृथक्कृतन्त्रं कार्यम्, उत्तरे तु समानतन्त्रे कार्ये इति । निगमयति — “तस्मादिति ॥ १६ ॥

“अष्टाकपालाः सर्व इत्यादि, स्पष्टम् । “गायत्री याज्या-नुवाक्या भवन्तीति । यागान्तरेषु \* हि पुरोनुरावाक्या गायत्री, याज्या त्रिष्टप्; अत्र तु पुरोनुरावाक्या याज्याः सर्वा गायत्राः कर्त्तव्याः । अतएवाश्वलायनेन तथैव सूत्रितम् — “अन आर्युषि पवसेऽग्ने पवस्व स्वपाः ० — ० स नः पावक दीदिवोऽग्ने पावक रोचिषाग्निः शुचिप्रततम उद्यदग्ने शुचय-स्तुवेति † ॥ १७ ॥

“अथादित्यै चरुमिति ‡ । “इमान् हि लोकान्त्समारोह-न्वेतीति । पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान्त्सकानि पवमानहवींषि क्रमेण निर्वपंस्तद्द्वारा इमानेव पृथिव्यादिलोकान् सोपानक्रमेण सस्य-गारोहन्नस्मात्सोकात् ‘प्रच्यवते’ । अतस्तत्परिहारायादित्येष्टिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ १८, १९ ॥

\* ‘यागान्तरेष्ठा’— इति च । † आश्व० श्रौ० सू० २. १. २०—२५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. १० ।

“तस्यै विराजौ संयाज्ये इति । “प्रेहो अग्नेः”-“इमो अग्ने”† इत्येते खिष्टकतो याज्यानुवाक्ये ‘स्याताम्’ इत्यर्थः । “विराजाचित्वेवेति, तु-शग्देन त्रिष्टुब्जगतीपक्षी व्यावर्त्तेते ॥ २० ॥

“तस्यै धेनुरिति ‡ । “एतन्वेक मथन्मिति । पवमानिष्टियजताम् ‘एतत् नु एकम्’ अनुष्ठानस्य विधानम् ॥ २१ ॥

अन्यदप्यस्तीत्याह— “अथेद मिति । “आग्नेय”मेवेति । न तु पवमानादिविशेषण मादरणीय मित्येवकारार्थः । “परोक्ष मिव वा इति । पवमानादिविशेषणैर्विशेष्यमाणोऽग्निस्तत्र वैशिष्ट्यद्वारा पारोक्ष्य मापद्यते ; अतस्तत्परिहारेण ‘अञ्जसा’ ऋजुनैव मार्गेण केवलान्नये निर्वपन् तं प्रत्यक्षत एव स्वीकरोतीत्यर्थः । अस्मिन्नपि पक्षे अदित्ययागः कर्त्तव्य इत्याह— “अथादित्या इति । “स य एवेति । प्रागुक्तब्राह्मणातिदेशः ॥ २२ ॥ ५ [ २. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

घ्नन्ति वा ऽएतद्यज्ञं । यदेनं तन्वते युन्विवऽ

\* ऋ० सं० ७. १. ३ ( सां० सू० २. २. १५. ) ।

† ऋ० सं० ७. १. १८ ( सां० सू० २. २. १५. ) ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. १४ ।

§ ‘युन्विव’— इति क, ग ; ‘युं न्विव’— इति ख ।



राजान मभिषुखन्ति तत्तं\* घ्नन्ति यत् पशुः सञ्ज्ञप-  
यन्ति विश्वासति तत्तं† घ्नन्त्यलूखलमुसलाभ्यां द्वि-  
दुपलाभ्यां हविर्यज्ञं ‡ घ्नन्ति ॥ १ ॥

सु एषु यज्ञो हतो न ददत्ते । तं देवा दक्षि-  
णाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा  
नाम तद्यदेवात् यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्यैत-  
द्दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति तस्माद्  
दक्षिणा ददाति ॥ २ ॥

ता वै षड्§ दद्यात् ॥ षड् वा ऽऋतवः संव-  
त्सरोस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो  
यावत्स्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥ ३ ॥

द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरोस्य  
संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो याव-  
त्स्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥ ४ ॥

चतुर्विंशतिं दद्यात् । चतुर्विंशतिर्वै संव-  
त्सरोस्यार्द्धं मासाः संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः यावानेव

\*, † 'तत्तं'— इति क ।

† 'ज्ञं'— इति क । "हविर्यज्ञं"— इति च इष्टो.डा०-वेवरेण ।

§ 'षट्'— इति क ।

¶ 'दध्यात्'— इति ग ।

यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयत्येषा मात्रा  
दक्षिणानां दद्यात् त्वेव\* यथाशङ्कं भृयसीस्तद्यदक्षिणा  
ददाति ॥ ५ ॥

इया व्वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये  
ब्राह्मणाः अशुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तुषां  
द्वेधा† व्विभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा  
मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुषा मनूचानाना  
माहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्य-  
देवान् ब्राह्मणाञ्कुश्रुवुषोऽनूचानांस्तु एन मुभये  
देवाः प्रीताः सुधायां दधति ॥ ६ ॥

तद्यथा योनौ रेतो दध्यात् । एव मेवैतद्व-  
त्विजो यजमानं लोके दधति तद्यदेभ्य एतद्  
ददाति ये मेदुः सम्प्रापिपन्निति नु दक्षिणा-  
नाम् ॥ ७ ॥

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः  
पस्पृधिरे तु उभय एवानात्मान आसुर्मर्त्या द्वासु-  
रनात्मा हि मर्त्यस्तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवामृत

\* 'दद्यान्वैव'— इति च दृष्टो डा०-नेबरेण ।

† 'द्वेधा'— इति घ, ङ ।

आस त्त् ह स्नाभयेऽमृत मुपजीवन्ति स यत्त् ह  
 स्रैषां\* घ्नन्ति तद् स्रैव† स भवति ॥ ८ ॥

ततो देवाः । तनीयात्स इव परिशिशिषिरे  
 तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुतासुरान्त्सपत्नान् मर्त्या-  
 नभिभवेमेति त् एतदमृत मग्न्याधेयं दृष्टशुः ॥ ९ ॥

ते होचुः । हुन्तेद् ममृत मन्तरात्मन्नाद्धा-  
 महै त् इद् ममृत मन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वा-  
 स्तर्या भूत्वा स्तर्यान्त्सपत्नान्मर्त्यानभिभविष्याम  
 इति ॥ १० ॥

ते होचुः । उभयेषु वै नोऽयु मग्निः प्रत्वे वा-  
 सुरेभ्यो ब्रवामेति ॥ ११ ॥

ते होचुः । आऽ वै व्वयु मग्नी धास्यामहेऽथ  
 यूयं किं करिष्यथेति ॥ १२ ॥

ते होचुः । अथैनं व्वयं न्येवऽ धास्यामहेऽन्न

\* 'स्रैष' इति क, ग; डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'स्रैवै'— इति घ, ङ ।

‡ 'होचु'। रा'— इति ग । तत्पुस्तके त्विव मेव विच्छेदेऽपि सन्धि-  
 रूपं सर्वत्र ( पूर्वत्र च परत्र च ) दृश्यते ।

§ 'न्येव'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

दृणानि दहात् दारुणि दहात्तीदनं पचात्र मांस्  
पचेति स यं त मसुरा न्युदधत तेनानेन मनुष्या  
भुञ्जते ॥ १३ ॥

अथैनं देवाः । अन्तरात्मन्नादधत त उद्रम  
ममृत मन्तरात्मन्नाधायामृता भुत्वाऽस्तुर्या भूत्वा  
स्तुर्यान्त्सपत्नान्मर्त्यानिभ्यभवंस्तथो ऽएवैष एतदमृत  
मन्तरात्मन्नाधत्ते नामृतत्वस्याशक्ति सर्वं मायु-  
रेत्यस्तुर्या ह्यैव भवति न ह्यैनं सपत्नस्तुर्षमाण-  
श्च न स्तृणुते तुस्माद् यदाहिताग्निश्चानाहिताग्निश्च  
स्पर्द्धते ऽआहिताग्निरेवाभिभवत्यस्तुर्या हि खलु स  
तर्हि भवत्यमृतः ॥ १४ ॥

तद्यत्नेन मदो मन्यन्ति । तज्जात मभि-  
प्राणिति प्राणो वा ऽअग्निर्जात मेवैन मेतत्सन्तं  
जनयति स पुनरपानिति तदेन मन्तरात्मन्नाधत्ते  
सोऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥ १५ ॥

तु मुद्दीप्य समिम्बे । इह यच्च ऽइह सुकृतं  
करिष्यामीत्येवैन मेतत् समिम्बे योऽस्यैषोऽन्तरात्म-  
न्नग्निराहितो भवति ॥ १६ ॥

अन्तरेणागाद् व्यहतदिति । न ह वा ऽअस्यैतं

कश्चनान्तरेणैति यावज्जीवति योऽस्यैषोऽन्तरात्म-  
 न्नग्निराहितो भवति तस्माद् तन्नाद्रियेत यदनु-  
 गच्छेन्न ह वा ऽअस्यैषोऽनुगच्छति यावज्जीवति  
 योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥ १७ ॥

ते वा ऽएते प्राणा एव यदन्नुयः । प्राणो-  
 दानवेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च व्यानोऽन्वाहार्य-  
 पचनः ॥ १८ ॥

तस्य वा ऽएतस्याग्न्याधेयस्य । सत्यं मेवो-  
 पचारः स युः सत्यं वृद्धति यथाग्निं समिद्धं तं  
 घृतेनाभिषिञ्चेद्देवुं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो  
 भूय एव तेजो भवति श्रुः-श्रुः श्रेयान् भवत्यथ यो-  
 ऽनृतं वृद्धति यथाग्निं समिद्धं तं मुदकेनाभिषिञ्चे-  
 देवुं स जासयति तस्य कनीयः-कनीय एव तेजो  
 भवति श्रुः-श्रुः पापीयान् भवति तस्माद् सत्यं  
 मेव वदेत् ॥ १९ ॥

तद्\* हाप्यरुणा† मौपवेशि‡ ज्ञातय ऊचुः ।

\* 'तद्'— इति घ, ङ ।

† 'हाप्यरुण'— इति घ, ङ ।

‡ 'मौपवेशि'— इति ग; क-ख ग पुस्तकेष्वित उत्तर मेव श्लेः (१) ।

स्युविरो\* वा ऽअस्यग्नी ऽआधत्स्वेति मु होवाच ते मैतुद्  
 ब्रूथ व्वाचंयमु एवैधि न वा ऽआहिताग्निनानृतं  
 व्वदितव्यं न वुदञ्जातु† नानृतं व्वदेत्तावत् सत्यमेवो-  
 पचार इति ॥ २० ॥ ६ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम् [ २. २. ] ॥

षड्हादशादिदक्षिणा आधानस्य विधास्यन् तन्नाम निर्वक्तुं  
 प्रसीति — “घ्नन्तीति । “यदेनं तन्वत इति । समान्येनोक्तं  
 विभजति — “यन्वेवेति । यज्ञे सोमाभिषवपशुसञ्जपनाव-  
 हननादिकरणात् तद्वारा तत्सम्बन्धो यज्ञ एव हतो भवती-  
 त्यर्थः ॥ १ ॥

“स एष यज्ञ इति । “न ददक्ष इति । फलं जनयितुं  
 न शशाकेत्यर्थः । ‘अदक्षयन्’ दक्षं समर्थं मकुर्वन् । “तद्येन  
 मित्यादि, दक्षिणानामनिर्वचनम् । एवं पुराहृतं सुपन्यस्य  
 प्रकृते योजयति — “तद्यदिति ॥ २ ॥

“ता वा इति, दक्षिणादानविधिः । हादशचतु-  
 विंशतिपक्षावत्र वैकल्पिकी द्रष्टव्यी । अतएवोक्तं सूत्रकृता—  
 “षट् दक्षिणाः प्रविभज्य ददाति, हादश, चतुर्विंशतिं वा”—  
 इति ‡ । आपस्तम्बोऽप्याह स्र — “षड् देया हादश देया-

\* ‘ऊचु स्युविरो’— इति क, ख, ग ।

† ‘वुदन् जातु’— इति घ, ङ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १०. १२ ।

अतुर्विश्रुतिर्देया इति ता विकल्पान्ते”—इति \* । “एषा मात्रेति । एतद् दक्षिणानां परिमाणमित्यर्थः । इतीऽधिकमपि यथाविभवमिच्छानुसारेण देयमिति विधत्ते—“दद्यात् त्वेवेति † ॥ ३, ४, ५ ॥

“हया वा इति । द्वैविध्यमेव दर्शयति—“देवा अह्वेवेति । अन्यादिदेवरूपा एव देवाः केचित्, अपरे तु ब्राह्मणरूपाः । देवा विशिष्यन्ते—“शशुवांस इत्यादिना । “शशुवांसः” बहुश्रुताः, ‘अनूचानाः’ साङ्गवेदाध्ययनेन ज्ञातार्थानुष्ठानपराः । एते मनुष्यरूपा देवाः । अत एव तैत्तिरीयकम्—“एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः”—इति ‡ । यथा आहुतिभिरग्न्यादिदेवानां प्रीतिर्यज्ञे, एवं मनुष्यदेवान् प्रीणयितुं दक्षिणादानमित्यर्थः ॥ ६ ॥

“तद्यथा योनाविति । यथा गर्भाशये सिक्तं रेतो गर्भरूपेण परिणमति, न व्यर्थी भवति ; एवमेव त्विजो यजमानं कर्मफले स्वर्गलोके स्थापयन्तीत्यर्थः । “ये मेदमिति । ‘ये’ खलु ऋत्विजो ‘मा’ माम् ‘इदं’ कर्मफलं ‘सम्प्रापिपन्’ सम्यक् प्रापितवन्तः ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणैभ्यो दक्षिणा देयेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथाधानस्य भ्रातृव्यजयहेतुत्वं वक्तुमाख्यायिका माह—“देवाञ्चेति । “अनात्मन आसुरिति । आत्मज्ञानरहिता अविवेकिनो जाताः । अनात्मत्वादेव ‘मर्त्याः’ मरणधर्माश्च

\* व्याप० श्रौ० सू० ५. २०. १३. १४ ।

† ‘भूयसीञ्च यथाश्रद्धम्’—इति का० श्रौ० सू० ४. १०. १३ ।

‡ तै० सं० १. ७. ३. २ ।

सञ्जाताः । 'तेषु' भूतेषु देवासुरेषु 'मर्त्येषु' सक्तु 'अग्निरेव' अमरणशीलः 'आस' । "यं ह स्मैषा मिति । 'एषां' देवानां मध्ये 'यम्' एव असुराः 'घ्नन्ति', 'तत्' तत्र सर्वहृत् \* एव 'भवति' ॥ ८ ॥

"ततो देवा इति । एवं क्रमेणासुरैर्हतेषु देवाः अल्पीयांस एव परिशिष्टा बभूवुः । 'ते' देवाः 'अर्चन्तः' तपस्यन्तः, 'आम्यन्तः' अमं प्राप्नुवन्तः 'चेत्' । त एतदित्यादि, स्पष्टम् ॥ ९ ॥

"ते होचुरिति । "अमृत मन्तरात्मन्निति । मरणरहित मग्निम् 'आत्मनि' हृदये आधाय वय मप्यमृता भूताः, अत एव 'अस्तर्थाः' अहिंसाश्च भूता इत्यर्थः ॥ १० ॥

"ते होचुरिति । "उभयेषु वा इति । देवासुरेषु 'उभयेषु' अस्मासु स्थितः, 'अय मग्निः' अतः 'असुरेभ्यः' निवेद्यैवात्माभिः स आधातव्य इति विचारितवन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥

"ते होचुरित्यादि, निगदसिद्धम् ॥ १२ ॥

"ते होचुरिति । "न्येव धास्यामहे इति । यदि यूयं देवा अग्निं धास्यध्वम्, तर्हि वय मपि त मेवानिं धास्यामहे । "दृणानि दह"—इत्याद्यसुरवाक्यम् । हे अग्ने ! पृथिव्यां दृणानि दह, दारुणि दहेत्येव मग्निं प्रेषयन्तो भूमौ त मस्थापयत् ॥ १३ ॥

"अथैन मित्यादि । 'देवाः' तु 'एनम्' अग्निम् 'आत्मन्' आत्मनि, 'अन्तः' हृदयमध्ये 'आधाय' यथासङ्कल्प मकृषतेत्यर्थः ।

आख्यायिकासिद्ध मर्थं प्रकृते योजयति — "यथो एवैष

\* 'य स हृत्'— इति च ।



इति । “अस्तुर्यो हीति । अमृतरूपान्निधारणेन यस्मात्  
आहिताग्निरहिंस्यः, तस्माद् विवदमानोऽभावनाहिताग्नि मभि-  
भवितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वग्निर्गार्हपत्याशायतने बहिराधीयते, कथं तस्यान्त-  
र्द्धारण मिति, तत्राह — “तद्यत्रेति । “अभिप्राणितौति । मन्य-  
नात् ‘जातं’ ‘तम्’ अग्निम् ‘अभि’ उपरि प्राणनं करोति । “स  
पुनरपानितौति । अग्नेर्हीपरि श्वासं मुत्सृज्य, तमेव श्वासं  
पुनरन्तर्नयेत् । तंन सार्द्धं मग्निरपि अन्तः प्रविशन्  
यजमानस्य हृदये आहितो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

नियतस्यावाह्यस्याग्नेरुद्दीपनं समिन्धनं विधत्ते — “त मिति ।  
उद्दीपनं काष्ठप्रक्षेपः, समिन्धनं सम्यक् प्रज्वलनम्, तदुभय मन्त-  
रग्नौ \* दर्शयति — “इहेति । ‘इह’ अस्मिन् बाह्येग्नौ ‘यद्ये’  
यागं कारिष्ये, तर्फलञ्च सम्पादयिष्यामीति यो मनोव्यापारौ  
सङ्गृह्यौ, ते एवान्तराहितस्याग्नेरुद्दीपनसमिन्धने इत्यर्थः । “यो-  
ऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवतीत्युपसंहारः ॥ १६ ॥

एव मन्तरग्नि मादधानस्य व्यवायादिदोषोऽपि नास्तीति  
प्रतिपादयति — “अन्तरेणेत्यादिना । अग्नियजमानयोर्मध्ये  
देवदत्तादेरागतेन च व्यवायादिभिः ‘व्यवृत्तत्’ व्याहृती विमुखो-  
ऽभूदिति यो दोषः, सोऽप्यत्र नास्ति । तत्र हेतु माह— “न  
ह वा इति । न खलु हृदयमध्ये स्थापितस्य अग्नेर्यजमानस्य  
च मध्ये कोऽपि गच्छति यावज्जीवम् ; अतो वृथा शङ्कान  
कार्येति । एवंविदुषोऽग्न्यनुगमनशङ्कापि न कार्येत्याह— “तस्मा-  
दिति । न ह वा अस्येति बाह्यस्याग्नेरनुगमेऽपि अन्तराहित-

\* ‘मान्तराग्नौ’— इति च ।

स्याग्नेर्यावज्जीव मवस्थानात्, न खल्वस्य यजमानस्यैषीऽग्नि-  
रनुगच्छत्युपशाम्यति ॥ १७ ॥

मन्वन्तर्गार्हपत्याद्यग्नयो न सन्ति, कथं तेषा मनुगम इत्यत  
आह— “ते वा इति । गर्हपत्यादीनां प्राणोदानव्यानात्मना-  
वस्थितत्वात् नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

आहिताग्निना सत्य मेव वदितव्यम्, न कदाचिदप्यनृत  
मित्युभयं प्रतिपादयति — “तस्य वेत्यादिना \* ॥ १९ ॥

एतत्सत्यवदनस्याग्निसमिन्धनहेतुत्व सृष्टिवाक्यसम्बन्धेन द्रष्ट-  
यति — “तदु हेति । ‘तत्’ तत्रोक्तविषयेऽपि खल्वेवं पूर्व-  
वृत्तान्तः सञ्जातः । उपवेशो नाम कश्चित्, तस्य पुत्रम् ‘अरु-  
णम्’ तदीयाः ‘ज्ञातयः’ उक्तवन्तः । किमिति— हे अरुण !  
‘स्थविरः’ वृद्धः ‘असि’ अत आसुष्मकसिद्धये अग्न्याधानं  
कुर्विति । स चैवं प्रत्युक्तवान् । कथं मिति— “मैतद् ब्रूथेति  
तद्वचनम् । ‘वाचंयम एवैधि’ वाग्यत एव भवति । कुत एवं  
प्रार्थ्यते ? तत्राह— ‘न वा इति । आहिताग्निना हि  
अनृतं न वदितव्यम् । वाग्व्यवहारं कुर्वतसु अनृतवदननिषेधो

\* एतस्याः कण्डिकाया व्याख्यानं मेव मकारि हरिस्वामिना— “तस्य वा  
एतस्येति । वाह्याभ्यन्तरस्याग्राधेयस्य ; तेषा माहिताना मग्नीनां वाह्या-  
भ्यन्तराणा मित्यर्थः । ‘सत्य मेव’ नानृतम्, उपधायाचरणं मुपचारः ; सत्येनैव  
पूतवचनेन ते अग्नी यज्ञे आधीयन्तेत्यर्थः । कथम् ? यः सत्यं वदति आहि-  
ताग्निः, स एन मग्नि माहित मन्तर्वह्निश्च घृतेनाभिषिञ्चति; अनृतवादी तूद्-  
केनाभिषिञ्चन् ‘जासयति’ । “जासु हिंसायाम्” । हिनस्ति चययति ।  
तस्य चाधातुरनेन कारणेनैव तेजसो वृद्धिहानी भवतः । तस्मादाहिताग्नेः  
रचणाय सत्यविधिः— इति ।

न सम्भवति । यस्मादेव ऋषिणोक्तम् -- “न वदन् जातु”-इत्यादि,  
तस्मात् सत्यवचन मेवाग्न्याधेयस्याङ्ग मित्यर्थः\*॥ २० ॥ ६ [२. २.]॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः † ॥

\* “अष्टतातिथ्यापनोद्पूतिदावाधानवींशपकनायुदकानि वर्जयेत्”—इति  
का० श्रौ० सू० ४. १०. १५ । “यजमानः आधानानन्तरं मेतानि यावज्जीवं  
वर्जयेत्”— इत्यादि च तत्र या० दे० ।

† “कण्डिकासङ्घा ११४”—इति क, ख, घ, ङ । “काण्डो ११४”—इति  
ग । तत्र १ ब्रा० १४ क०, २ ब्रा० १६ क०, ३ ब्रा० ६ क०, ४ ब्रा० ३० क०,  
५ ब्रा० २२ क०, ६ ब्रा० २० क० ; सङ्कलनया ११४ इति सिद्धम् ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

व्वरुणो हैन्द्राज्यकाम आदधे । सु राज्य मग-  
च्छत्तस्माद्यश्च वेद यश्च न व्वरुणो राजेत्येवाहुः  
सोमो यशस्कामः स यशोऽभवत्तस्माद्यश्च सोमै  
लुभते यश्च नोभावेवागच्छतो यश एवैतद् द्रष्टु माग-  
च्छन्ति यशो ह भवति राज्यं गच्छति यु एवं व्विद्वा-  
नाधत्ते\* ॥ १ ॥

अग्नौ ह वै देवाः† । सर्वाणि रूपाणि निद-

\* 'धत्ते'—इति घ, ङ ।

† 'वाः'—इति घ, ङ ।

धिरे यानि च ग्राम्याणि यानि चारुण्यानि व्विजयं  
 वोपप्रैष्यन्तः कामचारुख वा कामायायं नो गोपिष्ठो  
 गोपायदिति वा ॥ २ ॥

तान्यु हाग्निर्निचकमे । तैः सङ्गृह्यऽर्त्तून्  
 प्रविशेष पुनरेम इति देवा एदग्निं तिगोभूतं  
 तेषां हेयसेवास किमिह कर्त्तव्यं क्वेह प्रज्ञेति  
 वा \* ॥ ३ ॥

तत एतत् त्वष्टा पुनराधेयं ददर्श । तदादधे  
 तेनाग्नेः प्रियं धामोपजगाम सोऽस्मा उभयानि  
 रूपाणि प्रतिनिःससर्ज यानि च ग्राम्याणि यानि  
 चारुण्यानि तस्मादाहुस्वाष्ट्राणि वै रूपाणीति  
 त्वष्टुर्ह्यत्र सर्व्वं रूपं मुप ह त्वेवान्याः प्रजा यावत्सो  
 यावत्स † इव तिष्ठन्ते ‡ ॥ ४ ॥

तस्मै कं पुनराधेय मादधीत । एवुं हैवाग्नेः  
 प्रियं धामोपगच्छति सोऽस्मा उभयानि रूपाणि  
 प्रतिनिःसृजति यानि च ग्राम्याणि यानि चार-

\* 'प्रज्ञेतीव'— इति क. ख, ग ।

† 'यावच्छो यावच्छ'— इति क, ख, ग ; डा०-वेवरेण च इष्टः ।

‡ 'उपतिष्ठन्ते'— इति सा०-सम्मत इति डा०-वेवरः ।

ग्यानि तस्मिन्नेतान्यभयानि रूपाणि दृश्यन्ते पर-  
मता वै सा स्पृहयन्त्यु हास्यै तथा पुष्यति लोक्य-  
स्वेवापि ॥ ५ ॥

आग्नेयोऽयं यज्ञः\* । ज्योतिरग्निः पाप्मनो  
दग्धा सोऽस्य पाप्मानं दहति स ब्रह्म ज्योतिरेव  
श्रिया यशसा भवति ज्योतिरमुत्र पुण्यलोकत्वै-  
तन्न तद्यस्मादादधीत ॥ ६ ॥

स वै वर्षास्वादधीत । वर्षा वै सर्व्वऽऋ-  
तवो वर्षा हि वै सर्व्व ऽऋतवोऽथादो वर्ष मकुर्मादो†  
वर्ष मकुर्मेति संवत्सरान्त्वम्पश्यन्ति वर्षा ह‡ त्वेव  
सर्व्वेषा मृतूनाःॣ रूपं मृतं हि तद्वर्षासु भवति यदाहु-  
र्यीष्म ऽइव वा ऽअद्येत्युतो तद्वर्षासु भवति यदाहुः  
शिशिर ऽइव वा ऽअद्येति वर्षादिद्वर्षाः § ॥ ७ ॥

अथैतदेव परोऽक्ष्ण् रूपम्॥ । यदेव पुरस्ताद्वाति

\* 'यज्ञः'— इति घ, ङ ।

† 'द्यो'— इति ग ।

‡ 'हि'— इति च दृष्टो डा०-वेवरीश ।

§ 'र्षा'— इति घ, ङ ।

¶ 'पुम्'— इति घ, ङ ।

तद्वसन्तस्य रूपं यत् स्तनयति तद् ग्रीष्मस्य यदुर्षति  
 तद् वर्षाणां यद् विद्योतते तच्छरदो यद् वृष्टोद्-  
 गच्छति तद्धिमन्तस्य वर्षाः सर्वा ऽऋतव ऋतून्  
 प्राविशदतुभ्य एवैन मेतन्निर्भिर्ममीते ॥ ८ ॥

आदित्यस्त्वैव सर्वा ऽऋतवः । यद्वैवोदेल्यथ  
 वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ  
 वर्षा यदापराह्णोऽथ शरद्यद्वैवास्त मेत्यथ हिमन्त-  
 स्तस्माद् मध्यन्दिन ऽएवादधीत तर्हि क्षीणोऽस्य  
 लोकस्य नेदिष्ठं भवति तन्ने दिष्टादेवैन मेतन्मध्या-  
 निर्भिर्ममीते ॥ ९ ॥

क्षाययेव वा ऽअयं पुरुषः । पाप्मानानुषत्तः  
 सोऽस्यात्र कुनिष्ठो भवत्यधस्पद् मिवेयस्यते तत् कुनिष्ठ  
 मेवैतत्पाप्मानु मववाधते तस्माद् मध्यन्दिन ऽएवा-  
 दधीत ॥ १० ॥

तं वै दभैरुद्धरति । दारुभिर्वै पूर्वं मुद्धरति  
 दारुभिः पूर्वं दारुभिरपरं जामि कुर्यात्समुदं  
 कुर्याद्वापो दर्भा आपो वर्षा ऋतून् प्राविशदङ्गि-  
 रेवैन मेतदङ्गो निर्भिर्ममीते तस्माद्दभैरुद्धरति ॥ ११ ॥

अर्कपलाशाभ्याम् । व्रीहिसय मपूपं कृत्वा यत्

गार्हपत्य माधाख्यन् भवति तन्निदधाति तद्-  
गार्हपत्य मादधाति ॥ १२ ॥

अर्कपलाशाभ्याम् । यत्रमयमपूपं कृत्वा युत्रा-  
हवनीय माधाख्यन् भवति तन्निदधाति तदाहवनीय  
मादधाति पूर्वाभ्या 'मेवैनावेतदग्निभ्या मन्तुर्धम  
इति व्वदन्तस्तुदु तथा न कुर्व्याद्रान्निभिर्ह्वैवान्तर्हितौ  
भवतः ॥ १३ ॥

आग्नेय मेव पञ्चकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति ।  
तस्य पञ्चपदाः पङ्क्तयो याज्यानुवाक्या भवन्ति  
पञ्च वा ऽऋतव ऋतून् प्रविशद्वतुभ्य एवैन मेतन्निर्मि-  
मीते ॥ १४ ॥

सुर्व्व आग्नेयो भवति । एवञ् हि त्वष्टाग्नेः  
प्रियं धामोपागच्छत् तस्मात् सुर्व्व आग्नेयो  
भवति ॥ १५ ॥

तेनोपांशु चरन्ति । यद्वै ज्ञातये वा सख्ये वा  
निष्केवल्यं चिकीर्षति तिरुद्रव वैतेन\* बोभवद्वैश्वदेवो-  
ऽन्यो यज्ञोऽथैष निष्केवल्य आग्नेयो यद्वै तिरुद्रव  
तदुपांशु तस्मादुपांशु चरन्ति ॥ १६ ॥

\* 'इवैतेन'— इति घ, ङ ।



उच्चैरुत्तम मनुयाजं यजति । कृतकर्मैव हि  
स तर्हि भवति सर्वो हि कृत मनुबुध्यते ॥ १७ ॥

स आश्राव्याह । समिधो यजेति तदाग्नेयुं  
रूपं परोऽहं त्वग्नीन्यजेति त्वेव ब्रूयात्तदेव प्रत्यक्ष  
माग्नेयुं रूपम् \* ॥ १८ ॥

स यजति । अग्नेऽञ्जाज्यस्य व्यन्तु व्वीभ-  
ग्निराज्यस्य व्वेतु व्वीभग्निराज्यस्य व्यन्तु व्वीभ-  
ग्निराज्यस्य व्वेतु व्वीभगिति ॥ १९ ॥

अथ स्वाहाग्निमित्याह । आग्नेय माज्यभागं  
स्वाहाग्निं पवसान मिति यदि पवमानाय धिये-  
रन्तस्वाहाग्नि म्िन्दुमन्त मिति यद्यग्नेयऽइन्दुमति  
धियेरन्तस्वाहाग्निं स्वाहाग्नीनाज्यपञ्चषाणो †  
ऽअग्निराज्यस्य व्वेत्विति यजति ॥ २० ॥

अथाहाग्नेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्य-  
भागं सोऽन्वाहाग्निं स्तोमेन बोधय समिधानो  
ऽअमर्त्यम् । हव्या देवेषु नो दधदिति स्वपितृव  
खलु वा ऽएतद्यदुद्वासितो भवति सम्प्रबोधयत्येवैन

\* 'रूपम्'— इति क, घ, ङ ॥

† 'पान् जुषाणो'— इति घ, ङ ।

मेतत्समुदीर्यति\* जुषाणो ऽअग्निराज्यस्य व्वेत्विति  
यजति ॥ २१ ॥

अथ यद्यग्नये पवमानाय धियेरन् । अग्नये  
पवमानायानुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहाग्न ऽआयूष्णि  
पवस ऽआसुवोर्ज्ज मिषं च नः । आरे बाधस्व  
दुक्कुना मिति तथाहाग्नेयो भवति सोमो वै पव-  
मानस्तदु सौम्यादाज्यभागान्प्रयन्ति जुषाणो ऽअग्निः  
पवमान आज्यस्य व्वेत्विति यजति ॥ २२ ॥

अथ यद्यग्नय ऽइन्दुमते धियेरन् । अग्नय  
ऽइन्दुमतेऽनुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहेष्टू ऽषु ब्रवाणि  
तेऽग्न ऽइत्येतरा गिरः । एभिर्ब्रह्मास † ऽइन्दुभिरिति  
तथा हाग्नेयो भवति सोमो वा ऽइन्दुस्तदु सौम्या-  
दाज्यभागान्प्रयन्ति जुषाणो ऽअग्निरिन्दुमानाज्यस्य  
व्वेत्विति यजत्येव मु सर्व्व मागेयं करोति ॥ २३ ॥

अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति हविषः । अग्निं यजा-  
ग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूह्यग्निं स्विष्टकृतं यजेत्यथ यद्  
देवान् यजेत्यग्नीन् यजेत्येवैतदाह ॥ २४ ॥

\* 'दीर्घयति'— इति क ; 'दीर्घयति'— इति ख, ग ।

† 'ब्रह्मास'— इति घ, ङ ।

सु यजति । अग्नेर्व्वसुवने व्वसुधेयस्य व्वेतु  
 व्वीभगन्ता ऽउ व्वसुवने \* व्वसुधेयस्य व्वेतु व्वीभग्  
 देवो ऽअग्निः स्विष्टकृदिति स्वयु माग्नेयसृतीय एव  
 स्वाग्नेयाननुयाजान् करोति ॥ २५ ॥

ता वा ऽएताः† । षड् विभक्तीर्य्यजति चतस्रः  
 प्रयाजेषु द्वे ऽअनुयाजेषु षड् वा ऽऋतव ऋतून्  
 प्राविशदतुभ्य एवैन मेतन्निर्मिमीते ॥ २६ ॥

द्वादश वा त्रयोदश व्वाक्षराणि भवन्ति । द्वादश  
 वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः संवत्सर  
 ऋतून् प्राविशदतुभ्य एवैन मेतत् संवत्सरान्निर्मि-  
 मीते न द्वे चन सहाजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्  
 द्वे चित् सह स्यातां व्यन्तु व्वेत्विथेव प्रयाजानां  
 रूपं व्वसुवने व्वसुधेयस्येत्यनुयाजानाम् ॥ २७ ॥

तस्य हिरण्यं दक्षिणा । आग्नेयो वा ऽएष  
 यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा-  
 नड्वावा स हि व्वहेनाग्नेयोऽग्निदग्ध मिव स्यस्य  
 व्वहं भवति देवानां इत्यवाहनोऽग्निरिति

\* 'व्वसुवने'— इति ख ।

† 'ताः'— इति घ, ङ ।

वृहति वा ऽएषु मनुष्येभ्यस्तस्मादनङ्गान् दृष्टिणा  
॥ २८ ॥ १ ॥

॥ कृति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२.३.] ॥

अथ पुनराधेयं \* विधित्सुः स्वपक्षातिभूत मुक्त मन्वाधेयं  
प्रकृतिरूपार्थवादेन † राज्यशोहेतुत्वेन प्रशंसति— “वरुण इति ।  
“सोमो यशस्काम इति । आदध इत्यनुपङ्गः । उक्त मर्थं प्रकृते  
योजयति— “यशो हेति । ‘यशः’ यशस्वी भवतीत्यर्थः ‡ ॥ १ ॥

पुनराधेयं विधातु माख्यायिकया प्रस्तीति— “अग्नी हेति ।  
निधाने कारणानि वैकल्पिकानि त्रीण्युपन्यस्यति— “विजयं  
वेति । असुरान् विजेतु सुपगमनसमये पूर्वसिद्धान्याधान-  
स्यार्थं मर्थनिधान मित्येकः पक्षः । ‘कामचारस्य’ कामाय  
यथेच्छं क्रौडितुं सञ्चरणस्य यः कामः, तदर्थं वा तन्निधान मिति  
द्वितीयः । गृहे एव स्थितानां ‘नः’ अस्माकं देवानां मध्ये  
अथ मन्निः ‘गोपिष्ठः’ गोपायित्तमो रक्षणकुशलोऽस्मदीयं धनं  
गोपायितुं § रक्षितुं शक्नोतीत्यनेनाभिप्रायेण वा तन्निधान मिति  
द्वितीयः पक्षः ॥ २ ॥

\* “पुनराधेयं माधानाप्रतिज्ञातस्य”— इति का० श्रौ० सू० ४. १०. १ ।

† ‘प्रकृतिरूपार्थवादेन’— इति छ ।

‡ “राज्ययशस्कामस्य वा”— इति का० श्रौ० सू० ४. १०. २ ।

§ ‘गोपायतु’— इति च ।

“ताभ्यु हेत्यादि । ‘तानि’ देवैर्निहितानि ‘ग्राम्यारण्यानि’  
रूपाणि सः ‘अग्निः’ नितरां कामितवान्, अह मेवैतत् सर्वं सुप-  
भोक्ष्ये इति । ‘तैः’ निक्षेपैः सह विद्यमानं सर्वं सङ्गृह्य  
वसन्ताद्यान् ‘ऋतून्’ चोरादिः पर्वत मिव प्रविष्टवान् ( अन्तर्दधे\* )  
देवा अपि अस्मदीयं स्थानं ‘पुनः’ आगच्छामः ‘इति’ अनेनाभि-  
प्रायेण तं ‘तिरोभूतम्’ ‘अग्निम्’ आगच्छन् । पूर्वं यस्मिन्  
स्थाने सोऽग्निः स्थितः, तत्र त मपश्यतां ‘तेषां’ देवानां  
‘इयसा इव आस’ विहीनावस्थां प्राप † । अग्निरस्मदीयं सर्वं  
धन मपहृत्य गतः, ‘इह’ अस्मिन् विषये ‘किम्’ अस्माभिः  
‘कर्त्तव्यम्’, ‘का वा’ बुद्धिः ? ‘इति’ ॥ ३ ॥

“तत एतदिति । एवं विचारयतां मध्ये ‘ततः’ अनन्तर  
मेव ‘त्वष्टा’ ‘एतद्’ वक्ष्यमाणं ‘पुनराधेयं’ ‘ददर्श’ । “तदादध  
इत्यादि, निगदसिद्धम् । “उप ह त्वेवेति । ‘उप ह तु एव’ ।  
‘यावच्छः’ ‡ यावत्प्रकारविशिष्टं त्वाष्ट्रं रूपम् ‘अन्याः प्रजाः’  
‘उपतिष्ठन्ते’, तावत्यो जायन्ते इत्यर्थः । वीष्मा तु सर्व-  
सङ्गृहार्था ॥ ४ ॥

“तस्मा इति, पुनराधेयविधिः । यदाख्यायिकया प्रति-

\* नास्तीति तत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।

† इयसा=चिन्ता, इत्याह हरिश्चामी । प्रथमकाण्डेऽप्युक्तं तेन-  
‘इयस्’-शब्दोऽवसानवचनः कण्ठादिषु पठ्यत इति ( १भा० ६१० पृ० ) । तत्र  
तस्तु इयस्यते, इयसा, इयसित मिति त्रीण्यपि रूपाण्येकधातुजानि  
समानार्थानि । इहैवोत्तरत्र ( १० क० ) ‘इयस्यते’— इति च विवेच्यम् ।

‡ “यावच्छो यावच्छ इव । यावच्छब्दोऽल्पवचनः, अल्प मल्प  
मित्यर्थः”— इति हरिश्चामी ।

पक्षं प्रयोजनम्, अग्निप्रियधामोपगमनादिलक्षणम्, तदर्थं पुन-  
राधानं कुर्यादित्यर्थः । प्रथमाहितस्याग्नेः \* विधानान्तरेण  
पुनस्तेष्वायतनेषु स्थापनं पुनराधेयम् । “एवं हेत्यादि, निगद-  
सिद्धम् । “परमता वै सेति । येयं ग्रामारण्योभयप्राप्तिः ‘सा’  
‘परमता’ परमत्वं सर्वोक्तृष्टत्वम् । किञ्च ‘अस्मै’ पुनराधेयं  
कृतवते सर्वे जनाः ‘सृष्टयन्ति’ आद्रियन्ते । “सृष्टेरोष्मितः”—  
इति † सम्प्रदानसञ्ज्ञा ‡ । तथा अय मपि ‘लोक्यम्’ लोक-  
नीयम् उल्कर्षं प्राप्य ‘पुथति’ प्रष्टवो भवति ॥ ५ ॥

विहितं पुनराधेय मग्निसम्बन्धोपजीवनेन प्रशंसति—  
“आग्नेयोऽयं यज्ञ इति । ज्योतिरात्मको ह्यग्निः ‘पाप्मनः’ ‘दग्धा’  
दाहकः । अतः ‘सः’ अग्निः स्वसम्बन्धि-यज्ञं कुर्वतः ‘अस्य’  
पापं निर्दहति । “एतन्नु तदिति । यस्मै फलाय आदधीत,  
‘एतत्’ उक्तविधिफलं खलु ‘तत्’ इत्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य पुनराधेयस्य त्रैवर्णिकसाधारण्येन ऋतुविशेषं विधत्ते—  
“स वा इति । ऋत्वन्तरं परित्यज्य वर्षर्तुविधाने कारण  
माह— “वर्षा वा इति § । एतदुपपादयति— “वर्षा हि  
वा इत्यादिना । यस्मादेवं वर्षर्तुः सर्वात्मकः, तस्मात् समुदा-  
यात्मकं संवत्सरं वर्षशब्देन लोको व्यवहरतीति दर्शयति—  
“अथेति । सर्वर्तुरूपा वर्षा इति प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते—  
“वर्षा ह त्वेवेति । एतदुपपादयति— “तदिति । ग्रीष्म-

\* “प्रथम माहितस्याग्नेः”— इति च ।

† पा० सू० १. ४. ३६ ।

‡ ‘सृष्टेरोष्मिततम मिति सम्प्रदानसञ्ज्ञा’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ क ।

शिशिरधर्मयोः प्रकाशयैत्ययोः वर्षासु सद्भावात्, वर्षयोगाच्च \*  
वर्षर्त्तींस्तावदुभयात्मकत्वम् । तत्र † श्रीष्मे वसन्तस्य, वर्षासु  
शरदः, शिशिरे हेमन्तस्य, समानधर्मतयान्तर्भावात् सर्वर्त्तु-  
रूपत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवं प्रत्यक्षविषयं प्रकाशादिधर्मयोगेन सर्वत्र मभिधाय  
परोक्षधर्मवशादपि तत् प्रतिपादयति— “अथैतदिति । पुरो-  
वातादयो ‡ हि वसन्तादीनां परोक्षभूता धर्माः । तेषां च  
सर्वेषां वर्षासु सद्भावात् सर्वर्त्तुरूपतेत्यर्थः । “ऋतून् प्राविशदि-  
त्यादि । यस्मादग्निः प्रागुक्तरौत्या ऋतून् प्राविशत्, तस्मादेनं  
वर्षास्त्रादधानस्तेभ्य एवर्त्तुभ्यः पुनरुत्पादयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

तच्च पुनराधानमहनि मध्यन्दिने कार्यमिति § विधित्स्व-  
स्वदर्थमादित्यस्य सर्वर्त्तुरूपतामाह— “आदित्यस्त्ववेति ।  
प्रातः-सङ्गव-मध्याह्न-पराह्ण-सायङ्कालात्मकाः अङ्गोऽवयवाः सूर्य-  
सम्बन्धिनः पञ्चर्त्तवः ; तत्र वर्षास्त्राधानस्य विहितत्वात् तदात्मके  
मध्यन्दिने एव तत् कुर्यादित्यर्थः । तदेतन्मध्यन्दिनाधानं प्रशं-  
सति— “तर्हीति । ‘तर्हि’ तस्मिन् मध्यन्दिने समये ‘एषः’  
आदित्यः ‘अस्य लोकस्य’ ‘निदिष्टम्’ अन्तिकतमो ‘भवति’ ।  
सिद्धमन्यत् ॥ ९ ॥

प्रकारान्तरेण तन्मध्यन्दिनाधानं प्रशंसति— “ह्याययेवेति ।  
“सोऽस्येति । ‘अस्य’ पुरुषस्य ह्यायारूपः ‘सः’ पाप्मा ‘अत्र’

\* ‘घृथियोगाच्च (?)’— इति च ।

† ‘ततः’— इति च ।

‡ ‘पुरोवात इत्यादयो’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४, ११, ६ ख ।

अस्मिन् मध्यन्दिने 'कनिष्ठः' अल्पतमः 'भवति' । स च ( पाप्मा \* ) पुरुषस्य † पादयोरधस्तादिव 'इयस्यते' प्राप्नोति ‡ । "इण् गतौ"—इति धातुः § । "तत् कनिष्ठ मित्यादि सुगमम् ॥ १० ॥

तस्य पुनराधिक्षितस्याग्नेर्दर्भरे वोहरणं कार्यमिति ¶ विधत्ते— "तं वा इति । आधानवत् पुनराधानेऽपि दारुभिरुद्धरणे दोषमाह — "दारुभिः पूर्वं मिति ॥ । उभयोरैकरूप्ये जामितादोषः स्यात् । तथा 'समदं' दारुविषयं परस्परं तयोः कलहमपि जनयेदित्यर्थः । विहितं दर्भैरुद्धरणं प्रशंसति — 'आप इति । दर्भाणां मत्स्विकारत्वं प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम्— "ता उपर्युपर्यतिपुष्पविवरेऽत इमे दर्भाः"—इति \*\* ॥ ११ ॥

त्रीह्यवमयथोरपूपयोरर्कपर्णद्वयसङ्गृहीतयोर्गार्हपत्याहवनीयायतनयोर्निधानं विधत्ते — "अर्कपलाशाभ्यां मित्यादिना । अतएवोक्तं कात्यायनेन — "वर्षासु मध्यन्दिने वा कुशैराधानं

\* नास्म्येतत् पदं च-पुस्तकादन्वयः ।

† 'पुरुषरूपस्य'— इति च ।

‡ 'प्रद्वौति — इति च ।

§ अदा० प० १४ धा० । हरिस्वामिमते तु कण्ठादेरियण्शब्दजघाती-मेवेदं रूपम्; अतएवेह 'इयस्यते = अयसीदति'— इति व्याख्यातं तेन । १ भा० ६१० पृ० ५ पं० "इयमितं" द्रष्टव्यम्, द्रष्टव्यञ्चेहापि पुरस्तात् तृतीयकाण्ड्याम् ( ८४ पृ० ) 'इयसा'-पदव्याख्यानम् ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. ११. ७ ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ; "निधनेन"—इति च तत्र ४. ६. ११ ।

\*\* १ भा० ६०, ६५ पृ० ( १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ) द्रष्टव्यम् ।



व्रीह्यपूप मर्कपलागयोः पक्कं गार्हपत्यस्य स्थाने निदधात्येव  
माहवनीयस्य याव मिति \* ॥

अपूपनिधानस्य प्रयोजन माह — ‘पूर्वाभ्या मिति । पूर्वं  
माह्वितौ यौ गार्हपत्याहवनीयौ ताभ्या मित्यर्थः । तदेतन्निषे-  
धति— “तदु तथेऽि । “रात्रिभिर्होवेति । अनुगतयोः रात्रिभि-  
रेव व्यवधानात् नापूपव्यवधानेन प्रयोजन मित्यर्थः ॥ १२, १३ ॥

‘आग्नेय मेवेति । यदान्याधेयपवमानेष्टिकार्यम् †, तदा-  
ग्नेय एवकपालः करोतीति न पृथक्तया कर्त्तव्या इत्येवका-  
रार्थः ॥ १४ ॥

“सर्वं आग्नेयी भवतीति । अस्यां पञ्चकपालेष्टी आज्य-  
भागादिः सर्वोऽपि यागोऽग्निदेवस्यः कार्य इत्यर्थः ‡ ॥ १५ ॥

“तेनोपांशु चरन्तीति § । विहित सुपांशुत्व सुपपाद-  
यति — “ज्ञातये वेति । ‘यद्’ हुतं ‘निष्कवल्बम्’ इतरेभ्यो  
निष्कृथ केवलम्, तदेकभागं ‘चिकीर्षति’ कर्त्तुं मिच्छति,  
‘एतेन’ ‘तिर इव’ ‘बोभवद्’ भवति, तिरोहितं परोक्ष मेव तत्  
प्रदीयत इत्यर्थः । “यद्दे तिर इवेति । ‘यत्’ खलु तिरोहित-  
वत् ‘उपांशु’ भवति, उपांशुच्चार्यमाणस्यापि परश्चोत्राह्वत्वा-  
भावेन तिरोहितत्वादित्यर्थः ॥ १६ ॥

“उच्चैरुत्तम मनुयाजं करोतीति ¶ । यावत् ‘उत्तमः’

\* का० श्रौ० सू० ४. ११. ६-८ । “सद्यश्चेत्”—इति सूत्रशेषः ।  
‘चेददि सद्योऽग्नय उत्सृष्टास्तदायं विशेषः’— इति तट्टीकायां या० दे० ।

† ‘यद्गन्नाधेये पवमानादि कार्यम्’— इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ क ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ ख । ¶ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ ग ।

तृतीयः अनुयाजः, तावत्पर्यन्त मुपांशुस्वरः, तत ऊर्ध्वं मुञ्चे-  
रेव मत्र प्रयोग इत्यर्थः \* । तत्र कारण माह— “कृतकर्म-  
वेति ॥ १७ ॥

प्रयाजादिषु सर्वाग्नेयकरणं प्रतिपादयति— “स आश्राव्ये-  
त्यादिना । प्रथमप्रयाजे यत् “समिधो यज”—इति प्राकृतं  
वचनम् †, ‘तत् आग्नेयं रूपम्’; समिध्वनप्रत्यभिज्ञानात् ; किन्तु  
तत् ‘परोक्षम्’ । अतः समिध इत्येतस्य स्थाने “अग्नीन् यज”—  
‘इत्येव’ ब्रूयात् ॥ १८ ॥

प्रयाजयाज्यास्वपि क्रमेणाग्निविभक्तिं योजयति ‡— “स  
व्रजतीति । प्रकृतिषु याज्यासु आज्यशब्दात् पूर्वं ययाक्रमम्  
‘अग्ने’, ‘अग्निम्’, ‘अग्निना’, ‘अग्निः’— एताश्चतस्रो विभक्तीः  
विहिताः § ; एताभिर्यजेदित्यर्थः ¶ ॥ १९ ॥

पञ्चमप्रयाजानुयाजयो ॥ विशेष माह — “अथ स्वाहेति ।  
प्रकृतिवत् प्रथमाज्यभागदेवतां सङ्कीर्त्य द्वितीयाज्यभागदेवतायाः  
सोमस्य स्थाने अग्निः पवमानोऽग्निरिन्दुमान् वा अध्वर्युप्रयो-  
गानुसारेण विकल्पेन निर्द्देश्य इत्यर्थः । स्वाहा देवानाज्य-

\* यावद्विद्यादीनां स्थाने “उत्तमं तृतीयम्”—इत्येतन्मात्रमेव च-पुस्तके ।

† ‘बन्धनम्’— इति च ।

‡ ‘विभक्तियोजनं प्रतिपादयति’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ११, १२ ।

¶ अत्र मूले यद् वैभगित्यसकृदान्नातम्, तस्य व्याख्यानमिह नाकारि  
भाष्यकारेण कथमिति चिन्तनीयमेव ; पूर्वन्तु वैभगित्यस्य व्याख्यानं कृत-  
मेवेति तद् द्रष्टव्यम् ( १ भा० ४६० पृ० ३ पं० ) ।

॥ ‘पञ्चमप्रयाजानुयाज्यायां’— इति च ।

पानिति \* प्रयाजदेवतानिद्देशेऽपि “स्वाहाग्नीनाज्यपान्”-  
इति प्रयोक्तव्यम् ॥ २० ॥

“अथाहान्नय इति । प्रथमाज्यभागस्य “अग्निं स्तोमेन  
बोधय”-इति † बुधिधातुयुक्ता मनुवाक्यां दर्शयित्वा तस्याः  
पुनराधेयानुकल्प माह - “स्वपितीवेति । ‘समुद्दीर्ययति’  
समुद्गमयतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हितोयाज्यभागस्य प्रागुक्तपक्षद्वयेऽपि ‡ याज्यानुवाक्ये दर्श-  
यति— “अथ यदीत्यादिना । निगदसिद्धोऽर्थः ॥ २२ ॥

“अथ यद्यन्नय इति । “एव मु सर्व मिति । उक्तरीत्या  
प्रयाजाना माज्यभागयोश्चाग्निसम्बन्धकरणात् तत् सर्व मान्नेयं  
भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

आधानस्विष्टकृतोऽस्वग्निसम्बन्ध § इति दर्शयति— “अथा  
हान्नय इति । प्रथमप्रयाजवत् प्रथमानुयाजेऽपि “देवान् यज”-  
इत्यस्य स्थानि “अग्नीन् यज”-इत्यग्निविभक्तिः कार्या ¶ ॥ २४ ॥

तथा हितोयेऽप्यनुयाजे “अग्नाउ”-इति विभक्तिः प्रयोक्त-  
व्येति प्रतिपादयति— “स यजतीत्यादिना । “स्वय मान्नेय  
इति । ‘तृतीयः’ त्वनुयाजः ‘स्वय मान्नेयः’ स्वय मेवाग्निशब्द-  
वानिति न पृथक् तच्चाग्निविभक्तिः प्रक्षेप्तव्येत्यर्थः ॥ २५ ॥

एवं प्रयाजानुयाजेषु प्रक्षिप्ताः सम्भूयानूद्य प्रशंसति— “ता  
वा इति ॥ २६ ॥

\* ‘देवां व्याज्यपानिति’- इति च । † ऋ० सं० ५. १४. १ ।

‡ ‘प्रागुक्तपक्षदाहार्थ’- इति च ।

§ ‘अधुना स्विष्टकृतोऽप्यग्निः सम्बन्ध’- इति च ।

¶ का० श्रौ० सं० ४. ११. ११ ।

तासां विभक्तौना मक्षरसङ्ख्या मुपजीव्य प्रशंसति — “द्वादश वेति । ‘अग्नाउ’-इत्यत्रान्तिमाक्षरत्यागे सति द्वावशाक्षराणि भवन्ति, तेन सह त्रयोदश भवन्तीत्यर्थः । “न हे चनेति । चनशब्दोऽप्यर्थः \* । ‘हे’ अपि त्रच्यमाणे ‘न’ ‘सह’ प्रयुञ्जीत, किमर्थम् ? ‘अजामितायै’ जामितादोषराहित्याय । व्यतिरेके तत्सङ्गाव माह — “जामि हेति । के पुनस्ते हे ? इति, ते विभज्य दर्शयति — “व्यन्तु-वेत्वित्यादिना ॥ २७ ॥

पुनराधेयस्य दक्षिणां विधत्ते — “तस्येति । “स हि वहेनेति । ‘सः’ खलु अनड्वान् ‘वहेन’ स्क्त्वेन अग्निसम्बद्धो भवति † । तस्योपपातम् — “अग्निदग्ध मिवेति ‡ । अनड्वश्च साम्य माह — “देवाना मिति । अतो वहनं स्यात् । पुनराधीयमानस्याग्नेः ‘अनड्वान् दक्षिणा’ § उक्तृष्टतरा इत्यर्थः ॥ २८ ॥ १ [ २. ३. ] ॥

इति त्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* “असाकस्त्रे तु चिच्चन” — इति अम० को० ३. ४. ३ ।

†, ‡ पूर्वस्मिन् काण्डे १ प्र० २ ब्रा० ६ कण्ठीम्, तद् व्याख्यानञ्च पश्यतु

§ का० श्रौ० सू० ३. ११. १३ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

प्रजापतिर्ह वा ऽइद मय ऽएक एवास । सु  
 ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत  
 सोऽग्नि मेव मुखाज्जनयाञ्चक्रे तद्यदेनं मुखाद्-  
 जनयत तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैव मेत मग्नि  
 मन्नादं व्वेदान्नादो हैव भवति ॥ १ ॥

तद्वा ऽएन मेतदग्रे देवाना मजनयत । तस्मा-  
 दग्निरग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति सु जातः पूर्व्वः  
 प्रेयाय यो वै पूर्व्व एत्यग्र ऽएतीति वै त माहुः  
 सो ऽएवास्याग्निता ॥ २ ॥

सु ऐक्षत प्रजापतिः । अन्नादं वा ऽइम मात्म-  
 नोऽजीजने यदग्निं न वा ऽइह मदन्यदन्न मक्षि  
 यं वा ऽअयं नाद्यादिति कात्वालीकृता हैव तर्हि  
 पृथिव्यास नौषधय आसुर्न व्वनस्पतयस्तदेवास्य  
 मनसास ॥ ३ ॥

अथैन मग्निर्व्यात्तेनोपपर्याववर्त्त । तस्य भीतस्य  
 स्वो महिमापचक्राम व्वाग्वा ऽअस्य स्वो महिमा  
 व्वागस्यापचक्राम सु आत्मन्येवाहुति\* मीषे स उदमृष्ट

\* 'आत्मनेवाहुति'— इति घ, ङ ।

तद्यदुदृष्टं तस्माद्दिदं चालोमक मिदं च तत्र  
विवेद घृताहुतिं वैव पयत्राहुतिं वोभयं ह त्वेव  
तत्पय एव \* ॥ ४ ॥

सा हैनं नाभिराधयाञ्चकार । केशमिश्रैव  
हास तां वीक्षद्दोषं धयेति तत ओषधयः सम-  
भवंस्तस्माद्दोषधयो नाम स द्वितीय मुदृष्ट तत्रा-  
परा माहुतिं विवेद घृताहुतिं वैव पयत्राहुतिं  
वोभयं ह त्वेव तत्पय एव † ॥ ५ ॥

सा हैन मभिराधयाञ्चकार । स व्यचिकित्-  
सञ्जुह्वानीश् मा ह्रीषाश् मिति तं स्त्री महि-  
माभ्युवाद जुहुधीति स प्रजापतिर्विदाञ्चकार  
स्त्री वै मा महिमार्हेति स स्वाहेत्येवाजुहोत् तस्माद्  
स्वाहेत्येव ह्यते तत एष उदियाय य एष तपति  
ततोऽयं प्रबभूव योऽयं पवते‡ तत एवाग्निः पराङ्  
पर्याववर्त्त§ ॥ ६ ॥

स हुत्वा प्रजापतिः । प्र चाजायताख्यतुश्चा-

\* † 'एव'— इति घ, ङ ।

‡ 'पवते'— इति च इष्टो डा० वेवरेण ।

§ 'पर्याववर्त्त'— इति ग ।

ग्नेर्मृत्योरात्मान मन्त्रायत स यो हैवं विद्वानग्नि-  
होत्रं जुहोत्येतां हैव प्रजातिं प्रजायते यः प्रजा-  
पतिः प्राजायतैव सु हैवात्स्यतोऽग्नेर्मृत्योरात्मानं  
त्नायते ॥ ७ ॥

स यत्र म्रियते । युचेन मग्नावभ्याद्धति  
तद्देशो\*ऽग्नेरुधिजायतेऽथास्य शरीर मेवाग्निर्दहति  
तद्यथा पितुर्व्या मातुर्व्या जायेतैव मेषोऽग्नेरुधिजायते  
शुश्रुव वा ऽएष न सम्भवति योऽग्निहोत्रं न  
जुहोति तस्माद् वा ऽअग्निहोत्रं होतव्यम् ॥ ८ ॥

तद्वा एतत् । एव द्विचिकित्सायै जन्म यत्  
प्रजापतिर्व्यचिकित्सत्स द्विचिकित्सञ्कुरेयस्यधियत यः  
प्र चाजायतात्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मान मन्त्रायत स  
यो हैव मेतद्विचिकित्सायै जन्म व्वेद यद्द किञ्च  
द्विचिकित्सति श्रेयसि हैव ध्रियते ॥ ९ ॥

स ह्रुत्वा न्यमृष्ट । ततो द्विकङ्कतः समभव-  
त्तस्मादेष यज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षस्रत एते देवानां  
वीरा अजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः स यो हैव

\* 'तद्देशो'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

मेतान् देवानां वीरान् वेदाहास्य वीरो  
जायते ॥ १० ॥

तु ऽउ हैतु ऽऊचुः । व्वयं वै प्रजापतिं पितरु  
मनु स्मो हन्त व्वयं तत् सजामहै यदस्मानन्वस-  
दिति ते परिश्रित्य गायत्रेणापहिङ्कारेण तुष्टुविरि  
तद्यत्यर्थ्यश्रयन्त्यु समुद्रोऽथेय मेव पृथिव्या स्तावः \*  
॥ ११ ॥

ते सुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः । पुनरेम इति  
देवा एङ्गां समभूतां सा हैनानुदीच्य हिञ्चकार  
ते देवा व्विदाञ्चक्रुरेष साम्नो हिङ्कार इत्यपहि-  
ङ्कारं हैव पुरा ततः सामास सु एष गवि साम्नो  
हिङ्कारस्तस्मादेषोपजीवनीयोपजीवनीयो ह वै† भवति  
य एव मेतं गवि साम्नो हिङ्कारं वेद ॥ १२ ॥

ते होचुः । भद्रं वा ऽइद् मजीजनामहि ये  
गा मजीजनामहि यज्ञो ह्येवेयं नो ह्यृते गोर्यज्ञ-  
स्तायतेऽन्नं ह्येवेयं यच्च किञ्चान्नं गौरिव  
तदिति ॥ १३ ॥

० 'पृथिव्यास्तावः'— इति घ, ङ ।

† 'हैव'— इति ग ।



तद्वा ऽएतदेवैतासां नाम । एतद्यज्ञस्य तस्मा-  
 देतत्परिहरेत्साधु पुण्य मिति बृह्मो ह वा अस्यैता  
 भवत्युपनामुक् एनं यज्ञो भवति य एवं विद्वाने-  
 तत्परिहरति साधु पुण्य मिति ॥ १४ ॥

ता सु हाग्निरभिदध्यौ । मिथुन्यनया स्या  
 मिति तां सुम्बभूव तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्तत्पयो-  
 ऽभवत्तस्मादेतदामायां गवि सत्यां शृत मग्नेर्हि  
 रेतस्तस्माद्यदि कृष्णायां यदि रोहिण्यां शुक्ल  
 मेव भवत्यग्निसङ्काश मग्नेर्हि रेतस्तस्मात् प्रथम-  
 दुग्ध मुष्णं भवत्यग्नेर्हि रेतः ॥ १५ ॥

ते होचुः । हन्तेदं जुह्वामहा ऽद्भुति कश्चै  
 न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति मुह्य मिति हैवाग्नि-  
 रुवाच मुह्य मिति योऽयं पवते मुह्य मिति  
 सूर्यस्ते न सम्पादयाञ्च वक्रुस्ते हासम्पाद्योचुः  
 प्रजापति मेव पितरं प्रत्ययाम स यश्चै न इदं प्रथ-  
 माय होतव्य वक्ष्यति तस्मै न इदं प्रथमाय होष्य-  
 न्तीति ते प्रजापतिं पितरं प्रतीत्योचुः कश्चै न इदं  
 प्रथमाय होष्यन्तीति ॥ १६ ॥

स होवाच । अग्नयेऽग्निरनुष्ठा स्व रेतः

प्रजनिष्यते तथा प्रजनिष्यध्व ऽइत्यथ तुभ्य मिति  
 सूर्य्य मथ यदेव ह्यमानस्य व्यश्रुते तदेवैतस्य योऽयं  
 पवते ऽइति तदेभ्य इद मप्येतर्हि तथैव जुह्वत्य-  
 ग्नय ऽएव सायं सूर्याय प्रातरथ यदेव ह्यमानस्य  
 व्यश्रुते तदेवैतस्य योऽयं पवते ॥ १७ ॥

ते हुत्वा देवाः । इमां प्रजातिं प्राजायन्तु  
 येषां मियं प्रजातिरिमां विजितिं व्यजयन्तु येयु मेषां  
 विजितिरिम मेव लोक मग्निरजयदन्तरिक्षं वायु-  
 र्दिव मेव सूर्यः स यो ह्येवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्ये-  
 तां ह्येव प्रजातिं प्राजायते या मेतु ऽएतत् प्राजा-  
 यन्तैतां विजितिं विजयते या मेतु ऽएतद्व्यजयन्तैतेरु  
 ह्येव सुलोको भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति  
 तस्माद् वा ऽअग्निहोत्रं होतव्यम् ॥ १८ ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२.४.] ॥

एव माधानपुनराधाने विधाय तन्निष्पन्नाना मग्नीनां  
 फलवत्कर्मार्थत्वात् तस्माद्ध्यं सायम्प्रातरनुष्ठेय मग्निहोत्राख्यं \*  
 कर्म विधित्सुस्तदर्थं माख्यायिका माह—“प्रजापतिर्ह वा  
 इत्यादिना ॥ १ ॥

\* 'तस्माधनचतुष्टय मग्निहोत्राख्यं'—इति च ।

“तद्वा इति । अग्ने जातत्वात् अग्निः ; स एवाग्निरिति पारोक्ष्येणोच्यत इति नामनिर्वचनं कृत्वा प्रकारान्तरेणापि निर्गू-  
यात् । “स जात इति । ‘अग्ने’ ‘एति’ नच्छतीति अग्निः ।  
‘अस्य’ अग्नेः साधिका ‘अग्निता’ इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साय मग्निहोत्रदेवताया अग्नेरुत्पत्ति मभिधाय, होम  
इत्यस्योत्पत्तिं प्रतिपादयति - “स ऐक्षतेत्यादिना । “अजी-  
जन इति । अजनय मित्यर्थः । मया सृष्टोऽग्निरथन्नादः, तस्य  
आग्नेर्न भवितव्यम् । न च मत्तोऽन्यदन्न मिह विद्यते, यदन्न  
मसावद्यादित्यर्थः । ननु भूम्या मोषधयो विद्यन्ते, तदेव तस्यान्नं  
भविष्यतीत्यत आह - “काल्वालीकृतेति \* । ‘तर्हि’ तस्मिन्  
समये, यदहन्त्येव पृथिवी बभूव, तत ओषधिवनस्पतयः । एवं  
सति ‘तत्’ वक्ष्यमाण मन्त्रम् ‘एव’ ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘मनसि’  
बभूव ॥ ३ ॥

“अथैन मिति । ‘अथ’ अस्मिन्नवसरे ‘अग्निः’ ‘एनम्’  
‘व्यात्तेन’ प्रजापतिविवृतेन † मुखेन भक्षयितुं पर्यावृत्तो बभूव ।  
तस्माद् ‘भीतस्य’ प्रजापतेः । “सो महिमेत्यादि, स्पष्टम् । “स  
आत्मन्येवेति । ‘सः’ प्रजापतिः ‘आत्मनि’ स्वगरीरे ‘एव’  
आहुतिद्रव्यं सम्पादयितु मिक्ष्छां कृतवान् । कृत्वा च ‘स’  
‘उदसृष्ट’ हस्ताभ्यां स्वाङ्गस्योच्चार्यनं कृतवान् । ( यस्मादेवं ‡ )  
तस्मादेव कारणात् ‘इदञ्च इदञ्च’ उभय मपि पाणितलम् ‘अलो-

\* “अपनीतवालाः काल्वालाः” - इत्यादि हरिस्वामी । तदे-  
खल्लाः खल्लाटाः काल्वाला इति समानार्थाः ।

† ‘व्यात्तेन=विवृतेन’-इति च ।

‡ नास्थितत् पदद्वयं च-पुस्तके ।

सत्रं रोमरहितं दृश्यते । उन्मार्जनेन 'तत्राहुति' 'विवेद' लेभे । तां विशिनष्टि — "घृताहुति मिति । "उभयं हेति । यदेतत् पयोघृतसाध्य माहुतिद्वयम् 'तत् उभयम्' अपि 'पय एव' ; घृतस्य पयोविकारत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

"सा हैन मित्यादि । 'नाभिराधयाञ्चकार' अभिराधं त्वं न चकारेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः— "केश मिश्रेवेति । कीटादिदूषिता आहुतिर्न त्वस्मिन्, प्रत्युत बीभत्सा मेव जनयति । एवं प्रजापतिशरीरजं द्रव्यं माहुतियोग्यं नासीदित्यर्थः । 'तां' चाहुतिं तस्मिन्नग्नी 'व्यौचत्' अत्यजत् । इदं माहुतिद्रव्यम् 'ओषं' पक्वं कृत्वा 'धय' पिब 'इति' । एव मग्नी प्रक्षिप्त्वा तस्मात् 'ओषधयः' पृथिव्यां समभवन् । एव मोषधिरूपस्य ह्यस्योत्पत्ति मुक्त्वा प्रातराहुतिदेवतायाः सूर्यस्योत्पत्ति माह — "स द्वितीय मिति । पूर्ववद् योज्यम् ॥ ५ ॥

"सा हैन मित्यादि । "स व्यचिकित्सदिति । अस्यां द्वितीयस्य माहुती स प्रजापतिः विचिकित्सां कृतवान्, — किं मिदं मदङ्गाज्जातं द्रव्यं जुह्वानि, किं वा नेति । एवं संशयापन्ने अग्निमयात् प्राङ् निर्गतो वायुपः स्वकीयो 'महिमा' 'अभ्युत्ताद्' अभिलक्ष्योक्तवान्, — 'संशयं मा कार्षीः होमं कुरु' इति । "स्वो वा इति । यस्मान् 'स्वो महिमा आह', तस्मात् 'सः' प्रजापतिः 'स्वाहित्येन' 'तत्' द्रव्यम् 'अजुहोत्' । "तत एष इति । तस्माद्धोमात् 'एषः' सूर्यः उदितः, उत्पन्नो बभूव । पवमानो वायुरपि तत एवोत्पन्नः । एव मनयोरुत्पन्नयोः सतीः रुः 'अग्निः' ( अपि \* )

प्रजापतिसकागात् भक्षणात् उपरतः पराङ्मुखः पर्यावृत्तो  
बभूवे अर्थः ॥ ६ ॥

“स हुत्वेत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतिराहुत्या सूर्यादिलक्षणां  
प्रजा मुत्पादयत् ‘अस्यतः’ भक्षणं करिष्यतः ‘अग्नेः’ ‘आत्मानम्’  
‘अत्रायत’ । तस्माद् विदुषोऽप्येवं भवतीत्याह—“स य इति ॥ ७

“स यत्र म्रियत इति । अग्निहोत्रहोमं कुर्वन्, देहावसाने  
‘अग्नी’ प्रक्षिप्तः मातापितृशरीरादिवत् तस्मादग्नेः सकाशात्  
दिव्यशरीरोऽभिनव उत्पद्यते । यस्वग्निहोत्रं न जुहोति, स त्वेवं  
नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

“तद्वा एतदित्यादि । विचिकित्सापुरस्सर माहुत्यनुष्ठानेन  
प्रजापतेः श्रेयःप्राप्तिर्जाता, ‘एवञ्चिद्’ इदानीन्तनोऽपि यजमानो  
विमर्शपूर्वकानुष्ठानेन श्रेयः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अग्निहोत्रहवणी सुक् विकङ्कतवृक्षेण निर्मातव्येत्यभिप्रेत्य  
तस्यात्पत्ति माह— “स हुत्वेति । प्रागुक्त मग्निवायुसूर्याणां जन्म  
अनुद्य, तद्देदनफल माह— “तत एत इति । ‘देवानां’ मध्ये  
‘वीराः’ प्रबला इत्यर्थः ॥ १० ॥

अथ होमद्रव्यस्य पयस उत्पत्तिं वक्तुं प्रयमतो गौरुत्पत्ति  
माह— “त उ इति । यथास्मदौयः पिता प्रजापतिः अस्मान्  
सृष्टवान् ‘वयं’ तम् ‘अनु’ ‘स्मः’ भवामः । ‘यत्’ यत्र ‘अस्मान्’ ‘अनु’  
अनन्तरम् ‘असद्’ भवेत्, जायेत, ‘तद् वयं सृजामहे’ । एव  
प्रतिज्ञाय गां संसृजन्तः द्विद्वारवर्जितेन गायत्रसाम्ना बद्धिष्व-

\* १ भा० १० पृ० २२ क०, ५६ पृ० १ टीप्पनी च द्रष्टव्या । ततः का०  
श्रौ० ४, १४, ७ सू० द्रष्टव्यम् ।

† ‘वक्ष्यन्’ इति च ।

मानेन 'तुष्टुविरि' सुवन्तः । 'तस्य' स्तोत्रदेशस्य 'यत्' परिश्रयणं  
'स समुद्रः' अभवत् । यश्च 'स्तावः' स्तोत्रदेशः, सा 'पृथिवी'  
जातेत्यर्थः ॥ ११ ॥

[ "ति स्तुवेति । ] "पुनरेम इति । पुनरागच्छाम इति ।  
स्तोत्रदेशात् प्रागुक्त्वस्य \* तस्मात् स्तोत्रात् 'सभूतां' 'गां' 'ते' 'देवाः'  
प्राप्नुवन्नित्यर्थः । "सा हेनानित्यादि । निगदसिद्धम् ॥ १२ ॥

"ति होचुरित्यादि । 'भद्रम्' उत्कृष्टं खलु 'इदम्' 'अजी-  
जनामहि' अजनयाम । तदेतद् भद्रत्वं माह — "यज्ञो हीति ।  
यस्माद् गोर्व्यतिरिक्ते सा शरष्टतादिहविषोऽभावात् यज्ञो न  
विस्तीर्यते, तत इयं गौः यज्ञात्मिका । अन्नरूपत्वेनापि स्तीति —  
"अन्नं हीति ॥ १३ ॥

तासां गवां यज्ञस्य च साधारण मिकं नामोपदिश्य प्रशंसति -  
"तद्वा इति । गां यज्ञं च एतदुभय सुत्कृष्टं पुण्यरूप मिति  
अनेनाभिप्रायेण 'परिहरेत्' रक्षेत् । तस्य परिहरणस्य फल  
माह — "बह्वो हेति । 'उपनासुकः' उपनमनशीलः, यज्ञ एव  
मुपगतो भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

पयस उत्पत्ति माह — "ता मु हेति । 'अभिदध्यौ' अभिधानं  
कृतवान् । कथं मिति — 'एतया' गवा 'मियुनौ' भवानीति ।  
"तां सस्वभूवेत्यादि, स्पष्टम् ॥ १५ ॥

एवं पयोरूपस्य हविष उत्पत्ति मभिधाय, अग्निमूर्धवातूनां  
मध्ये कन्नै प्रथमं देयं कन्ने चानन्तर मियेतद् विभजति — "ते  
होचुरिति । 'ते' देवाः 'जुचुः' अस्मदीयः पिता प्रजापतिः यथा  
अजुहोत्, एव मिदं वयं 'जुहवामहे' । किञ्चेमे यजमानाः 'नः'

\* 'प्रागुक्तात्' इति ड ।

अस्माकं मध्ये 'कस्मै' 'प्रथमाय' 'होष्यन्ति ?' 'इति' उक्तवन्तः ।  
 "मह्य मित्यादि, निगदसिद्धम् । "तेन सम्पादयाञ्चक्रुरिति ।  
 'ति' देवाः परस्परं सम्पन्नाः एकमत्वं गता न बभूवुरित्यर्थः ॥ १६  
 "स होषाचेति । "अग्निरनुष्ठेति । एव विवदमानेषु  
 आगतेषु स प्रजापतिरेव सुक्तवान्— 'अग्नेः प्रथमं होतव्यम्' ।  
 'अग्निहि' 'अनुष्ठया' अनुष्ठानेन प्रथमेन स्वकोयं 'रितः' गवि  
 पयोरूपेण निर्वर्त्तयन् \* ; 'तथा' यूयमपि । तस्मादग्नेरनन्तरमेव  
 'प्रजनिष्यध्वे' प्रजाता भवथ । तस्मादग्नय एव प्रथमं होतव्य  
 मित्युक्त्वा, प्रजापतिः 'अथ' अनन्तरं 'तुभ्य' होतव्यम् 'इति'  
 'सूर्यम्' प्रति उक्तवान् । ह्यमनत्य च पयसः 'यद्' 'व्यश्रुते'  
 विशुद्धमाप्नोति †, स एव वायोर्भाग इति वायुं प्रत्यब्रवीत् ।  
 'तदेभ्य इत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतिनोक्तम्, तस्मादेव कारणात्  
 तत् पय एव ‡ 'अग्नये सायं जुहति', 'प्रातः सूर्याय' इति  
 विभागः सम्पन्नः ॥ १७ ॥

\* 'निवर्त्तयति'—इति च ।

† 'मेति'—इति च ।

‡ तदुक्तं कात्यायनेन "क्षीरहोमी"—इति श्री० सू० ४, १०, १६ ।  
 'वायतो दोहप्रभृत्या होमात् क्षीरहोता चेत्'—इति च तत्रैव ४, १४,  
 ६१ सूत्रम् । दोहप्रकारस्त्वित्यूर्वमेवोपदिष्टः (१ सू०) । "पयसा स्वर्ग-  
 कामः पशुकामो वा, यवाग्वा ग्रामकामः, तखुलैर्बलकामः, दग्नेन्द्रियकामः,  
 अग्निश्रयणं च श्रुतिसामर्थ्याभ्याम्, घृतेन तेजस्कामः, संवत्सरं  
 जुहुदा देतेषा मेकेकेन कामसंयोगे"—इति च तत्रैव काम्यकर्मसु त्रय-  
 विधायक सूत्राणि (४, १५, २१—२०) ।

“ते हुवा देवा इति । ‘ते’ च ‘देवाः’ एवं ‘हुत्वा’ प्रजात्यादि  
फलं प्राप्नुवन् । एतत् ज्ञात्वा इदानीन्तनोऽपि यजमानो ‘यः’  
‘अग्निहोत्र जुहोति’, सः ‘एताम्’ अग्निसूर्यादिभिः प्राप्तां प्रजा-  
तिम् । इतः रुगमम् ॥

एतावता अग्निहोत्राख्य य कर्मणः पथो द्रव्यम्, तच्च साय-  
म्नातःकालगोरनुष्ठेयम् \* । तत्र सायङ्कालीनस्य अग्निर्देवता † ,  
प्रातःकालीनस्य सूर्यः ‡ , इत्येतत् प्रतिपादितं भवति ॥ १८ ॥  
३ [ २. ४. ] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेष्ट्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोमहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम्,  
सप्तार्ध्वीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमिः ।  
रत्नोत्सां रुक्मत्राजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
व्यआणीद्विष्वक्त्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥

\* तच्चोक्तम् का० श्रौ० सू० ४. १३. २ द्रव्यम् । काम्यकालविधयस्तु  
उपरिष्ठात् पञ्चमकण्ठी-टीप्यन्यां द्रव्याः ।

† का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १५. ६ ।



धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णं जं वर्णमुख्यः,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जडो राजतं राजपूज्य ।  
 आज्योत्य प्राज्यजन्मा लवणज मन्वृणः शर्करं चार्कतेजाः,  
 रत्नख्यो रत्नरूपं गिरि मकत मुदा पातसात्सिद्धिर्णार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवेदिकमार्गप्रवर्तक-  
 श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण  
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 द्वितीयांशे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

\* इह्यथपठमेदास्तु पुरस्ताद् दृश्याः ।

[ अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. ]

सूर्यो ह वा ऽअग्निहोचम् \* । तद्यदेतस्या अग्र  
ऽआहुते ऋदत्तस्मात्सूर्योऽग्निहोत्रम् † ॥ १ ॥

स यत्साय मुस्तमिते जुहोति । य इदं तुस्मि-  
न्निह सति जुहवानोत्यथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति  
य इदं तुस्मिन्निह सति जुहवानीति तस्मादै सूर्यो  
ऽग्निहोत्र मित्याहुः ॥ २ ॥

अथ यदस्तमेति । तदग्नावेव योनौ गर्भो  
भूत्वा प्रविशति तं गर्भं भवन्त मिमाः सर्वाः  
प्रजा अनु गर्भा भवन्तीलिता हि श्रे सञ्जानाना  
अथ यद्वाविस्तिर एवैतत्करोति तिर इव हि  
गर्भाः ॥ ३ ॥

स यत्साय मुस्तमिते जुहोति । गर्भं मेवैत् सन्त  
मभिजुहोति गर्भं सन्त मभिकरोति स यद्गर्भं  
सन्त मभिजुहोति तस्मादिमे गर्भा अनुश्रन्तो  
जीवन्ति ॥ ४ ॥

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति । प्रजनयत्येवैन  
मेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति शश्वद्व वै

\* 'त्रम्'—इति ग, घ । † 'तस्'—इति ग, घ ।

नीदियाद्यदस्मिन्नेता माहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वा ऽएता  
माहुतिं जुहोति ॥ ५ ॥

स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येत । एवञ् रात्रिः  
पाप्मनो निर्मुच्यते यथा ह वा ऽअहिस्त्वचो निर्मु-  
च्येतैवञ् सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विदा-  
नग्निहोत्रं जुहोति तदेतस्सैवानु प्रजाति मिमाः सर्वाः  
प्रजा अनु प्रजायन्ते वि हि सृज्यन्ते यथार्थम् \* ॥ ६ ॥

स यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीय मु-  
ङ्करत्येते वै विश्वे देवा रश्मयोऽथ यत्परं भाः प्रजा-  
पतिर्वा स इन्द्रो वैतदु ह वै विश्वे देवा अग्निहोत्रं  
जुह्वतो गृहानागच्छन्ति स यस्यानुद्धृत मागच्छन्ति  
तस्माद् देवा अपप्रयन्ति तद्वा ऽअसौ तद् व्यृध्यते  
यस्माद् देवा अपप्रयन्ति तस्यानु व्यृद्धिं यश्च वेद यश्च  
नानुद्धृत मभ्यस्त मगादित्याहुः ॥ ७ ॥

अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीय  
मुङ्करति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपक्लृप्तेनोपा-  
सीतैवं तस्म यस्त्रोद्धृत मागच्छन्ति तस्याहवनीयं प्रवि-  
शन्ति तस्याहवनीये निविशन्ते ॥ ८ ॥

स यत्साय मस्तमिते जुहोति । अग्नावेवैभ्य  
एतत्प्रविष्टेभ्यो जुहोत्यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोत्यग्ने-  
तैभ्य एवैभ्य एतञ्जुहोति तस्मादुदितहोमिनां  
व्विच्छिन्न मग्निहोत्रं मन्यामह ऽइति ह स्माहासुरि-  
र्यथा शून्य मावसथ माहुरेदेवं तदिति ॥ ९ ॥

इयं वा ऽइदं जीवनम् । मूलि चैवामूलं च त-  
दुभयं देवानां सन्मनुष्या उपजोवन्ति पशवो मूला  
ओषधयो मूलिन्यस्ते पशवो मूला ओषधीर्मूलिनी-  
र्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति ॥ १० ॥

स यत्सायमस्तमिते जुहोति । अथ रसस्य जी-  
वनस्य देवेभ्यो जुह्वानि यदेषा मिदं सदुपजीवाम  
इति स यत्ततो रात्र्याश्नाति हुतोच्छिष्टं मेव तन्नि-  
रुत्तबल्यश्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वद-  
शिता \* ॥ ११ ॥

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति । अथ रसस्य जीव-  
नस्य देवेभ्यो जुह्वानि यदेषा मिदं सदुपजीवाम  
इति स यत्ततोऽह्नाश्नाति हुतोच्छिष्टं मेव तन्निरु-

\* 'ता'—इति च, उ ।

वत्तवत्यग्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुहुद-  
शिता \* ॥ १२ ॥

तदाहुः । स मेवान्ये यज्ञास्तिष्ठन्ते ऽग्निहोत्रं मेव  
न सन्तिष्ठते ऽपि द्वादशसंवत्सरं मन्तवदेवाथैतदेवानन्तु  
सायुं द्विं हुत्वा वेदं प्रातर्होष्यामीति प्रातर्हुत्वा वेदं  
पुनः सायुं होष्यामीति तदेतदनुपस्थितं मग्निहोत्रं  
तस्थानुपस्थितिं मन्वनुपस्थिता इमाः प्रजाः प्रजायन्ते  
ऽनुपस्थितौ ह वै श्रिया प्रजया प्रजायते य एव  
मेतदनुपस्थितं मग्निहोत्रं वेद ॥ १३ ॥

तद्गृध्वाधिश्रयति । शृतं मसदिति तदाहुर्गृध्वं  
दन्तं तर्हि जुहुयादिति तद्वै नोदन्तं कुर्यादुप ह  
दहेद्यदुदन्तं कुर्यादुप्रजन्ति वै रेत उपदग्धं तस्मा-  
न्नोदन्तं कुर्यात् ॥ १४ ॥

अधिश्रित्यैव जुहुयात् । यन्त्वे † वैतदग्ने रेतस्तेन  
न्वेव शृतं यदेनदग्नावधिश्रयन्ति तेनो ऽएव शृतं तस्मा-  
दधिश्रित्यैव जुहुयात् ॥ १५ ॥

तद्वज्यातयति । शृतं वेदान्नीत्यथापुः प्रत्या-

\* 'ता'—इति ग, घ ।

† 'यन्त्वे'—इति क, ग ; डा०-वेवरेणापि डष्टः ।

नयति शान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्व्वत्वायेद् हि  
 यदा वर्ष्वत्थयोषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पौत्वा  
 तत एष रसः सम्भवति तस्माद् रसस्यो चैव सर्व्व-  
 त्वाय तस्माद्यद्येनं क्षीरं केवलं पानेऽभ्याभवेदुद-  
 स्लोक माञ्चोतयितवै ब्रूयाच्छान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव  
 सर्व्वत्वाय \* ॥ १६ ॥

अथ चतुरुन्नयति । चतुर्धाव्विहितुं होदं पयो-  
 ऽथ समिध मादायोदाद्रवति समिद्धोमाथैव सोऽनुप-  
 साद्य पूर्वा माहुतिं जुहोति स यदुपसाद्येद्यथा  
 यस्माऽअशन माहरिष्यन्त्यात्तदन्तरानिदध्यादेवं तदथ  
 यदनुपसाद्य यथा यस्माऽअशन माहुरेत्तस्मा  
 आहृत्यैवोपनिदध्यादेवं तदुपसाद्योत्तर नानाव्वीर्ये  
 ऽएवैने ऽएतत् करोति मनश्च ह वै व्वाक्  
 चैते ऽआहुती तन्मनश्चैवैतद्वाचं च व्यावर्तयति  
 तस्मादिदं मनश्च व्वाक् च समान मेव  
 सन्नानेव ॥ १७ ॥

स वै द्विरग्नी जुहोति । द्विरुपमाष्टिं द्विः  
 प्रा प्राति चतुरुन्नयति तद्दश दशाक्षरा वै विराड् विराड्

वै यज्ञस्तद्विराज मेवैतद्यज्ञ मभि सम्पादयति ॥ १८ ॥

स यदग्नी जुहोति । तद्देवेषु जुहोति तस्मा-  
द्देवाः सन्त्यथ यदुपमाष्टिं तत्पितृषु चौपधीषु च  
जुहोति तस्मात्पितरश्चौषधयश्च सन्त्यथ यद्भुत्वा  
प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः  
सन्ति ॥ १९ ॥

या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै  
ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञमुख  
ऽन्वाभजति तेनो ह पशवोऽन्वाभक्ता यन्मनुष्यानु  
पशवः ॥ २० ॥

तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । न वै यज्ञ इव मन्तवै  
पाकयज्ञ इव वा ऽद्रतीद् हि यदन्यस्मिन्यज्ञे सुच्यव-  
द्यति सर्व्वं तदग्नी जुहोत्यथैतदग्नी हुत्वोत्सृयाचामति  
निर्लेष्टि तदस्य पाकयज्ञस्येवेति तदस्य तत्पशव्यं रूपं  
पशव्यो हि पाकयज्ञः \* ॥ २१ ॥

सैषैकाहुतिरेवायै । या मेवामं प्रजापतिरजुही-  
दथ यदेतुऽएतत्पञ्चेवाधियन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्त-  
स्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते ॥ २२ ॥

सा या पृश्नाह्वतिः । साग्निहोत्रस्य देवता तस्मात्-  
 तस्यै जुहोत्यथ योत्तरा स्विष्टकृद्भाजनमेव सा  
 तस्मात्ता मुत्तरार्द्धे जुहोत्येषा हि द्विक् स्विष्टकृत-  
 स्तन्मिथुनायैवैषा द्वितीयाह्वतिर्हूयते दून्द्वा हि मिथुनं  
 प्रजननम् ॥ २३ ॥

तद् इयमेवैते ऽत्राहुती । भूतं चैव भविष्यच्च  
 जातं च जनिष्यमाणं चागतं चाशाद् चाद्य च प्रवृश्च  
 तद्वयमेवानु \* ॥ २४ ॥

आत्मैव भूतम् । अद्वा हि तद्यद्भूतमद्भो तद्यदात्मा  
 प्रजेव भविष्यदनद्वा हि तद्यद्भविष्यदनद्भो तद्यत्  
 प्रजा † ॥ २५ ॥

आत्मैव जातम् । अद्वा हि तद्यज्जातमद्भो तद्य-  
 दात्मा प्रजेव जनिष्यमाण मनद्वा हि तद्यज्जनिष्य-  
 माणमनद्भो तद्यत् प्रजा ‡ ॥ २६ ॥

आत्मैवागतम् । अद्वा हि तद्यदागतमद्भो तद्य-  
 दात्मा प्रजैवाशानद्वा हि तद्यदाशानद्भो तद्यत्  
 प्रजा § ॥ २७ ॥

आत्मैवाद्य । अद्वा हि तद्यदद्याद्भो तद्यदात्मा

\* 'मेवानु'—इति घ, ङ ।

†, ‡, § 'प्रजा'—इति घ, ङ ।



प्रजैव शुवोऽनडा हि तद्यच्छोऽनडो तद्यत्  
प्रजा \* ॥ २८ ॥

सा या पूर्वाहुतिः । सात्मानमाश्रे हूयते तां  
मुन्वेण जुहोत्यडा हि तद्यन्मन्त्रोऽडो तद्यदात्मा-  
ऽथ योत्तरा सा प्रजा मभि हूयते तां तूष्णीं जुहोत्य-  
नडा हि तद्यत्तूष्णीं मनडो तद्यत् प्रजाः † ॥ २९ ॥

सु जुहोति । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे-  
त्यु प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्स-  
त्येनैव हूयते यदा ह्येव सूर्याऽस्त मेल्यथाग्निर्ज्योति-  
र्यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्यातिर्यद्वै सत्येन हूयते तद्  
देवान् गच्छति ॥ ३० ॥

तद्दु हैतुदेवारुणये ब्रह्मवर्चसुकामाय तद्दानू-  
वाचाग्निर्व्वीर्वा ज्योतिर्व्वर्चः सूर्यो व्वीर्वा ज्योतिर्व्वर्च  
इति ब्रह्मवर्चसो हैव भवति य एवं विद्वानग्नि-  
होचं जुहोति ॥ ३१ ॥

तदस्येव प्रजननस्येव रूपम् । अग्निर्ज्योति-  
र्ज्योतिरग्निः खोइति तदुभयतो ज्योती रेतो  
देवतया परिगृह्णात्युभयतः परिगृहीतं वै रेतः

प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति ॥ ३२ ॥

अथ प्रातः । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः  
स्वाहेति तदुभयतो ज्योति रेतो देवतया परिगृह्णात्यु-  
भयतः परिगृह्योतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवै-  
तत्परिगृह्य प्रजनयति तत् प्रजननस्य रूपम् \* ॥ ३३ ॥

तदु होवाच जीवलञ्चैलकिः । गर्भं मेवाग्निः  
करोति न प्रजनयतीति स एतेनैव सायं  
जुहुयात् ॥ ३४ ॥

अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः  
स्वाहेति तद् वहिर्द्वा † ज्योती रेतो देवतया करोति  
वहिर्द्वा ‡ वै रेतः प्रजातं भवति तदेनत् प्रज-  
नयति ॥ ३५ ॥

तदाहुः । अग्नावेवैतत्सायं सूर्यं जुहोति §  
सूर्यं प्रातरग्नि मिति तद्वै तदुदितहोमिना मेव  
यदा ह्यत्र सूर्योऽस्त मेल्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्यं  
उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्नास्ति सा परिचक्षय मेव  
परिचक्षा यत्तस्यै नाज्ञा देवतायै ह्ययते याग्नि-

\* 'रूपम्' इति घ, ङ । †, ‡ 'वहिर्द्वा'— इति घ, ङ ।

§ 'जुहोति'— इति घ, ङ ।

होत्रस्य देवताग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति  
तत्र नाग्नये स्वाहेत्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः  
सूर्यः स्वाहेति तव न सूर्याय स्वाहेति ॥ ३६ ॥

अनेनैव जुहुयात् । सजूर्देवेन सवित्रेति  
तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्रेन्द्रवत्येति तद्रात्र्या  
मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य  
देवता जुषाणो ऽग्निर्व्वेतु स्वाहेति तदग्नये प्रत्यक्षं  
जुहोति ॥ ३७ ॥

अथ प्रातः । सजूर्देवेन सवित्रेति तत्सवितृ-  
मत्प्रसवाय 'सजूरुषसेन्द्रवत्येत्यङ्गेति वा तदङ्गा  
वोषसा \* वा मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि  
यज्ञस्य देवता जुषाणः सूर्यो व्वेतु स्वाहेति तत्सू-  
र्याय प्रत्यक्षं जुहोति तस्मादेव मेव जुहुयात् ॥ ३८ ॥

ते होचुः । को न इदं होष्यतीति ब्राह्मण  
एवेति ब्राह्मणोदं नो जुहुधीति किं मे ततो  
भविष्यतीत्यग्निहोत्रोच्छिष्टमेवेति स यत् स्रुचि परि-  
शिनष्टि तदग्निहोत्रोच्छिष्टमथ यत् स्थाल्यां यथा  
परीणही निर्व्वपेदेवं तत् तस्मात्तद्य एव कश्च पिवत्

\* 'तदङ्गां वोषसां'—इति घ, ङ ।

तत्रै नुब्राह्मणः पिबेदनी ह्यधिश्चयन्ति तस्मान्ब्राह्मणः  
पिबेत् ॥ ३६ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

सायम्प्रातर्होमयोः \* कालविशेषं विधित्सुरग्निहोत्रम् सूर्या-  
त्मना प्रशंसति—“सूर्यो हेति । तदुपपादयति—“एतस्या  
इति । प्रजापतिना प्रथमं हुताया इत्यर्थः ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेण सूर्यात्मकतां ब्रुवन् सायम्प्रातर्होमयोः काल-  
विशेषं विधत्ते—“स यदिति । ‘यः’ यजमानः ‘इह’ अग्नीं  
‘तस्मिन्’ सूर्यं ‘सति’ ‘इदं’ हविः ‘जुह्वानि इति’ मन्यते, सः  
साय मग्निहोत्र मस्तमिते † कुर्व्यात्, प्रातर्होमञ्चानुदिते ‡ ।  
अनुदितो हि सूर्योऽग्निनेकीभूतो वर्तते ; “अग्निर्वादित्यः  
सायम् प्रविशति”—इति § श्रुतेः । यस्मादेवं अग्निहोत्रं सूर्य-  
मखडम्, तस्मात् तादात्म्येन स्तुतिः ॥ २ ॥

रात्रौ सूर्यस्याग्न्यवस्थानं प्रतिपादयति—“अथ यदिति ।  
सूर्यस्य गर्भभाव मनु रात्रौ ‘सर्वः’ प्रजाः, ‘गर्भाः’ एव ‘भवन्ति’ ।

\* “उद्धरेति यजमागो ब्रूयात् सायम्प्रातर्होत्रं”—इति का०  
श्रौ० सू० ४. १३. १ ।

† “अस्तमिते जुहोति”—इति का० श्रौ० सू० ४. १४. ६ ।

‡ “प्रातर्जुहोत्यनुदिते”—इति का० श्रौ० सू० ४. १५. १ ।

§ तै० ब्रा० २. १. ३. ६ ।

तासां गर्भसास्य माह—“इलिता हीति । रात्रौ हि सर्वाः प्रजाः  
‘सञ्जानानाः’ समान मेकविधं ज्ञानं प्राप्ताः ‘इलिताः’ सुता  
हृष्टाः ‘शिरते’ । “लोपस्त आत्मनेपदेषु”—इति \* त-लोपः । पुन-  
रपि गर्भसास्य माह—“अथ यदिति । गर्भरूपेणाग्नावस्थितं सूर्यं  
‘रात्रिः’ ‘तिर एव’ तिरोहित माच्छादितं करोति । यस्मादेवं  
तस्मात् अमी ‘गर्भः’ ‘तिर इव हि’ । लौकिकगर्भस्य प्रसिद्धिर्हि-  
शब्देनोक्ता ॥ ३ ॥

एवं गर्भरूपत्वं प्रतिपाद्य अस्तमिते होम मुपपादयति—“अ  
यत्साय मिति । “गर्भं सन्त मिति । अस्तमयात् पूर्वं हि  
सूर्यस्याकाशेऽवस्थानात् गर्भभावो नास्ति, तदूर्ध्वन्तु अग्नी गर्भरूपेण  
प्रविशन्तम् ‘अभि’ होमं कुर्वन् परस्मिन् दिवसे पुनर्जनयितुं  
वर्धयति । “यद् गर्भं मित्यादि । यस्माद् गर्भभूतस्य सूर्यस्य  
रात्रावग्निहोत्रहविषा वर्धनम्, तस्मादेवञ्चातीया इतरे गर्भाः  
‘अनश्रतः’ अशन मकुर्वन्तोऽपि ‘जीवन्ति’ वर्धन्ते ॥ ४ ॥

एवं सायं-होमस्य गर्भवृद्धिहेतुना सभिधाय, प्रातर्होमस्य  
तज्जननहेतुत्वं मुपपादयन्, तस्य ततः प्रागेवानुदितं कर्त्तव्यता  
माह—“अथ यत् प्रातरिति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रातराहुते-  
र्जननहेतुता मुपपादयति—“सोऽथ मिति । “तेजो भूत्वेति ।  
आहुया वर्धितेजस्वी भूत्वेत्यर्थः । “शश्वद्व वा इति । नित्य  
मेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

\* पा० सू० ७. १. ४१. ।

† सन्ति चात्र बहवः काम्यकालविधयः । तदथा—“प्रथमास्तमिते  
पर्युद्ध्यं च स्वर्गकामस्य, तसोऽत्यये सायं जुहुयाद् विधति प्रातरायुष्कामस्य  
अन्तःप्रशौ पशुकामस्य सायम्प्रातः, शयाने श्रीकामस्य प्रातः”—इति का  
श्री० सू० ४. १५. १२—१५ । “शयाने, सुप्ते एव. ममस्तनोर्केऽपमूर्द्ध—

उद्यतः सूर्यस्य तेजःप्राप्तिं दृष्टान्तेनोपपादयति— “स यथे-  
ति । “रात्रेः पाम्पन इति । रात्रिरूपात् तेज प्रतिवन्धकान्  
पापादित्यर्थः । एवं सूर्यस्याग्निहोत्रहोमात्ययनिर्मीकं प्रतिपाद्य  
विदुषोऽपि प्रतिपादयति— “यथा ह वा इति । “वि हि  
सृज्यन्त इति । अनुदितहोमान्ते सूर्यस्योदये सति ‘यथार्थ’  
यथाप्रयोजनं ‘सर्वाः प्रजाः’ ‘वि सृज्यन्ते’ प्रवर्त्तन्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

साय मग्निहोत्रस्याहवनीयविहरण मस्तमयात् प्रागेव कर्त्तव्य  
मिति विधि मभिप्रेत्य सिद्धवदनुवदति— “स यः पुरेति । आहव-  
नीय मुद्धरन्तीति । गार्हपत्यादाहवनीयं प्रणयेदित्यर्थः \* । एत-  
दुपपादयितुं यजमानगृहं प्रति देवाना मागमन माह— “एते वा  
इत्यादिना । ‘एते’ खलु सूर्यस्य ‘रश्मयः’ ‘विश्वे देवाः’, ‘अथ’  
‘यत्’ ‘परं भाः’ रश्मीना मुपर्यवस्थितं सूर्याख्यं ज्योतिः ‘स प्रजा-  
पतिर्वा इन्द्रो वा’ तत् ज्योतिः प्रजापत्यात्मक मिन्द्रात्मकं च  
विकल्पेन भवतीत्यर्थः । तेऽस्तमयात् प्रागवस्थिताः ‘विश्वे देवाः’  
अग्निहोत्रिणो यजमानस्य ‘गृहान् आगच्छन्ति’ । ते चागताः  
आहवनीयानुद्धरणे सत्याश्रयाभावात् निवर्त्तन्ते, उद्धृते त्वाहवनीयं  
तं प्रविश्य निविशन्त इत्याह— “स यस्यानुद्धृत मित्यादिना † ।

इति तत्र या० दे० । तत्रैव तत उत्तरं होमायाग्नावस्था अपि बहुविधा  
उक्ताः— “प्रथममभिर्ह्वं धूष्यमाने प्रजासु निहृत्वेव सहस्रात्त मत्स्रातः,  
भृथिन्नार्चिषि गृहीत्वेव सहस्रा, प्रदीप्ततमे श्रीयशस्कामस्य, अर्चिःप्रत्यवाये  
मैत्रेणान्न मत्स्रातः, अङ्गारेषु चाकश्यमानेषु ब्रह्मवर्चमकामस्य”—  
इति ( ४. १५. १६-२० ) ।

\* ‘गार्हपत्यादाहवनीयं प्रणीयोद्धरन्ति’—इति च ।

† “गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरण मनस्तमितानुदितयोः”- इति का०  
शौ० सू० ४. १६. ३ ।

“तद्वा अस्मा इत । आगतानां देवानां यदगमनम्, तेन ‘अग्निं’ यजमानाय ‘तद्’ अग्निहोत्रं ‘वृद्धाते’ विगतर्हिकं भवतीत्यर्थः । “तस्यानुष्टुप्मिति । ‘तस्य’ अग्निहोत्रस्य ‘वृद्धिम्’ ‘अनु’-लक्ष्य, ‘यश्च’ एवं ‘वेद’, ‘यश्च’ [‘न’ वेद, ते सर्वे अनुहुत माहवनीय मभिलक्ष्य सूर्योऽस्त मगादिति सर्वे \* निन्दतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

“अथ यः पुरेति । “आवसथेनोपकृप्तेनेति । आवसन्त्य स्मिन्निति ‘आवसथम्’ आसनम्, तेनोपकृप्तेन आयास्यन्तं श्रेयांसं यथोपासीत, ‘एवं’ ‘तत्’ अस्तमयात् प्राक् आहवनीयोद्धरण मित्यर्थः । “निविशन्त इति । “निर्विशः”-इत्यात्मने पदम् ॥ ८ ॥

“स यत् साय मित्यादि । निगदसिद्धम् । तस्मादुदितहो मिना मित्यादि । यस्मात् सूर्यरश्मिरूपा विश्वे देवा उदयात् प्राक् अग्नी आसते, उदिते च सूर्ये ततोऽपगच्छन्ति, तस्मात् उदयात् परं प्रातर्हीमं कुर्वताम् ‘अग्निहोत्रं’ ‘विच्छिन्नम्’ एव भवति । कथं विच्छिन्न मित्यत ऊर्ध्वं दर्शयति—“यथा शून्य मिति । ‘यथा’ आगतेऽतिथी गृहादपगते सति ‘शून्यं’ तदावास- स्थानं प्रतिपन्न मिति न तर्पणीयान्नपानादिकम् † ‘आहरेत्’, ‘एवम्’ आहवनीयाद्रश्मिरूपेषु देवेषु ‘तत्’ उदितं सूर्यं प्रति गतेषु तदुद्देशेनाहवनीयहोम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

एतावेवास्तमितानुदितहोमौ प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“इयं वा इद मियादिना । “देवानां सदिति । ‘देवानां’ स्वभूतं

\* ‘सर्वत्र’-इति छ ।

† पा० सू० १. ३. १७ ।

! ‘प्रतिपंतर्थाग्नयात्रयादिकम् (?)’-इति च ।

सदित्यर्थः । किं तत् ? मूलं किं वा मूलयुक्तम् ? । “एष रस इति । चीरात्मको रस इत्यर्थः ॥ १० ॥

“स यत् साय मस्तमित इति । “अस्य रसस्य जीवन-  
स्येति । मूल्यमूलोभयनिष्पन्नस्य सर्वप्राणिजीवनहेतोः चीरात्म-  
कस्य \* रसस्य भागं प्रथमं ‘देवेभ्यः’ तस्त्वासिभ्यः ‘जुह्वानि’  
पश्चात् तदुपभुक्तशेषेः सर्वं वयम् ‘उपजीवामः’ इति अनेनाभि-  
प्रायेण पयसा ‘अग्निहोत्रं’ जुहुयादित्यर्थः । तस्य प्रयोजन-  
माह— “स यदिति । ‘ततः’ अतो होमानन्तरं रात्र्याः’ काले  
‘यत्’ † अग्निं भवति, ‘तत्’ सर्वं ‘हुतोच्छिष्ट मेव’ भुक्तं ‡  
भवति । “निरवत्तवलीति । निष्कृष्यावत्तो बलिदेवभागो  
यस्मात्, तन्निरवत्तवलि । एवम् ‘अग्निहोत्रं जुह्वत्’ पुरुषः  
हुतोच्छिष्टस्येव रात्रौ ‘अग्निता’ भोक्ता भवति ॥ ११ ॥

प्रातर्हीमेऽप्येव माह— “अथ यदिति ॥ १२ ॥

अग्निहोत्रहोमस्येतरयज्ञवेलक्षणेनासंस्थितत्वं प्रतिपादयति  
— “तदाहुरिति । ‘अन्ये’ ज्योतिष्टोमादयो ‘यज्ञाः’ ‘मन्तिष्ठन्ते’  
समाप्यन्त एव । यत्तु दादशसंवत्सरमाध्यं मत्रम्, तदप्यवसान-  
वदेव ; अग्निहोत्रं तु ‘अनन्तम्’ । तदेवानन्त्यं दर्शयति— “सायं  
हीति । अस्त्वेव मग्निहोत्रस्यासंस्थितयज्ञत्वम्, किं तत  
इत्याह— “तस्यानुपस्थिति मन्विति । अनुपस्थिताः परिममाप्ति-  
रहिताः । ‘अग्न्या’ ‘अनुपस्थितः’ अपरिसमाप्तः, सर्वदा तद्युक्त  
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

\* ‘शरात्मकस्य ( ? )’—इति च ।

† ‘तन्’—इति च ।

‡ ‘तत्सर्वहुतशिष्ट मेव मुक्तं’— इति च ।



एवं पयसो होमसाधनत्वं विधाय तस्य दोहनानन्तरं मग्नावधिश्रयणं विधत्ते—“तद् दुग्ध्वाधिश्रयतीति \* । ‘शृतं मसत्’ पक्वं भवेदित्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः । “शृतं पाके”—इति † निपात्यते । क्रियद्वधिकः ‡ पाक इयाशश्च तत्रैकं मतं सुपन्यस्यति—“तदाहुरिति । ‘यर्हि’ यस्मिन् काले तत् पयः ‘उदन्तं’ पाकवशादुद्गतान्तं बुद्बुदवद् भवति, ‘तर्हि’ तस्मिन् काले तच्छृतं भवति । तदवस्थापत्नेन पयसा ‘जुहुयात्’ इत्यर्थः । तदेतन्निषिध्यते ; पक्षान्तरं माह—“तदा इति । ‘उप ह दहेत्’ एव । को दोष इति, तत्राह—“अप्रजज्ञीति । ‘रेतः’ संस्तुतं § छीतत् पयः, तच्च ‘उपदग्धम्’, ‘अप्रजज्ञि’ अप्रजननशीलम्, प्रजोत्पादकं न भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

कथन्तर्हि दातव्यं ॥ मित्याह—“अधिश्रित्येवेति ¶ । अधिश्रयणानन्तरं मेव ‘जुहुयात्’ ; न तु पाकेनोदन्तं कुर्यात् । नन्वशृतस्य होमयोग्यत्वं नास्तीति चेत्, तत्राह—“यन्त्वेवेति । पयसोऽग्निरेतस्त्वं प्रागाम्नातम्—“तस्याऽऽ रेतः प्रासिञ्चत्, तत् पयोऽभवत्”—इति \*\* । तथा चाग्निरेतस्त्वादेव पयः शृतं मेव सर्वदा । अतश्चाम्नावधिश्रयणमात्रादेव तच्छृतं भवतीति तदवस्थेनेव जुहुयादित्यर्थः ॥ १५ ॥

“तदवज्योतयतीति । ज्वालायुक्तेन दर्भाग्रेण ¶¶ अवाङ्मुखं प्रकाशयतीत्यर्थः । “अथापः प्रत्यानयतीत्यादि, स्पष्टम् । “उद-

\* का० श्रौ० सू० ४. १४. १, २ ।

† पा० सू० ३. १. २० ।

‡ ‘क्रियद्वधिः’—इति च ।

§ ‘रेतःसंस्तुतं’—इति च ।

॥ ‘दग्धम्’—इति च ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १४. ५ ।

\*\* २ प्र० २ ब्रा० १५ क० ६६ ए०, ६६ ं० ।

¶¶ ‘मार्गेण’—इति च ।

श्लोक माद्योतयितवा इति । उदकस्य विन्दुराद्योतयितव्य  
आवेक्तव्य इति ब्रूयादित्यर्थः ॥ १६ ॥

“अथ चतुरुन्नयतीति \* । “चतुर्धा विहितं हीति । चतुर्थ्यः  
स्तनेभ्यो दुग्धत्वात् चतुर्धा विहितत्वम् । “समिधहोमार्थवेति ।  
समिधेऽग्नी होमार्थं मुञ्जीतपयस्कायां † वैकङ्क्यां सूचि एकां  
समिधं सुपरि निधाय गार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रति गच्छेदित्यर्थः ।  
गत्वा च तस्मिन्नाहवनीयापरभागे होमद्रव्यम् ‘अनुपसाद्य’  
अभिधाय, हस्ते धृत्वेव ‘पूर्वा माहुतिं’ जुहुयात् ‡ ।

“होष्यनुपसादयति”—इति § यदुपसादनं तैत्तिरीयके समा-  
न्नातम्, तदनुष्य तस्यायुक्ततां दृष्टान्तेनोपपादयति—“स यदुप-  
सादयेदिति । “अन्तरा निदध्यादिति । भोक्तुं सुपविष्टस्य  
पुरःस्थितं पात्रं मप्राप्य मध्ये मार्गं अशनम् अन्नदिकं निदध्यात् ॥  
‘एवं’ ‘तत्’ उपसादनं मित्यर्थः । अनुपसादनस्यानुगुण्यं माह—  
“यदनुपसाद्येति ।

एवं प्रथमाहुतिं हुत्वा उपसादनपुरस्सरं मेव द्वितीया  
माहुतिं जुहुयादिति विधत्ते—“उपसद्योत्तरा मिति । जुहोती-  
त्यनुषङ्गः । एव अनुपसादनोपसादनलक्षणधर्मभेदादेति आहुती  
‘जानावीर्यं’ नामासामर्थ्यं एव करोतीत्यर्थः ॥

\* का० श्रौ० सू० ४, १४, १० ।

† ‘मुञ्जीतपयस्काय’—इति, च ।

‡ ‘गार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रतिहृत्वेव पूर्वा माहुतिं जुहुयात्’ च ।

§ तै० ब्रा० २, १, ५, ८ । “उन्नीयोपसादयति, पृथिवी मेव प्रीणाति ।  
होष्यनुपसादयति, अन्नरिच मेव प्रीणाति । हुत्वोपसादयति, दिव मेव  
प्रीणाति”—इति ।

॥ ‘मध्ये मार्गं निमित्तं मन्नादिं च निदध्यात्’—इति क्व ।

एते अनुपसादनोपसादने प्रकारान्तरेण प्रथंसति—“मनश्च ह वा इति । ‘व्यावर्त्तयति’ धर्मभेदेन पृथक् करोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां सङ्ख्यां समुच्चित्य प्रथंसति—  
“स वै हिरिति । “विराड् वै यज्ञ इति । सर्वप्रकृतिभूत-  
स्वान्निष्टोमस्य शतस्तोत्रियायोगेन विराट्सम्पत्तेर्यज्ञस्य विराट्त्व  
मित्यर्थः । अनयोः सुख्योपमार्जनप्राशनयोरविहितयोः स्तोतु  
मयोग्यत्वात् तयोर्विधिरुन्नेतव्या ॥ १८ ॥

तेषां होमोपमार्जनप्राशनानां सुपयोग माह—“स यदिति ।  
“देवाः सन्तीति । अग्नीं प्रक्षिप्तेनाग्निहोत्रहविषोपचितावयवाः  
सन्तः सर्वदा विद्यन्त इत्यर्थः । “पितृषु चौषधीषु चेति । तत्र  
प्रथमोपमार्जनेन ओषधीनां दृष्टिः, द्वितीयेन पितृणां मिति  
दृष्टव्यम् । “ओषधयश्च सन्तीति । सर्वदा विद्यन्त इ-  
त्यर्थः ॥ १९ ॥

“या वै प्रजा इति । ‘अनन्वाभक्ताः’ भागरहिताः, ‘ताः  
षराभूताः’ खलु । अत एव प्राशने सति ‘या इमाः’ सर्वाः प्रजाः  
‘यज्ञमुखे’ यज्ञानां मुखभूतेऽग्निहोत्रे यजमान आहुतिभागयुक्ताः  
करोतीत्यर्थः । कस्तर्हि पशूनां भाग इति, तच्चाह—“तेनो  
हेति । ‘मनुष्यान् अनु’ मनुष्याधीनतया यतो गवाद्याः  
‘पशवः तिष्ठन्ति, तेनैव कारणेन मनुष्यद्वारा तेऽपि भागयुक्ता  
इत्यर्थः ॥ २० ॥

अस्याग्निहोत्रस्य याज्ञवल्क्याभिमतं पाकयज्ञत्वमुपन्यस्यति—  
“तदु होवाचेति । न खल्वग्निहोत्रहोमो दर्शपूर्णमासादि-  
यज्ञवत् \* केवलयज्ञत्वेन मन्तव्यः, अयं खलु पाकयज्ञ इव

\* ‘वत्’-शब्दो नास्ति च-क-पुस्तकयोः ।

भवति । 'इति'-शब्दी वाक्यसमाप्ती । एतदुपपादयति—“इदं  
 हीति \* । इदं खल्वग्निहोत्रं वक्ष्यमाणरूपम् । तत्र पशुध्वा-  
 दानादिकं ( कर्म ) केवलो यज्ञधर्मः ; अग्नौ किञ्चिदुत्वा,  
 किञ्चिदवशेष सुत्सृप्य † वह्निर्निर्गम्य, आचमननिर्लेहनादिकः  
 पाकयज्ञधर्मः ; तस्याग्निहोत्रस्य पाकयज्ञस्य सतो रूपम् ।  
 अस्त्वेवम्, किं तत्र इत्याह—“तदस्येति । 'तत्' पाकयज्ञियम्  
 'अस्य' अग्निहोत्रस्य 'रूपं' 'पशव्यम्' पशुभ्यो हितम्, पशुप्राप्तिसाधन  
 मित्यर्थः ॥ २१ ॥

“सैषेत्यादि । 'अम्' विप्रकृष्टां 'याम्' आहुतिं 'प्रजापतिः'  
 ष्टिकाले प्रथमम् 'अजुहोत्', 'सैषा' 'एका' अग्निहोत्रस्य  
 पूर्वाहुतिः । अनन्तरञ्च 'बदेते' ‡ अग्निवायुसूर्याः 'पश्वा'  
 पश्वात् 'इव' 'आभ्रियन्त' अवस्थिताः ॥ २२ ॥

“सा येति । द्वितीया तु खिष्टकृतस्थानीयेत्याह—“अथ  
 येति । “एषा हि दिगिति । 'खिष्टकृतः' खिष्टकृदाहुतेः  
 'उत्तरार्धे' यथाक्रमेण “भूतश्चैव भविष्यच्च”—इत्यादिवक्ष्यमाण-  
 इयात्मके इत्यर्थः ॥ २३ ॥

“तद् इय मेवेति । “भूत मित्यादि । 'भूतम्' अतीत-  
 कालावच्छिन्नम् । 'भविष्यत्' आगामिकालावच्छिन्नम् । एवं  
 जातादिषु योज्यम् । “आशा चेति । आशागोचरं प्राप्तव्य  
 मित्यर्थः । “अथ च श्वयेति । वर्त्तमानानागतकाली । एवं

\* का० श्रौ० सू० ४. १४. २७ ।

† 'सुत्सृप्य'—इति क्व. 'सुत्सृप्य'—इति च इयो डा०-वेवरेण । 'उत्सृप्य,  
 वह्निर्निर्गम्येति माधवः'—इति या० ६० ।

‡ 'यदेतो'—इति च । 'यदेतो'—इति च इयो डा०-वेवरेण ।

बह्विधं 'तद् इय मेवानु' तद्भागरूपे यथाक्रमे ते आहुती  
भवत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ तयोराहुत्योः समन्वकामन्वकत्वे विधास्यन् भूतभविष्य-  
दादिदृष्टस्यात्मप्रजारूपत्वम्, अद्धान्धारूपत्वं च दर्शयति—  
“आत्मैव भूत मित्यादिना । ‘आत्मा’ स्वयं पिता ‘एव’, ‘भूतम्’  
यच्च भूतम्, तत् ‘अद्वा’; अनुभूतत्वात् प्रत्यक्षम् । एव मात्मनो  
भूतस्य च अद्वात्वसाम्यात् आत्मभूत मिति तादात्म्य मित्यर्थः ।  
“प्रजैव भविष्यदिति, प्रतिज्ञा । तदुपपादनम्— “अनद्वा  
हीत्यादि । ‘अनद्वा’ अप्रत्यक्षम्; प्रजाभविष्यतोरप्रत्यक्षत्व-  
साम्यात् तादात्म्य मित्यर्थः ॥ २५ ॥

एवम् “आत्मैव जात मित्यादिषु दृष्टान्तरेषु योजना ॥ २६ ॥

“आत्मेवागत . मिति । आत्मप्रजारूपेण अद्धान्धारूपेण  
चाहुती स्तुत्वा ह्यने, स चाद्धारूपः; मन्वोऽपि देवताप्रकाशकत्वात्  
तथा ॥ २७ ॥

“आत्मेवाद्येति । अद्येति वर्त्तमानकालः, अद् इत्यागामिकालः ॥ २८ ॥

“सा या पूर्वाहुतिरिति । ‘तां’ पूर्वाहुतिं मन्वेण जुहुया-  
दित्यर्थः । उत्तराहुतिस्तु भविष्यज्जनिष्यमाणा अनागताद्यात्मक-  
प्रजास्थानीया, सा चानद्धारूपा; अमन्वकत्व मपि तद्येति ।  
तूष्णीं तु भविष्यज्जनिष्यमाणानागताद्यात्मकप्रजास्थानीया, सा  
चानद्धारूपा; अमन्वक मपि तद्येति तूष्णीं मेव सा हीतव्ये-  
त्यर्थः \* ॥ २९ ॥

कालद्वयेऽपि पूर्वस्या आहुतेः क्रमेण मन्वो दर्शयति— “स

\* “तूष्णीं द्वितीयाम्”— इति का० श्रौ० सू० ४. १४. २४ ।

जुहोतीति \* । मन्त्रयोः सत्यरूपत्वमुपपादयितुं मर्यसङ्गावमाह— “यदा हीत्यादिना । अस्तङ्गतः सूर्योऽग्निमेवानुप्रविशतीति रात्रावग्निर्ज्योतीरूपो भवति । यदेतन्मन्त्रवाक्यद्वयं तत् समवेतार्थत्वात् सत्यम् ॥ ३० ॥

अनयोः सामम्नातर्हीमयोर्ब्रह्मवर्षसकामस्य कर्त्तव्यतोपन्यासपुरस्कारं मन्त्रविशेषी दर्शयति— “तदु हैतदिति । अग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिरिति चत्वारो वर्षशब्दाभिधेयस्य तेजसः प्रतिपादकाः । अत एवाभ्यां मन्त्राभ्यां जुह्वतः पुरुषस्य ब्रह्म-तेजः सम्पद्यत इत्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “अग्निर्वर्ष इति ब्रह्मवर्षसकामस्य”— इति † ॥ ३१ ॥

“तद्वस्थेवेत्यादि । तस्मिन् होममन्त्रे ‘प्रजननस्य’ रूपमिव ‘रूपम्’ विद्यते । ज्योतिशब्दाभिधेयं मध्येऽवस्थितं ‘रितः’ ‘उभयतः’ ‘देवतया’ देवतावाचिपदाभ्यां ‘परिगृह्णाति’ । उभयतः परिगृह्णीतत्वं रितसः प्रजननरूपम् । अतः “अग्निर्ज्योतिः”— “सूर्यो ज्योतिः”—इति मन्त्रयोः ‡ प्रजननरूपसङ्गावात्ताभ्यां होमे प्रजासम्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ॥ ३३ ॥

“तदु होवाचेत्यादि । एलकस्य पुत्रः ‘ऐलकिः’, ‘जीवलः’ इति तस्य नाम । “गर्भं मेवेति । कालद्वयेऽपि ज्योतिशब्दस्य देवतावाचिपदगृह्णीतत्वात् रितः परिगृह्णीत मन्त्ररवस्थितं गर्भावस्य मेव भवति ; न तु प्रजारूपेणोत्पद्यत इत्यादिः तद्दोषोपन्यासः, “स एतेनेत्यादिः, तत्परिहारः ॥

“अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा”—इत्येतेनैव § सायं जुहु-

\* का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १४. १५ ।

‡ वा० सं० ३. ६. १, २ ।

§ वा० सं० ३. ६. १ ।

यात्, तेन गर्भो धृतो भवति । प्रातःकाले तु “ज्योतिः  
सूर्यः सूर्यी ज्योतिः स्वाहा”-इत्यनेन \* मन्त्रेण होमे  
सति रेतोरूपस्य ज्योतिशब्दस्य हिङ्गुरणात् अन्तर्गतो गर्भो  
वह्निः प्रजोत्पत्तिर्भवति † ॥ ३४ ॥

“अथ प्रातरिति । स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

“तदाहुरिति । “अग्नावेवेतदिति । अग्निर्ज्योतिरिति-  
मन्त्रेण जुह्वन् ‘अग्नावेव’ सन्तं ‘सूर्यं’ ‘जुहोति’; अतः सूर्यो  
ज्योतिरिति ज्योतिशब्दोऽग्निवचनः । अतो यथापठिताभ्या  
मेव मन्त्राभ्यां होम इत्यभिप्रायः ।

“तदुदितहोमिना मित्यादि । ‘तत्’ उक्तविधानाम् ‘उदित-  
होमिना मेव’, नानुदितहोमिनां सम्भवति । कथं मिति चेत्,  
उच्यते—सूर्यं ह्यस्ताङ्गते ‘अग्निः ज्योतिः’ प्रकाशमानो भवति,  
उदिते त्वान्येतजस्रङ्गमात् सूर्यश्च प्रकाशवान् भवति । तस्मात्  
“अग्निर्ज्योतिः—सूर्यो ज्योतिः”-इति मन्त्रनिष्पाद्यस्याग्निहोत्र-  
होमस्य अग्नी पूर्वोक्तरूपं ‡ “गर्भं मेव करोति, न प्रजनयतीति  
एवंरूपा निन्दा नास्तीत्यर्थः ।

तद्गुदितहोमपक्ष एवाश्रयणीय इत्याशङ्क्य § तत्र दोषान्तर  
माह—“इयं मेव परिचक्षेति । ‘यद्’ यस्मात् ‘अग्ने स्वाहा’,  
‘सूर्याय स्वाहा’ इति ‘तस्यै’ देवतायै प्रत्यक्षं न ह्यग्ने, किन्तु  
“अग्निर्ज्योतिः—सूर्यो ज्योतिः”-इति प्रथमाम् त्वेन सम्प्रदान-

\* वा० सं० ३. ६. ५ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १५. ११ ।

‡ पुरस्तादिहोत्रे ११३ पृ० ६ पं० स्पष्टम् ।

§ “प्रातर्जुहोत्यनुदिते”-इत्येव विधिः; का० श्रौ० सू० ४. १५. १ ।

विभक्तेरभावात् देवतात्वस्य परोक्ष भेदास्य पक्षस्य निन्दे-  
त्यर्थः ॥ ३६ ॥

एवं निन्दानिन्दां प्रदर्श्य, अनिन्द्यं पक्षान्तर माह— अने-  
नैवेति । तदुक्तं सूत्रकृता— “प्रदीप्ता \* मभिजुहोति अग्नि-  
र्ज्योतिरिति † सजूरिति ‡ वा”—इति § । “तत् सविष्टम-  
दित्यादि, सुगमम् । “प्रत्यक्षं जुहोतीति । ‘जुषाणः’ हविः  
सेवमानः ‘अग्निः’ ‘वेतु’ कामयता मिति प्रतिपादनात् अग्नेर्हीमः  
प्रत्यक्ष इति प्रागुक्तात् पक्षात् वैलक्षण्य मित्यर्थः । प्रातःकालीन-  
मन्त्रेष्वेवं द्रष्टव्यम् ॥ ३७, ३८ ॥

हुतशिष्टस्य स्थालीमध्यस्य पयसो ब्राह्मणानां पानं १ विधित्वाः  
ततोऽन्य एव ब्राह्मणोऽग्निहोत्रहोमस्याध्वर्युरिति प्रतिपादयति—  
“ते होचुरित्यादिना । “अथ यत् स्थाल्या भिति । अग्निहोत्र-  
होमसाधनभूतायां सुचि यत् हुतशिष्टम्, तस्यैव हिः प्राश्नातीति  
प्राशनं विहितम्; यत् स्थाल्या भवति, तत् नग्निहोत्रो-  
च्छिष्टम् । तत्र दृष्टान्तः— “यथा परिणह इति । परितो नदं  
परिश्रितं ॥ धान्यपूर्णं शकटस्योपरि स्थापितम्; यथा तस्माद्द्विषो  
निर्वापयितुं तन्नतं धान्यं न शिष्यते, किन्तु पुनरपि यागान्तरयोग्य  
मेव । ‘एवं तत्’ स्थाल्यां पय इत्यर्थः । तथा चाध्वर्योरेव तत्

\* ‘प्रदीप्ताया मिति क् ।

† वा० सं० ३. ६. १, २ ।

‡ वा० सं० ३. १०. १, २ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

॥ ‘परिवीतं’—इति च । ‘परिश्रितं’— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।



पान मिति नियमाभावात् यः कोऽपि ब्राह्मणस्तत्  
पित्रेदित्यर्थः \* ॥ ३८ ॥ ३ [ ३. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

एता ह वै देवता योऽस्ति । तस्मिन्वसन्ती-  
न्दो यमो राजा नडो नैषिधो ऽनन्नगत्याङ्गमनो-  
ऽसन् पा०सवः † ॥ १ ॥

तदा ऽएष एवेन्द्रः । यदाहवनीयो ऽथैष एव  
गार्हपत्यो यमो राजायैष एव नडो नैषिधो  
यदन्वाहार्यपचनस्तद्यदेतमहरहर्दक्षिणत आहरन्ति  
तस्मादाहुरहरहर्वै नडो नैषिधो यमः राजानं  
दक्षिणत उपनयतीति ‡ ॥ २ ॥

\* “स्थाल्यां परिशिनष्टि तद् ब्राह्मणः पिवेत्”—इति का० श्रौ० सू०  
४. १४. ११ । “नायं ब्राह्मणस्य पाने नियमः, किं तर्ह्यब्राह्मणस्य प्रतिषेधो-  
ऽयम्”—इति च तट्टीकार्यां या० दे० ।

† ‘पा०सवः’— इति घ, ङ ।

‡ ‘तीति’—इति घ, ङ ।

अथ य एष सभाया मग्निः । एष एवान-  
 श्न त्स्नाङ्गमन \* स्तद्यदेत मनशित्वेवोपमङ्गच्छन्ते तस्मा-  
 देषो ऽनश्नन्नथ यदेतद् भस्मोद्भृत्य परावपन्त्येष एवा-  
 सन् पाञ्चसवः स यो हैव मेतद्देदैवं मय्येता देवता  
 व्वसन्तीति सुर्व्वान्हेवैतां लोकान् जयति सुर्व्वालोका-  
 ननुसञ्चरति ॥ ३ ॥

तेषा मुपस्थानम् । यदेव सायं प्रातराहवनीय  
 मुप च तिष्ठत ऽउप चास्ते तदेव तृक्षीपस्थान मथ  
 यदेव प्रतिपरित्य गार्हपत्य मास्ते वा श्रिते वा तदेव  
 तृक्षीपस्थान मथ यच्चैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्थरेत्  
 तदेव तं मनसोपतिष्ठेत तदेव तृक्षीपस्था-  
 नम् ॥ ४ ॥

अथ प्रातः † । अनशित्वा मुद्भृतं सभाया  
 मासित्वापि कामं पत्ययेत तदेव तृक्षीपस्थान मथ  
 यच्चैव भस्मोद्भृत मुपनिगच्छेत्तदेव तृक्षीपस्थान मेव मु  
 हास्येता देवता उपस्थिता भवन्ति ॥ ५ ॥

यजमानदेवत्यो वै गार्हपत्यः । अथैष भातृव्य-  
 देवत्यो यदन्वाहार्यपचनस्तस्मादेतं नाहरहराहरेयुर्न

\* 'अनश्नाङ्गमन'—इति घ, ङ ।

† 'प्रातः'—इति घ, ङ ।

ह वा ऽअस्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं व्विदुष एतं  
नाहरहराहरन्त्यन्वाहार्यपचनो वा ऽएषः ॥ ६ ॥

उपवसथ ऽएवैन माहरेयुः । यत्रैवास्मिन्यच्यन्तो  
भवन्ति तयो हास्यैषो ऽमोघायाहृतो भवति ॥ ७ ॥

नवावसिते \* वैन माहरेयुः । तस्मिन् पचेयुस्तद्  
ब्राह्मणा अग्नीयुर्यद्यु तन्न विन्देद्यत्पचेदपि गोरिव  
दुग्ध मधिश्रयितवै ब्रूयात्तस्मिन् ब्राह्मणान्प्राययितवै  
ब्रूयात्पापीयासो ह वा ऽअस्य सपत्ना भवन्ति  
यस्यैवं व्विदुष एवं कुर्वन्ति तत्मादेव मेव चिकी-  
र्षेत् ॥ ८ ॥

तद्यत्रैतत्प्रथमं सुमिद्धो भवति । धूयुत † ऽइव  
तर्हि हेष भवति रुद्रः स युः कामयेत यथेमा रुद्रः  
प्रजा अश्रद्धयेव त्वत्सहसेव त्वन्निघात मिव त्वत्सुचत  
ऽएव मन्न मद्या मिति तर्हि ह सु जुहुयात्प्राप्नोति  
हैवैतदन्नाद्यं यु एवं व्विद्वांस्तर्हि जुहोति ‡ ॥ ९ ॥

अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति । तर्हि हेष

\* 'नवावसथे'— इति स्यात् मायणसम्मतः ।

† 'धूयुत'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

‡ 'जुहोति'— इति ग, 'जुहोति'— इति घ, ङ। इहोपरिष्ठः चैवम् ।

भवति वृत्तणः स यः कामयेत युयेमा व्वरुणः  
 प्रजा एत्तुन्निव त्वत्सुहसेव त्वन्निघात मिव त्वत्सुचत  
 एव मन्न मद्या मिति तर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति  
 हैवैतदन्नाद्यं य एवं व्विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥ १० ॥

अथ युञ्जेत्प्रदीप्तो भवति । उच्चैर्धूमः परमया  
 जूत्या ब्रह्मलीति \* तर्हि हैष भवतीन्द्रः स यः  
 कामयेतेन्द्र इव श्रिया यशसा स्या मिति तर्हि  
 ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं  
 व्विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥ ११ ॥

अथ युञ्जेत्प्रतितरा मिव । तिरुधीवाच्चिः स  
 शास्यतो † भवति तर्हि हैष भवति मित्रः स यः  
 कामयेत सैन्नेषोद मन्न मद्या मिति य माहुः सर्व्वस्य  
 वा ऽअयं ब्राह्मणो मित्रं न वा ऽअयं कं च न  
 हिनस्तीति तर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं  
 य एवं व्विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥ १२ ॥

अथ युञ्जेत्द्वाराश्चाकथ्यन्त इव । तर्हि हैष  
 भवति ब्रह्म स यः कामयेत ब्रह्मवर्चसी स्या मिति

\* 'ब्रह्मलीति - इति च इथो डा०-वेवरेण ।

† 'संशास्यतो'—इति घ, ङ ।

तर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं  
व्विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥ १३ ॥

एतेषा मेक् संवत्सर मुपेत्यत् । स्वयं जुह्वद्यदि  
वाख्यान्यो जुहुयादथ यो ऽन्यथान्यथा जुहोति  
यथापो वाभिखुनन्नन्यद्दान्नाद्यं स सामि निवर्तेतैवं  
तदथ यः सार्धं जुहोति यथापो वाभिखुनन्नन्यद्दा-  
न्नाद्यं तत् त्रिप्रे ऽभितृन्द्यादेवं तत् \* ॥ १४ ॥

अभ्रयो ह वा ऽएता अन्नाद्यस्य यदाहुतयः ।  
अभि हैवैतदन्नाद्यं तृणति य एवं व्विद्वानग्निहोत्रं  
जुहोति ॥ १५ ॥

सा या पृर्व्वीहृतिः । ते देवा अथ योत्तरा  
ने मनुष्या अथ यत् स्रुचि परिशिनष्टि ते  
पगवः ॥ १६ ॥

स वै कनीय इव पृर्व्वी माहुतिं जुहोति ।  
भूय इवोत्तरां भूय इव स्रुचि परिशिनष्टि ॥ १७ ॥

स यत् कनीय इव पृर्व्वी माहुतिं जुहोति ।  
कनीयासो हि देवा मनुष्येभ्यो ऽथ यद् भूय ऽइवोत्तरां  
भूयासो हि मनुष्या देवेभ्यो ऽथ यद् भूय इव

\* तत्—इति क, तत्—इति घ, ङ ।

सुचि परिशिनष्टि भूयांसो हि पशवो मनुष्येभ्यः  
 कुनीयांसो ह वा ऽअस्य भार्या भवन्ति भूयांसः  
 पशवो य एवञ्चिद्दानग्निहोत्रं जुहोति तद्वै समृद्धं  
 यस्य कुनीयांसो भार्या असन् भूयांसः पशवः ॥  
 १२ ॥ ४ ॥

॥ कृति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ [ ३. २. ]

अथान्युपस्थानं विधित्सुस्तेषा मग्नीनाञ्च देवतरुपता  
 माह—‘एता ह वा इति । योऽस्ति’ यो यजमानो विद्यते,  
 तस्मिन् ‘एता.’ वक्ष्यमाणा देवता निवसन्ति । ताश्च ‘इन्द्रः,  
 यमः, नडः, नैषिधः इति \* । निषधदेशाधिपतिर्नलः प्रसिद्धो  
 राजा । ‘अनश्नत्सङ्गमनः’ इति सभ्योऽग्निरुच्यते, ‘असन्  
 पांसव’—इत्यावसथ्यः ॥ १ ॥

एवं तच्छिष्टानां स्वरूपप्रतिपादनं ‘तद्वा इत्यादिना  
 क्लिपते । ‘अन्वाहार्यपचनः’ अग्निः, ‘एष एव’ (‘नडः’)  
 नलः, ‘निषिधः’—इति निर्दिष्टः । निषिधराजस्य च नलस्य,  
 दक्षिणाग्नेश्च साम्य माह—‘तद्यदिति । अग्निहोत्रहोमकाले  
 एव † मन्वाहार्यपचनं ‘यद्’ यस्मात् ‘दक्षिणतः अहरहः  
 आहरन्ति’, तस्मादेव ‘निषिधः’ नलोऽपि यमस्य राज्ञः ‘दक्षिणतः’  
 उपगच्छतीति लोकप्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ २ ॥

“अथ य एष सभाया मग्नि, ‘एष एवानश्नति ‡ ।

\* ‘नलो (।) नैषध (।) इति—इति च ।

† ‘एत’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १५, २३ ।

‘एषः’ सभ्योऽग्निः, अनशित्वेव प्रातः सभ्यः सङ्गम्यत इति व्युत्पत्त्या अनश्रन्सङ्गमन इति पदद्वयेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “भस्मोद्धृत्येति \* । गार्हपत्याह्वनीयादिगतं भस्म उद्धृत्य ‘यत्’ प्रातरेव आवसथे ‘प्रावपन्ति’ । “एष एवासन्निति । भस्मनः पांसुत्वत्वात् ‘पांसवः’ भस्मरूपाः पांसुसम्बन्धिनश्च । एवं पञ्चानां मग्नीनां देवतात्मकत्वं प्रतिपाद्य एतद्वैतुः फलमाह— “स य इति ॥ ३ ॥

“तिपा मुपस्थानमिति । वक्ष्यत इति शेषः । आह्वनीयस्य समीपेऽवस्थानं वा मासनं शयनं वा क्रियाः ; ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ † ; ‘प्रतिपरेत्य’ अह्वनीयः गारात् प्रतिनिदर्थ्य गार्हपत्यसमीपे वासं वा शयनं वा क्रियते, ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ ‡ ; “संब्रजन्निति । तदेव ‘तं मनसोपतिष्ठते’, ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ ॥ ; अग्निहोत्रं स्वाङ्गस्यापि तस्य सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

“अथ प्रातरिति । “सभाया मासित्वेति । भोजनात् प्रागेव ‘मुहूर्ते’ ‘सभायाम्’ उपविश्य, पञ्चात् यथेच्छं ‘पत्न्येते’ परिगमनं ‘कुर्वीत’ ¶, ‘तत्’ आसनं ‘तस्य’ सायाम्नेः ‘उपस्थानम्’ । उद्धृत-भस्मोपगमनं गेव आवसथ्योपस्थानम् \* ॥ ५ ॥

यदेतदन्वाहार्यस्याह्वरहर्दक्षिणत आहरणम्, तदुपवसथ एवाह्वनिं कर्त्तव्यं नान्यत्वेति विधित्सुराह— “यजमानदेवत्यां वा इति ॥” अह्वरह्वरह्वरणे यजमानस्य शतुदेहसम्बन्धिता भवती-

\* का० श्रौ० सू० ४, १५, ३४ ।

† ‘समीपे यत् स्थान’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १५, ३० ।

§ का० श्रौ० सू० ४, १५, ३१ ।

॥ का० श्रौ० सू० ४, १५, ३२ ।

¶ ‘करोति’—इति च ।

\*\* का० श्रौ० सू० ४, १५, ३३ ।

†† का० श्रौ० सू० ४, १३, ६ ।

त्यर्थः । “अन्वाहार्यपचनः”—इति यौगिकी सञ्ज्ञा, तस्मात् सोऽन्वाहार्यः ॥ ६ ॥

“उपवसथ इति \* । औदनो यस्मिन्नहनि ऋग्नी पक्तव्यः, तत्रैवोपवसथेऽहनि तस्याहरणं कर्त्तव्यमित्यर्थः । “अमोघायेति । सप्रयोजनायेत्यर्थः ॥ ७ ॥

“नवावसिति वेति † । नव आवसथो नवावसथः ; नूतनं स्थानम् प्राप्य ‘एनम्’ अन्वाहार्यपचनम् ‘आहरेयुः’ । आहरण-प्रयोजनं माह—“तस्मिन्निति ‡ । “दद्यु तन्न दिन्देदिति । पक्तव्यालभे गोर्दुग्ध्वा पय एव तस्मिन्नग्नौ ‘अधिश्रयितवे’ अधिश्रयितुं ‘ब्रूयात्’ § । तुमर्थे तत्रे-प्रत्ययः ॥ । एवञ्चान्वाहार्यपचनस्याहरणहर्दक्षिणत आहरणमित्येकः पक्षः, यत्तु देशान्तरे प्रवसन् यजमानः अहरणः पाकसमये तस्मात्पचनभूतं स्वकीयमन्वाहार्यपचनं स्मरेत् उपवसथ एवेति द्वितीयः, नवावसथे वेति तृतीयः । सूत्रकृताप्युक्तम्—“आहरणं संकषा सुपदमथे नवावसथे वा तस्मिन् पचेयुरमांसम्, पाक्वाभाये गैः प्रयेऽधिश्रयितवे ब्रूयात्”—इति ¶ ।

एव मन्वाहार्यपचनस्य न प्रतिदिवसमाहरणं किन्तूपदमथे नवावसथे वेति यदुक्तम्, तस्य फलं माह—“पःपीयांस इति । अन्वाहार्यपचनस्य भ्रातृव्यस्थानीयत्वात् तस्य प्रतिदिवसमाहरणाभावात् शत्रुक्षयो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथाहवनीयःग्नेरवस्थाविशेषः सुपजीव्य रुद्रवरुणन्द्रादिदेवता-

\* का० श्रौ० सू० ४, १३, ७ ।

† का० श्रौ० सू० ४, १३, ८ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १३, ९ ।

§ का० श्रौ० सू० ४, १३, १० ।

॥ पा० सू० ३, ४, ९ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४, १३, ६—१० ।



रूपान् प्रकल्प्य काम्यान् होमकालानाह— “तद्यत्रैतदिति \* । काष्ठैः समिद्धोऽग्निर्यदा प्रथमं धूमायमानो भवति †, तस्मिन् समये एष रुद्रात्मको भवति । “यथेमा रुद्र इति । ‘यथा’ खलु ‘रुद्रः’ ‘इमाः’ सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘अथहयेव त्वा’ अप्रियेणैव एकवारम्, ‘सहसेव त्वत्’ बलात्कारिणैव एकवारम्, तथा ‘निघात मिव त्वत्’ प्रजानां हनन मिव एकवारम्, ‘सर्वत’ समवेति ; ‘एवम्’ एवाहं सर्वम् ‘अन्नम्’ उपसंहृत्य ‘अद्याम्’ भक्षयेयम् ‘इति’ ‘यः कामयेत’, ‘स.’ यजमानः ‘तर्हि’ तस्मिन् रुद्रावस्थोऽग्नौ ‘जुहुयात्’ । एव मुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ ८ ॥

“अथ यत्रैतत् प्रदीप्ततरो भवतीति ‡ । प्रदीप्तावस्थ आहवनीयो वरुणात्मकः । “गृह्णन्निव त्वदिति । वरुणो हि पापीयसीः प्रजाः आत्मीयेः पाशैः ‘गृह्णन्निव’ भवति, तदवद्य मपि सर्वं मन्नाद्य मुत्पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ १० ॥

“अथ यत्रैतत् प्रदीप्तो भवतीति § । “उच्चैर्धूम इति । यस्या भवस्थाया माहवनीयः प्रदीप्तः सद्बुद्धतधूमो भूत्वा महता वेगेन ‘बल्वलि’-‘इति’ एवं शब्दायते, तदवस्थोऽग्निरिन्द्रात्मक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

“अथ यत्रैतत् प्रतितरा मिवेति ॥ । काष्ठेषु दग्धेषु ‘संशाम्यतः’ ‘अग्नेः अर्चिः’ ‘प्रतितरां’ निष्कष्टतराम् ‘इव’,

\* का० श्रौ० ४. १५. १६ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

† “‘धूप्यत इव’ धूमायमान इव भवति”—इति च ।

‡ का० श्रौ० ४. १५. १७ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० ४. १५. १८ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

॥ का० श्रौ० ४. १५. १९ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

ऊर्धाधोगमनाभावे 'तिरश्चीव' भवति \* । "य माङ्गुरिति ।  
ब्राह्मणस्य यजमानस्य होमकाले इत्यर्थः ॥ १२ ॥

"अथ यन्नेतदङ्गाराद्याकस्य त इवेति † । सर्वासु ज्वालासु  
निवृत्तासु केवल मङ्गारा अत्यर्थं दीप्यन्ते ; तस्या मवस्थायाम्  
'एषः' अग्निः 'ब्रह्म' परब्रह्मात्मको 'भवति' ॥ १३ ॥

"एतेषां मेक मित्यादि । 'एतेषां' रुद्राद्यवस्थाविशेषाणां  
मध्ये 'एकं' 'संवत्सरं' संवत्सरपर्यन्तं निरन्तर मनुतिष्ठेत् । 'यदि'  
यजमानः 'स्वयम्' एवाग्निहोत्रं 'जुह्वत्' भवति, 'अन्यो वा'  
अध्वर्युः 'जुहुयात्', उभयोरप्येष संवत्सरनियमः ‡ ॥

यसु संवत्सरमध्ये उक्तनियमं परित्यज्य 'अन्यथा' प्रतिदिवसं  
प्रकारान्तरेण 'जुहोति', तस्य दोषं दृष्टान्तपुरस्सर माह—  
'यथेति । 'अपः' 'अभि'-लक्ष्य वापीकूपादिकं 'स्वनन्', 'अन्यद्'  
व्रीहियवादिकम् 'अन्नाद्यं वा' सम्पादयन्, 'सामि' अर्धहोत्रे  
'यथा' 'निवर्त्येत' 'एवम्' एव 'तत्' अन्यथाग्निहोत्रहवन  
मित्यर्थः ॥

संवत्सरपर्यन्तं निरन्तर मेकं पक्षं कुर्वतो यजमानस्यो-  
द्दिष्टफलप्राप्ति माह— "अथ य इति । "साङ्गं" सह, नैरन्तर्येण  
'यः' संवत्सरं 'जुहोति', सिद्ध मन्यत् । 'अन्नाद्यम्' 'अभिलषति'  
स उत्पादयतीत्यर्थः § ॥ १४, १५ ॥

पूर्वोत्तराहुतिद्रव्ययोरवशिष्टस्य चोत्तरोत्तरं भूयस्त्वं विधाय  
प्रतिपादयति— 'सा येत्यादिना ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥

\* 'ऊर्धाधोगमनरहित इव भवति'—इति च ।

† का० श्रौ० ४. १५. २० सू० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १५. २७ क । § का० श्रौ० मू० ४. १५. २७ ख ।

“स यत् कनीय इति । “भार्या भवन्तीति । भर्त्तव्याः  
प्रजा भवन्तीत्यर्थः ॥

“तद्वै समृद्ध मिति । यत् खलु भोक्तृणा मल्पीयस्त्वम्,  
भोग्यसम्पत्तिर्भूयसी, तत् खलु समृद्ध मित्यर्थः \* ॥ १८ ॥ ४  
[ ३. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः † ॥

\* “स्वयं वा जुहुयात्, उपवसथे नियमः”—इति का० श्रौ० ४. १५. ३५,  
३६ सूत्रे । “सर्वदा स्वय मेव वाग्निहोत्रं जुहुयात्, अग्नौ वा”—इति,  
उपवसथशब्देन पौर्णमास्यमावास्ये उच्यते । तत्र स्वय मेव एते रात्री  
अग्निहोत्रं जुहुयादित्ययं नियमः । सूतके न्यतकेऽपि तत्काल मेव स्नात्वा  
स्वय मेव होमः कार्यः—इति च तयोर्याज्ञिकदेवज्ञते व्याख्याने ।

† “कण्डिकासङ्ख्या १०३”—इति क, ख-पुस्तके नास्ति, “काण्डे १०४”  
इति—ग, घ-ङयोः कवत् । तत्र १ ब्रा० १८ क०, २ ब्रा० १८ क०, ३ ब्रा०  
३६ क०, ४ ब्रा० १८ क० ; सङ्कलनया १०३ सिद्धम् ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

युत्र वै प्रजापतिः प्रजाः समृजे \* । स युत्रा-  
 ग्निं ससृजे सु इदं जातः सर्व्वं मेव दुग्धुं  
 दध्न ऽदृत्वेवाविलु मेव ता यास्तर्हि प्रजा आमुस्ता  
 हैनं ससृष्टुं दध्नरे सो ऽतितिक्षमाणः पुरुष  
 मेवाभ्येयाय ॥ १ ॥

स होवाच । न वा ऽग्रहृ मिदं तितिक्षे हन्त  
 त्वा प्रविशानि तं मा जनयित्वा विभृहि स  
 युथैव मां त्व मस्मिंल्लोके † जनयित्वा भरिष्यस्येव  
 मेवाहं त्वा ममुष्मिंल्लोके जनयित्वा भरिष्यामीति  
 तथेति तं जनयित्वाविभः ॥ २ ॥

\* 'ससृजे'— इति क, ग ; 'सृजे'— इति घ, ङ ।

† 'मस्मिन् लोके'— इति क ; 'मस्मिंल्लोके'— इति घ, ङ । एव  
 महोत्तरत्रापि सर्व्वत्र ।

स यदानीं ऽआधत्ते \* । तदेनं जनयति तं जनयित्वा विभर्त्ति स यथा हैवेष एत मन्धिंल्लोके जनयित्वा विभर्त्स्येव मु हैवेष एत ममुष्मिंल्लोके जनयित्वा विभर्त्ति ॥ ३ ॥

तन्न साम्युद्वासयेत । सामि हाश्मै सु ग्लायति स यथा हैवेष एतस्मा ऽअन्धिंल्लोके सामि ग्लायत्येव मु हैवेष एतस्मा ऽअमुष्मिंल्लोके सामि ग्लायति तस्मान्न साम्युद्वासयेत ॥ ४ ॥

स यत्र म्रियते । यत्नेन मग्नात्रभ्यादधति तदेषो ऽग्नेरधिजायते सु एष पुत्रः सन् पिता भवति ॥ ५ ॥

तस्मादितदृषिणाभ्यनूक्तम् † । शत मित्रु शरदो ऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रौरिषतायुर्गन्तोरिति पुत्रो ह्येष सन्त्व ‡ पुनः पिता भवत्येतन्न तद्यस्मादग्नी ऽआदधीत ॥ ६ ॥

तद्वा एष एव मृत्युः । यु एष तुपति

\* 'त्ते'— इति क, ग; 'त्ति'— इति घ, ङ ।

† 'क्तम्'— इति घ, ङ । ‡ 'सन्त्व'— इति च ङङो डा०-वेवरेण ।

तद्यदेष एव मृत्युस्तस्माद् या एतस्मादूर्ध्वं च्यः  
 प्रजाप्ता म्रियन्ते ऽथ याः पराच्यन्ते देवास्तस्माद्  
 ते ऽमृतास्तुखेमाः सूर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्व-  
 भिहिता यथाश्रवो ऽश्वाभिधान्या वाभीशुभिर्व्वैव  
 मखेमाः सर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहिता  
 स्तस्माद् रश्मयः प्राणानभ्यवतायन्ते ॥ ७ ॥

स यत्नं कामयते । तस्य प्राणं मादायोदेति स  
 म्रियते \* स यो ह्येतं मृत्युं मनति मुच्यः यामुं लोकं मेति  
 यथा ह्यैवास्त्रिंश्लोके न संयतं माद्रियते यदा यदैव  
 कामयते ऽथ मारयत्येव मु ह्यैवामुंश्चिंश्लोके पुनः-  
 पुनरेव प्रमारयति ॥ ८ ॥

स यत् साय मन्नामिती दे ऽश्वाहृती जुहोति ।  
 तदेताभ्यां पृथ्व्यां पद्भ्यां मेतस्मिन् मृत्यौ प्रतितिष्ठ-  
 त्यथ यत् प्रातरनुदिते दे ऽश्वाहृती जुहोति  
 तदेताभ्यां मपराभ्यां पद्भ्यां मेतस्मिन्मृत्यौ प्रति-  
 तिष्ठति स एन मेष उद्यन्नेवादायोदेति तदेतं †

\* 'संम्रियते'— इति क, ग ; इष्टो ङा०-वेवरेण च ।

† 'यदैव'— इति घ, ङ ; 'यदैव'— इति च ङा०-वेवरेण इष्टः ।

‡ 'तदेतम्'— इति क ।

मृत्सु मृतिमुच्यते सैषामग्निहोत्रे मृत्योरुतिमुक्तिरुति  
ह वै पुनर्मृत्सुं मुच्यते य एव मेता मग्निहोत्रे मृत्योरुति-  
मुक्तिं व्वेद ॥ ९ ॥

यथा वा ऽद्भुषोरनीकम् । एवं यज्ञाना मग्नि-  
होत्रं येन वा ऽद्भुषोरनीक मेति सर्व्वं वै तेनेषु-  
रेत्येतेनो हास्य सर्व्वं यज्ञक्रतव एतं मृत्सु मृति-  
मुक्ताः ॥ १० ॥

अहोरात्रे ह वा ऽसमुषिंल्लोके परिप्लवमाने ।  
पुरुषस्य सुकृतं क्षिणुतो ऽर्वाचीनं वा ऽसुतो  
ऽहोरात्रे तथो हास्याहोरात्रे सुकृतं न  
क्षिणुतः ॥ ११ ॥

स यथा रथोपस्थे तिष्ठन् । उपरिष्ठाद्रथचक्रे  
पल्यङ्गमाने ऽउपावेक्षेतैवं परस्तादर्वाचीनो ऽहोरात्रे  
ऽउपावेक्षते न ह वा ऽअस्याहोरात्रे सुकृतं क्षिणुतो  
य एव मेता महोरात्रयोरुतिमुक्तिं व्वेद ॥ १२ ॥

पूर्व्वेणाहवनीयं परीत्य \* । अन्तरेण गार्हपत्यं  
चैति न वै देवा मनुष्यं व्विदुस्त एन मेतदन्त-  
रेणातियन्तं व्विदुरयं वै न इदं जुहोतीत्यग्निर्व्वं

\* 'परीत्य'— इति क, घ, ङ ।

पाप्मनो ऽपहन्ता तावत्याहवनीयश्च गार्हपत्यश्चान्तरि-  
णातियतुः पाप्मान मपहतः सोऽपहतपाप्मा ज्योति-  
रेव श्रिया यशसा भवति ॥ १३ ॥

उत्तरतो वा ऽग्निहोत्रस्य द्वारम्\* । स यथा  
द्वारा प्रपद्येतैवं तदथ यो दक्षिणत एत्यास्ते  
यथा बहिर्धा चरेदेवं तत् † ॥ १४ ॥

नीहं वा ऽएषा स्वर्ग्या । यदग्निहोत्रं तस्या  
ऽएतस्यै नावः स्वर्ग्याया आहवनीयश्चैव गार्हपत्यश्च  
नौमण्डे ऽश्रयैष एव नावाजो यत् चीर-  
होता ॥ १५ ॥

स यत् प्राङ्मुपोऽद्वैति । तदेनां प्राची मभ्यजति  
स्वर्गं लोकं मभि तथा स्वर्गं लोकं समश्नुते तस्या  
ऽउत्तरत ऽश्वारोहणं सैनं स्वर्गं लोकं  
सुमापयत्यथ यो दक्षिणत एत्यास्ते यथा  
प्रतीर्णया मागच्छेत् स द्विहीयेते स तत एव  
बहिर्धा ह्यादेवं तत् ‡ ॥ १६ ॥

अथ या मेतां समिध मभ्यादधाति सेष्टका

\* 'द्वारम्'— इति क, ग, घ, ङ ।

†, ‡ 'तत्'— इति घ, ङ ।



येन मन्त्रेण जुहोति तद्यजुर्येनैता मिष्टका मुप-  
 दधाति यदा वा ऽद्रष्टकोपधीयतेऽथाहुतिर्हूयते  
 तदस्योपहितास्त्रेवेष्टकास्त्रेता आहुतयो ह्यते या  
 एता अग्निहोत्राहुतयः ॥ १७ ॥

प्रजापतिर्व्या ऽअग्निः । संवत्सरो वै प्रजापतिः  
 संवत्सरे-संवत्सरे ह वा ऽअस्याग्निहोत्रं चित्थेना-  
 ग्निना सन्तिष्ठते संवत्सरे-संवत्सरे चित्थ मग्नि  
 माप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येतदु हास्या-  
 ग्निहोत्रं चित्थेनाग्निना सन्तिष्ठते चित्थ मग्नि  
 माप्नोति ॥ १८ ॥

सप्त च वै शतान्यशीतीनामृचः । द्विंशतिश्च  
 स यत् सायं प्रश्नग्निहोत्रं जुहोति ते द्वे ऽआहुती  
 ता अस्व संवत्सर ऽआहुतयः सम्पद्यन्ते ॥ १९ ॥

सप्त चैव शतानि द्विंशतिश्च । संवत्सरे-  
 संवत्सरे ह वा ऽअस्याग्निहोत्रं महतोक्थेन सम्पद्यते  
 संवत्सरे-संवत्सरे महदुक्थ माप्नोति य एवं विद्वान्-  
 नग्निहोत्रं जुहोत्येतदु हास्याग्निहोत्रं महतोक्थेन  
 सम्पद्यते महदुक्थ माप्नोति ॥ २० ॥ १ [३.३.] ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अथैतयोर्गार्हपत्याहवनीययोरग्न्योरुपस्थानं विधित्सुः प्राग्विहिते  
 आधानाग्निहोत्रे समुच्चित्वा क्रमेण स्तौति— “यच्च वा  
 इत्यादिना । यदा खलु प्रजापतिः प्रजाः सृष्टवान्, तदा  
 ‘अग्निम्’ इममपि ससर्ज । ‘सः’ च ‘जातः’ अग्निः ‘सर्वम्’  
 ‘इदं’ जगत् ‘दग्धुम्’ ‘दध्ने’ उद्युक्तो बभूव, ‘इति’ इदं सः  
 जगद् व्याकुल मभूत् । “ता ह्येन मिति । ‘एनम्’ अग्निम् ।  
 “सोऽतितिसमाण इत्यादि । ‘अतितिसमाणः’ प्रजाभिस्त्रिकी-  
 र्षितं पेषण मसहमानः कर्माधिकारिणं ‘पुरुषम्’ अभिजगामे-  
 त्यर्थः ॥ १ ॥

“स होवाचेति । अभिगम्य किमुक्तवानिति, तदाह— “न  
 वा अह मिति । ‘तितिसो’ सोढुं शक्नोमि । निगदसिष  
 मन्यत् ॥ २ ॥

एव मग्निना प्रार्थितः, ‘तथा’ ‘इति’ अङ्गीकृत्य पुरुषेण  
 तथैवानुष्ठित मिति दर्शयति— “स यदग्नीत्यादिना ॥ ३ ॥

एव मग्न्याधानेन जनितस्याग्नेर्भरणं विधाय, तस्य भरणात्  
 प्राक् उहासनं निषेधति— “तचेति । ‘सामि’ मध्ये यद्यग्निम्  
 ‘उहासयेत्’ विसृजेत्, तर्हि ‘अस्मै’ यजमानाय ‘सः’ अग्निः  
 ‘सामि’ अर्हन्त्वानियुक्तो भवति । “स यथेत्यादि । इह लोके  
 येय मग्निश्चानिः, सा आमुष्णिकयजमानग्नानेहेतुर्भवतीत्यर्थः ।  
 तस्मादामरणान्तम् अग्निर्वार्य इति निगमयति— “तस्मा-  
 दिति ॥ ४ ॥

“स यत्नेति । “यत्नेन मग्नाविति । ‘एनं’ सृष्टं यजमानं  
 पेटमेधिकविधिना अग्नी प्रक्षिपन्तीत्यर्थः । ‘सः’ ‘एषः’  
 अग्निः । “पुत्रः सन् पिता भवतीति । यजमानस्य जीवना-

वस्थाया माधानेनोत्पादितत्वादग्निस्तस्य पुत्रः, मरणादूर्ध्वन्तु तस्मादग्नेर्यजमानस्य जननात् पुत्र एव तस्य पिता भवति इत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पुत्रस्य सतः पितृत्वं विरुद्धं मित्याशङ्क्य काञ्चित्त्वं संवादयति—“तस्मादिति । ‘ऋषिणा’ मन्त्रेण । स च “शतं मित्रं शरद इत्यादिकः † । तस्य चायं मर्थः । हे ‘देवाः !’ ‘अग्नि’ अग्निके, मनुष्याणां समीपे आयुष्टेन परिकल्पिताः ‘शतं’ शतसङ्ख्याका एव ‘शरदः’ संवत्सराः खलु ‘यत्र’ यस्मिन् आयुषि शतसंवत्सरे ‘तनूनां’ शरीराणां ‘जरसं’ जरां ‘चक्रा’ कृतवन्तः, ‘यत्र’ च ‘पुत्रासः’ सन्तोऽपि अपत्योत्पादनेन पितरो भवन्ति, ‘नः’ अस्माकं तत् ‘आयुः’ ‘गन्तो.’ ममनात् पूर्वं ‘मध्या’ मध्ये ‘मा रीरिषत’ हिंसनं मा कृषत इति ‡ । “पुत्रो ह्येष सन्निति । मानुषस्य यजमानस्य ‘एषः’ अग्निः आधानादुत्पन्नतया ‘पुत्रः सन्’ देवशरीरापन्नस्य तस्योत्पादनेन ‘पुनः पिता भवति’ इति ‘एतत्’ खलु ‘ऋषिणा’ ‘अभ्य-गूक्षाम्’ इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अग्निहोत्रहोमस्यामृतत्वप्राप्तिसाधनत्वं वक्तुं सूर्यस्य सृष्ट्यरूपतां प्रतिपादयति—“तदा एष एवेति । “रश्मिभिरिति । सूर्यस्य किरणैः प्राणेषु बद्धा इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—“यथेति । अश्वोऽभिधीयते बध्यतेऽनयेत्यश्वविधानी, तथा ; अग्नीशवोऽन्या रज्ज्ववस्ताभिर्वेत्यर्थः । “तस्मादु रश्मय इति । यस्मात् सूर्य-रश्मिभिः प्राणेषु प्रज्जा बद्धाः, तस्मादेव कारणात् ते

\* ऋ० सं० १. ८६. ६ ।

† ‘द्विसतं प्राणक मिति’— इति च, क, ज ।

‘रश्मयः’ प्रजानां ‘प्राणान्’ ‘अभि-लक्ष्य’ ‘भवतायन्ते’ भवसा-  
र्यन्ते ॥ ७ ॥

“स यस्येत्यादि । निगदसिद्धम् । “स यो हेत मिति ।  
‘एतं’ सूर्यात्मकं सृष्ट्युम् ‘अनतिमुच्य’ अनतिक्रम्य ‘यः’ स्वर्गं  
प्राप्नोति, ‘सः’ भूलोक इव तत्रापि ‘पुनरेव’ मार्यते, न त्वसृत्व-  
प्राप्तिस्तस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

कथन्तर्हि तस्य सृष्ट्योरतिमोक इति, तत्राह— “स यदिति ।  
सायम्प्रातरग्निहोत्रे हे हे आहुती ह्येते, अतस्ताभिश्चतस्रभिराहु-  
तिभिः तस्मिन् सूर्यात्मके ‘सृष्ट्यौ’ विषयभूते सति यजमानः ‘प्रति-  
तिष्ठति’ । ‘सः एषः’ सूर्यः ‘एतं’ यजमानं रश्मिभिः ‘आदाय’  
एव ‘उदेति’, स च ‘एतं’ सृष्ट्युम् अतीत्य ‘सुच्यते’ इत्यर्थः ॥

एव मग्निहोत्रे सृष्ट्योरतिमुक्तिं प्रतिपाद्य, तदेतुः फलमाह—  
“अति हेति ॥ ९ ॥

एव मग्निहोत्रद्वारा इतरयज्ञेष्वतिमुक्तिः सिद्धेति दर्शयति—  
“यथा वा इत्यादिना । ‘यथा’ खलु ‘इषोः’ वाणस्य ‘अनीकम्’  
सुखम्, प्रधानम्, ‘एवम्’ एव ‘यज्ञाना मग्निहोत्रम्’ । ‘येन’  
खलु लक्षणेन ‘इषोरनीकं’ शल्यरूपम् ‘एति’ प्राप्नोति,  
‘तेन’ ‘सर्वेषुः’ प्राप्नोति, एवम् अग्निहोत्रसम्बद्धाः ‘सर्वे’ दर्श-  
पूर्णमासादयः ‘यज्ञक्रतवः’ तद्वारा सूर्यात्मकं ‘सृष्ट्युम्’ ‘अतिक्रान्त्वाः’  
इत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं सृष्ट्योरतिमुक्तिरहोत्राभ्या मपि यजमानेन ज्ञातव्येति  
प्रतिपादयति— “अहोत्रात्रे हेति । ‘परिप्लवमाने’ पर्यावर्त्तमाने  
‘अहोत्रात्रे’ आमुष्मिकं स्वर्गादिसुखहेतुभूतं ‘सुप्लतं’ कर्म ‘क्षिणुतः’  
क्षपयतः । यदा तु विद्वान् उदीरितरीत्या सूर्यं मतिक्रम्य वर्त्तते,

तदा 'अहोरात्रे' एवाधीने \* भवतः ; तथाचाहोरात्रानाक्रान्त-  
त्वाद् विदुषः सुकृतं न क्षीयत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

एतदेव दृष्टान्तेनोपपादयति— "स यथेति । 'रथोपस्थे'  
रथस्योत्सङ्गे 'उपरिष्ठात्' 'तिष्ठन्' 'पस्थङ्गमाने' पर्यावर्त्तमाने  
'रथचक्रे' 'अर्वाचीनः' अवाङ्मुखः 'अवेक्षेत' । "न ह वेत्याद्युक्ता-  
र्थम् ॥ १२ ॥

होमार्थं मन्तरागमनं विधाय प्रशंसति— "पूर्वेणेति । आह-  
वनीयस्य पुरस्तात् परिक्रम्य गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये गच्छे-  
दित्यर्थः । तथा च सूत्रितम्— "अन्तरेणापराम्नी गत्वा दक्षिणेन  
वाग्रदक्षिण † माहवनीयं परीत्योपविशति यजमानः"—इति ‡  
"न वै देवा इत्यादि, सुगमम् ॥ १३ ॥

"उत्तरतो वा इति । यदेतद् दक्षिणेन वेति कात्यायनेन  
विकल्पेनोक्तम्, तद् दूषयति— "अथ य इति । अग्निहोत्र-  
होमार्थं सुत्तरस्यां दिशि द्वारः प्रवेगोपायः । तथा च उत्तरतः  
प्रवेशं विहाय गार्हपत्याहवनीययोर्मध्य मनतिक्रम्यैव 'यः' यज-  
मानः दक्षिणस्यां दिशि एवागत्य आहवनीयसमीपे 'आस्ते', सो-  
ऽग्निहोत्रं प्रवेष्टुं मग्नतो बहिरैवावतिष्ठते ; यथा प्राकारपरिहृत-  
स्याश्रमादेर्द्वारदेशं मप्राप्य प्रवेष्टुं मग्नतो बहिरवस्थितो भवति,  
तद्वदित्यर्थः ॥ १४ ॥

अथैतदग्निहोत्रं नीरूपेण स्तुवन्नुत्तरतः प्रवेशं प्रतिपादयति—

\* 'एवातोऽर्वाचीने'— इति च ।

† 'वाग्रदक्षिण'—इति डा० वेबर-सुत्रित-का० सू० पाठः । तत्र तदीय-  
पाठभेदादि-टीपनी च द्रष्टव्या ।

‡ का० श्री० सू० ४. १३. १२ ।

“नीहंत्यादिना । “नीमण्डे इति । ‘स्वर्ग्यायाः’ स्वर्गप्राप्ति-  
हेतुभूतायास्तस्या अग्निहोत्ररूपायाः ‘नावः’ ‘आहवनीयगार्ह-  
पत्नी ‘नीमण्डे’ उभे पार्श्वे, भित्ती इत्यर्थः । “नावाज  
इति । नाव मजति क्षिपति प्रेरयतीति नावाजो  
( नाविकः \* ) ॥ १५ ॥

“स यत् प्राङ्ङित्यादि । प्राङ्मुखः सन् गार्हपत्यादाह-  
वनीयं प्रति होमायोपगच्छन्, ताम् ‘एनां’ नावं प्राच्यां दिशि  
अवस्थितं ‘स्वर्गम्’ ‘अभ्यजति’ अभिप्रेरयति । “उत्तरत आरो-  
हण मिति । आरुह्यतेऽनेनेत्यारोहणम् प्रवेशद्वारम् । ततश्च  
उत्तरत आरुह्यमाणा सा अग्निहोत्ररूपा नौः ‘एनं’ यजमानं  
‘स्वर्गं लोकं’ सम्यक् प्रापयति । दक्षिणतः प्रवेशने दोष  
माह— “अथ य इति । नावि ‘प्रतीर्णयां’ सत्यां यः तरीतुम्  
‘आगच्छेत्’, ‘सः’ तत्रैव ‘विहीयेत’ त्यज्येत, ततश्च  
‘वह्निर्वाः’ वाह्यो भवेत्; ‘एव मेव’ ‘तत्’ दक्षिणतः प्रवेशन  
मित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथैतदग्निहोत्रं चित्वाग्निसम्पत्त्या स्तौति— ‘अथ या मिति ।  
होमार्थं या समिदग्नी आधीयते, ‘सा’ च ‘इष्टका’; ‘येन’ च मन्त्रेण  
अग्निहोत्रं ‘जुहोति’, ‘तत्’ एव इष्टकोपधानार्थं ‘यजुः’ ।  
“यदा वा इत्यादि । सायम्प्रातःकालेषु समिदाधान मेवेष्टको-  
पधानम् । तथा चयनसंस्कृते एवाग्नी सायम्प्रातराहुतयः कारस्त्रेण  
हुता भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ चित्तस्याग्नेः संवत्सररूपतां ब्रुवन्, तावत्कालसाध्य-

\* एषोऽर्थः कृतयुत्पत्तिलब्धः स्फुटं प्रतीयते ; न तु कस्मिंश्चिदप्यादर्श-  
पुस्तके विद्यते । ‘नावोपजीवनः’ इति डा० रोष्-गोल्ड्फुर्नरौ ।

स्याग्निहोत्रहोमस्य तत्सम्पत्तिं सुपपादयति— “प्रजापतिर्वा इति । चित्त्वोऽग्निः प्रजापतिना सृष्टत्वात् तदात्मकः, प्रजापतिश्च संवत्सर-  
कालात्मकः ; अतः संवत्सरपर्यन्तं मभितिष्ठन्त \* मग्निहोत्रं चित्त्वे-  
न्नाग्निना समानं सत् ‘सन्तिष्ठते’ समाप्तं भवति । तथा च  
एकैकसंवत्सराग्निहोत्रानुष्ठानेन चित्त्वान्यनुष्ठानं कृतं भवती-  
त्यर्थः ॥ १८ ॥

अथैतदग्निहोत्रं महदुक्थसम्पादनेन स्तौति— “सप्त चेति ।  
चित्त्वोऽग्निः, महाव्रतं साम, बृहतीसहस्रात्मकं महदुक्थं †  
चेतानि त्रीणि सहचराणि । तत्र चित्त्वानिसम्पत्तिरुक्ता, मह-  
दुक्थसम्पत्तिस्त्वेव ‡ मवगन्तव्या ;— तत्र हि गायत्री वृचा-  
शीतिः, त्रीणिही वृचाशीतिः, बार्हती वृचाशीतिरिति तिस्र-  
स्तृचाशीतयो विहिताः § ; तासां तिमृणां वृचाशीतीनां सन्भूय  
परिगणिता ऋचो विंशत्युत्तरसप्तशतसङ्ख्याका भवन्ति ॥ । प्रति-  
दिवसं मग्निहोत्रे सायमाहुतिरेका, प्रातराहुतिर्द्वैकेति द्वे आहुती ;  
संवत्सरस्य षष्ट्युत्तरत्रिंशतसङ्ख्याका अहोरात्राः, तेषु च क्षिय-  
माणास्ता अग्निहोत्राहुतयो विंशत्युत्तरसप्तशतसङ्ख्याका भवन्ति ।  
अतश्चैकस्मिन् ‘संवत्सरे’ ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अग्निहोत्रं’  
वृचाशीतित्रयात्मकं महदुक्थेन ‘सम्पद्यते’ सम्पन्नं भवती-  
त्यर्थः ॥

\* ‘मनुतिष्ठन्त’— इति च ।

† ‘बृहदुक्थं’— इति छ ।

‡ ‘बृहदुक्थसम्पत्तिस्त्वेव’— इति छ ।

§ रे० ५ आ० २ अ० ३-४-५ ख ङानि द्रष्टव्यानि ।

॥ तासां ऋचां प्रतीकप्रहृष्टेन स्वरूपप्रतिपत्तिश्च तत्रैवारण्यके द्रष्टव्या ।

एतज्ज्ञानपूर्वकानुष्ठानं प्रशंसति— “संवत्सरे संवत्सरे  
इति ॥ १८, २० ॥ १ [३.३.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

अग्नीं ह वै देवाः\* । सर्वान् पशून्निदधरे ये  
च ग्राम्या ये चारण्या व्विजयं व्वोपमैष्यन्तः काम-  
चारस्य वा कामायायं नो गोपिष्ठो गोपायदिति  
वा ॥ १ ॥

तानु हाग्निर्निचकमे । तैः सङ्गृह्य रात्रिं  
प्रविवेश पुनरेभ इति देवा एदग्निं तिरोभूतं ते ह  
व्विदाञ्चक्रुरिह वै प्राविक्षद्रात्रिं वै प्राविक्षदिति  
तु मेतत् प्रत्यायत्यां रात्रौ साय मुपातिष्ठन्त देहि  
नः पशून् पुनर्नः पशून् देहीति तेष्व्योऽग्निः पशून्  
पुनरददात् ॥ २ ॥

\* 'देवाः'— इति घ, ङ ।



तुच्छै क मग्नी ऽउपतिष्ठेत । अग्नी वै दातारौ  
 तावेवैतुद्याचते साय मुपतिष्ठेत साय हि देवा  
 उपातिष्ठन्त दत्तो \* हैवास्मा ऽएतौ पशून् य एवं  
 व्विद्वानुपतिष्ठते ॥ ३ ॥

अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत । उभये ह वा ऽइद  
 मये सुहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च तद्यद्ब स्म मनुष्याणां  
 न भवति तद्ब स्म देवान् याचन्त ऽइदं वै नो  
 नास्तीदं नोऽस्त्विति ते तुस्या ऽएव याचज्जायै द्वेषेण  
 देवास्तिरोभूता नेद्विनसानि नेद् द्वेष्योऽसानीति  
 तुस्मान्नोपतिष्ठेत ॥ ४ ॥

अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत । यज्ञो वै देवाना  
 माशीर्युजमानस्य तद्वा ऽएष एव यज्ञो यदाहुति-  
 राशीरेव युजमानस्य तद्यदेवास्यान्न तदेवैतदुपतिष्ठ-  
 मानः कुरुते तुस्मादुपैव तिष्ठेत ॥ ५ ॥

अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत । यो वै ब्राह्मणं वा  
 शुऽसमानोऽनुचरति क्षत्रियं व्वायं मे दास्यत्ययं मे  
 गृहान् करिष्यतीति यो वै तं व्वाद्येन वा कुर्मणा  
 व्वाभिरिराधयिषति तुच्छै वै स देयं मन्यतेऽथ य

आह किं नु त्वं मुमासि यो मे न ददासोतीश्वर  
 एनं हेष्टोरीश्वरो निर्व्वदं गुन्तोस्तस्मान्नोपतिष्ठेतै-  
 तदित्त्वेवैष एतं याचते यदिन्धे\* यज्जुहोति तस्मा-  
 न्नोपतिष्ठेत ॥ ६ ॥

अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत । उत वै याचन्दातारं  
 लभत ऽएवोतो भर्त्ता भार्य्यं नानुबुध्यते स यदेवाह  
 भार्य्यां वै तेऽस्मि विभृहि मेत्यथैनं व्वेदाथैनं भार्य्यं  
 मन्यते तस्मादुपैव तिष्ठेतेद मित्तु समस्तं यस्मादुप-  
 तिष्ठेत ॥ ७ ॥

प्रजापतिर्व्वा ऽएष भूत्वा † । यावत् ईष्टे याव-  
 देन मनु तस्य रेतः सिञ्चति यदग्निहोत्रं जुहोतीद्  
 मेवैतत् सर्व्वं मुपतिष्ठमानोऽनुविकरोतीद् सर्व्वं  
 मनुप्रजनयति ॥ ८ ॥

स वा ऽउपवत्या प्रतिपद्यते । इयं वा ऽउप  
 इयेनेय मुप यद्धीदं किञ्च जायतेऽस्यां तदुपजायते-  
 ऽथ यन् न्यृच्छत्यस्या ‡ मेव तदुपोष्यते तद्ग्रा रात्रा

\* 'यदिन्धि'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

† 'भूत्वा'— इति घ, ङ ।

‡ 'युपृच्छत्यस्या'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

भूयो-भूय एवाक्षय्यं भवति तदक्षय्येणैवैतद् भूम्ना  
प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

सु आह । उपप्रयन्तो ऽअध्वर मित्थध्वरो वै  
यज्ञ उपप्रयन्तो यज्ञ मित्थेवैतदाह मन्त्रं व्वोवे-  
माग्नय ऽइति मन्त्र मु ह्यस्मा ऽएतद्व्यन् भवत्यारे  
ऽअस्त्रे च शृणवत ऽइति यद्यस्मदारकादस्य न  
एतच्छृणवेवैव \* मेवैतन्मन्यस्त्रेवैतदाह ॥ १० ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः । ककुत् पतिः पृथिव्या  
अयम् । अपां रेतांसि जिन्वतीत्यन्वेव धावति  
तद्यथा याचन् कल्याणं व्वरेदामुष्यायणो वै त्व  
मस्यर्त्त वै त्व मेतस्मा ऽअसीत्येव मेषा † ॥ ११ ॥

अथैन्द्राग्नी । उभा वा मिन्द्राग्नी ऽआहु-  
वध्वा ऽउभा राधसः सह मादयथ्यै । उभा दाता-  
राविषां रयीणा मुभा व्वाजस्य सातये हुवे वा  
मित्थेष वा ऽइन्द्रो य एष तपतिः ‡ स यदस्त मेति  
तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत् सह सन्ता

\* 'एतच्छृणवेवैव'— इति ग, घ, ङ ।

† 'मेषा'— इति घ, ङ ।

‡ 'एष तपति'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

ऽउपतिष्ठत ऽउभौ मे सह सन्धौ दत्ता मिति तस्मा-  
दैनद्राग्नी \* ॥ १२ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियः । यंतो जातो ऽअरो-  
चथाः । तं जानन्नान ऽअरोहाथा नो वर्द्धया रयि-  
मिति पुष्टं वै रयिर्मूयो भूय एव न इदं पुष्टं कुर्वि-  
त्येवैतदाह ॥ १३ ॥

अयु मिहु प्रथमः । धायि धातुभिर्हीता  
यजिष्ठो ऽअध्वरेष्वीडाः । य मप्रवानो भृगवो व्विह-  
रुचुर्व्वनेषु चित्रं व्विभवं व्विशे-व्विश ऽइत्यन्विव  
धावति तद्यथा याचन् कल्याणं व्वंशेदामुष्यायणो  
वै त्व मस्रलं वै त्व मेतस्मा ऽअसौत्येव मेषा यथो  
ऽएवैष तथो ऽएवैन मेतदाह यदाह व्विभवं व्विशे-  
व्विश ऽइति व्विभूर्द्धेषु व्विशे-व्विशे ॥ १४ ॥

अस्य प्रत्नाम् † । अनु द्युतश् शुक्रं दुदुक्ते  
ऽअह्वयः । पयः सहस्रसा सृषि मिति परमा वा  
ऽएषा सनीनां यत् सहस्रसनिस्तुदेतस्यैवावरुद्धौ  
तस्मादाह पयः सहस्रसा सृषि मिति ॥ १५ ॥

\* 'देन्द्राग्नी'— इति घ, ङ ।

† 'प्रत्नाम्'— इति घ, ङ ।

तदेतत् समाहार्यं षडृचम्\* । तस्त्रीपवती प्रथमा  
 प्रवत्युत्तमावोचाम तद्यस्मादुपवत्यथाद् एव प्रत्नं  
 यावन्तो ह्येव सनाये देवास्तावन्त एव देवास्तस्मा-  
 दद्दुः प्रत्नं तदिमे ऽपवान्तरेण सर्व्वे कामास्ते ऽत्रस्मा  
 ऽद्भमे सञ्जानाने सर्व्वान् कामान्त्वन्नमतः ॥ १६ ॥

स वै त्रिः प्रथमा जुपति । त्रिरुत्तमां त्रिवृत्-  
 प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात् त्रिः प्रथमां  
 जुपति त्रिरुत्तमाम् † ॥ १७ ॥

यद्वा वा ऽत्रत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । व्याद्येन वा  
 कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वद्यत्यायुषो  
 वा वर्चसो वा प्रजायै वा ॥ १८ ॥

तदु खलु तनूपा अग्नेऽसि । तन्व' मे पाह्या-  
 युदा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो  
 मे देहि । अग्ने युन्मे तन्वा ऊनं तन्म ऽपृ-  
 येति ॥ १९ ॥

यद्वा वा ऽत्रत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । व्याद्येन वा  
 कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वद्यत्यायुषो

\* 'चं'— इति घ, ङ ।

† 'माम्'— इति घ, ङ ।

वा वृचसो वा प्रजायै वा तन्मे पुनराप्याययेत्येवै-  
तदाह तथो हास्येतत् पुनराप्यायते ॥ २० ॥

इन्धानास्त्वा । शतं हिमा द्युमन्तं समिधी-  
महीति शतं वर्षाणि जीव्यास्येत्येवैतदाह तावत् त्वा\*  
महान्तं समिधीमहीति यदाह द्युमन्तं समिधी-  
महीति व्यस्वन्तो व्यस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृत  
मिति व्यस्वन्तो व्ययं भूयास्म व्यस्कृतं त्वं † भूया  
इत्येवैतदाह सहस्वन्तो व्ययं भूयास्म सहस्कृतं त्वं ‡  
भूया इत्येवैतदाहान्ने सपत्नदुम्भन मदध्वासो ऽपुदाभ्य  
मिति त्वया व्ययं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्येत्येवै-  
तदाह ॥ २१ ॥

चित्रावसो स्वस्ति ते पारु मशीयेति । त्रिरे-  
तज्जपति राचिर्व्वे चित्रावसुः सा हीयं सङ्घृष्टैश्च  
चित्राणि व्वसति तस्मान्नारकाच्चिचं दृशे ॥ २२ ॥

एतेन ह स्म वा ऽऋषयः । रात्रेः स्वस्ति  
पारुं समश्रुवत् ऽएतेनो ह स्मैतान् राचेर्नाष्ट्रा  
रुचांसि न व्विन्दन्त्येतेनो § ऽएवैष एतद् राचेः

\*, †, ‡ 'तावत्वा', 'व्यस्कृतं', 'सहस्कृतं'— इति क-पाठाः ।

§ 'नाविन्दन्त्येतेनो'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा०-वेबरः ।

स्वस्ति पारुः समश्नुत ऽएतेनो ऽएनः राचेनाष्टा  
रुचांसि न विन्दन्त्येतावन्न \* तिष्ठन् जपति ॥ २३ ॥

अथासीनः । सं त्व मग्ने सूर्य्यस्य व्वर्चसा  
गथा इति तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रवि-  
शति तेनैतदाह समृषीणां स्तुतेनेति तद्यदुपतिष्ठते  
तेनैतदाह सं प्रियेण धाम्नेत्याहुतयो वा ऽअस्य प्रियं  
धाम्नाहुतिभिरेव तदाह स मह † मायुषा संव्वर्चसा  
सं प्रजया सुः रायस्पोषेण ग्मिषीयेति यथा त्व मेतैः  
स मगथा एव मह मायुषा व्वर्चसा प्रजया रायस्पो-  
षेणेति यद् भूमीति तदेव मह मेतैः सुङ्गच्छा ऽइत्ये-  
वैतदाह ॥ २४ ॥

अथ गा मध्येति । अन्ध स्यान्धो वो भक्षीय  
मह स्थ महो वो भक्षीयेति यानि वो व्वीर्याणि  
यानि वो महांसि तानि वो भक्षीयेत्येवैतदाहोर्ज-  
स्वोर्जं वो भक्षीयेति रुस स्थ रुमं वो भक्षीयेत्येवैतदाह  
रायस्पोष स्थ नायस्पोषं वो भक्षीयेति भूमा स्थ  
भूमानं वो भक्षीयेत्येवैतदाह ॥ २५ ॥

\* 'नविन्दन्त्येतावन्न'— इति सा०-सम्मतः; पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'स मह'— इति घ, ङ ।

रेवती रुमध्व मिति रेवन्तो हि पशुवस्तस्मादाह  
रेवती रुमध्व मित्यस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिंल्लोके-  
ऽस्मिन् क्षये । इहैव स्त मापगतेत्यात्मन एवैतदाह  
मदेव मापगतेति ॥ २६ ॥

अथ गा मभिसृशति । संहितासि विश्व-  
रूपीति विश्वरूपा इव हि पशुवस्तस्मादाह विश्व-  
रूपीत्यूर्जा माविश गौपत्येनेत्यूर्जेति यदाह रुसेनेति  
तदाह गौपत्येनेति यदाह भूम्नेति तदाह ॥ २७ ॥

अथ गार्हपत्य मभ्यैति । स गार्हपत्य मुपतिष्ठत  
ऽउप त्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्द्धियां व्यथम् । नमो  
भरन्त एमसीति नम एवास्मा ऽएतत् करोति  
यथैनं न \* हिंस्यात् † ॥ २८ ॥

राजन्त मध्वराणाम् । गोपामृतस्य दीदिविम् ।  
वर्द्धमानस्वे दम ऽइति स्वं वै त ऽइदं यन्मम तन्नो  
भूयो-भूय एव कुर्वित्येवैतदाह ॥ २९ ॥

स नः पितेव सूनवे ‡ । अग्ने भूपायनो भव ।  
सुचस्वा नः स्वस्तय ऽइति यथा पिता पुत्राय सूप-

\* 'यथैनं न'— इति च डडो डा०-वेवरेण ।

† 'हिंस्यात्'— इति घ, ङ ।

‡ 'सूनवे'— इति घ, ङ ।



च॒रो नै॒वैन' के॒न च॒न हि॒न॒स्थे॒वं नः॑ सूप॒चर॑ एधि  
मै॒व त्वा के॒न च॒न हि॒सि॒ष्ये॒त्ये वै॒तदा॑ह ॥ ३० ॥

अथ द्विपदाः । अ॒ग्ने त्वं॑ नो ऽअ॒न्तम॑ उ॒त चा॒ता  
शि॒वो भ॒वा व्व॒त्थ्यः । व्व॒सुर॒ग्निर्व्व॒सुश्र॒वा अ॒च्छा  
न॒क्षि द्यु॒मत्त॑म् र॒धिं दाः॑ ॥ तं॑ त्वा शोचिष्ठ  
दौ॒दिवः॑ सु॒न्नाय \* नून॑ मी॒महे॑ सु॒खिभ्यः॑ । स॒ नो  
बो॒धि श्रु॒धी † ह॒व मु॒रु ष्या॑ णो ऽअ॒घाय॑तः॒ सम॒स्मा-  
द्वि॒ति ॥ ३१ ॥

यद्वा ऽआ॒हव॑नीय॒मुप॑तिष्ठते । पशू॒स्तु॒द्याच॑ते  
त॒स्मात्तु॑ मु॒च्चाव॑चै॒च्छु॒न्दोभि॑रु॒पति॑ष्ठत ऽउ॒च्चाव॑चा इ॒व  
हि॒ पश॑वो॒ऽथ यद् गार्ह॑पत्यं॒ पुरु॑षांस्तु॒द्याच॑ते तद्  
गा॒य॒त्रं प्र॑थमं॒ त्रि॒त्रं गा॒य॒त्रं वा॒ ऽअ॒ग्ने॒च्छु॒न्दः स्त्रे॒नै॒वैन  
मे॒तच्छु॒न्दसो॑प॒पु॒रैति ॥ ३२ ॥

अथ द्विपदाः । पुरु॑षच्छु॒न्दसं॑ वै द्वि॒पदा॑ द्वि॒पाद्वा  
ऽअ॒थं पुरु॑षः पुरु॒षाने॒वैत॑द्याचते पुरु॒षान् हि॒ या॒चते  
त॒स्माद् द्वि॒पदाः॑ पशु॒मान् ह॒ वै पुरु॑ष॒वान् भ॒वति  
यु॒ एवं॑ व्वि॒द्धानु॑पतिष्ठते ॥ ३३ ॥

\* 'सुन्नाय'— इति संहिता-पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'श्रुधि'— इति च पाठो दृष्टो डा० वेबरैः ।

अथ गा मध्येति\* । इड ऽएह्यदित ऽएहीतीडा  
 हि गोरदितिर्हि गौस्ता मभिमृशति काम्या एतेति  
 मनुष्याणां च्छेतासु कामाः प्रविष्टास्तस्मादाह  
 काम्या एतेति मयि वः कामधुरणं भूयादित्यहं वः  
 प्रियो भूयास मित्ये वैतदाह ॥ ३४ ॥

अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च । प्राङ्  
 तिष्ठन्नग्नि मीक्षमाणो जपति सोमान् स्वरणं  
 कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः † ॥ धो  
 रेवान्यो ऽअमीकहा व्वसुवित्युष्टिवर्जनः । स नः  
 सिषक्तु यस्तुरः ॥ मा नः शंसो ऽअरक्षो धूर्तिः  
 प्रणङ् मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पत ऽइति ॥ ३५ ॥

यदा ऽआहवनीय मुपतिष्ठते । दिवं तदुप-  
 तिष्ठतेऽथ यद् गार्हपत्यं पृथिवीं तदथैतदन्तरिक्ष मेषा  
 हि दिग् बृहस्पतेरेतां च्छेतद्दिश मुपतिष्ठते तस्माद्  
 गार्हस्पत्यं जपति ॥ ३६ ॥

महि चीणा मवोऽस्तु । द्युचं भित्स्त्रार्य्यभ्यः ।  
 दुराधुर्षं व्वरुणस्य ॥ न हि तेषा ममाचन नाध्वस्तु  
 व्वारणेषु । ईशे रिपुरघुशंसः ॥ ते हि पुत्रासो

\* 'मध्येति'— घ, ड।

† 'जः'— इति घ, ड।

अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्य्यञ्चन्यजस्र  
मिति तत्रास्ति नाध्वसु च्वारणेष्वित्येते ह वा  
ऽअध्वानो च्वारणा य ऽइमेऽन्तरेण द्यावापृथिवी ऽएतान्  
ञ्चेतुदुपतिष्ठते तस्मादाह नाध्वसु च्वारणेष्विति \*  
॥ ३७ ॥

अथैन्द्री । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सेन्द्र  
सेवैतदनुपस्थानं कुरुते कदा चन स्तरीरसि  
नेन्द्र सञ्चसि दाशुष ऽइति यजमानो वै दाश्वान्न  
यजमानाय द्रुह्यसीत्येवैतदाहोपोपेन्न सधवन् भूय  
इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत ऽइति भूयो-भूय एव  
न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह ॥ ३८ ॥

अथ सावित्री । सविता वै देवानां प्रसविता  
तथो हास्मा ऽएते सवितृप्रसूता एव सर्व्वे कामाः  
समृध्यन्ते तत् सवितुर्व्वरेण्यं भुर्गो देवस्य धीमहि ।  
धियो यो नः प्रचोदयादिति † ॥ ३९ ॥

अथाग्नेयी ‡ । तदग्नय ऽएवैतदात्मान  
मन्ततः परिददाति गुप्तैः परि ते दूडुभो रथो-

\* 'चित्ति'— इति घ, ङ ।

† 'चित्ति'— इति ग, घ, ङ ।

‡ 'थी'— इति घ, ङ ।

ऽस्माँश्च ॥ \* ऽचश्रोतु विश्वतः । येन रुक्षसि  
 दाशुष इति यजमाना वै दाशुषाऽसौ यो ह वा  
 ऽचस्थानाधृष्यतमो रथस्तेनैष यजमानानभिरक्षति  
 स यस्तेऽनाधृष्यतमो रथो येन यजमानानभिरक्षति  
 तेन नः सर्व्वतोऽभिगोपायेत्येवैतदाह त्रिरेतुज्ज-  
 पति ॥ ४० ॥

अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं व्वीर्य्यं  
 पुत्रोऽनुसन्तनवदिति यदि पुत्रो न ख्यादुष्यात्मन  
 एव नाम गृह्णीयात् ॥ ४१ ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [३. ४.] ॥

अथ सायङ्कालीन मन्वुपस्थानं विधित्सुस्तदर्थं भाष्यायिका  
 माह— “अग्नी हेति । एतच्च पुनराधानब्राह्मणे † व्याख्यातम् ।  
 तत्र हि ‘कृतून् प्रविवेश’, अथ तु ‘रात्रिं प्रविवेश’ इत्येतावान्  
 विशेषः । “त मेतदित्यादि । ‘प्रत्यायत्याम्’ आगामिन्यां ‘राक्षी’  
 ‘सायं’ काले ‘तम्’ अग्निं देवम् उपतिष्ठन्ते ‡ । उपस्थानप्रकार  
 माह— “देहि न इति ॥ १, २ ॥

यस्मादेव मन्वुपस्थानान् पश्यो देवैर्लब्धाः, तस्माद् यज-  
 मानोऽपि तदुपस्थानं कुर्यादिति विधत्ते— “तस्मा इति । तस्मै

\* ‘ऽस्माँश्च’— इति क, ‘ऽस्माँश्च’— इति घ, ‘ऽस्माँश्च’— इति ङ ।

† अथैष पुरस्तान् ( २२० ३३० २, ३ क० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ३. १२. १ ।

अशुभ्राप्तिलक्षणाय फलाय । 'कम्'-इति वाक्यपूरणे \* । अन्यत्  
विनदसिद्धम् । "दत्तो ह्येवेति । य एवं साय मग्नी उपतिष्ठेतिव  
तस्मै यजमानाय तावग्नी अभिमतं फलं प्रयच्छत इत्यर्थः । एव  
मुपस्थानविधिः ॥ ३ ॥

( अथोपस्थानदोषपरौ † ) पूर्वपक्षौ सिद्धान्तत्वेन प्रति-  
पादयति— "अथ यस्मादिति । यस्मात् अन्युपस्थानं न कर्त्त-  
व्यम्, तत्कारणं मुच्यते । देवाः स्मृतु पुरा मनुष्यैः सार्वं मिह  
लोके निवसन्तः तद्याचनेन पीडिताः सन्तस्तिरोभूताः, अतो-  
ऽग्निरपि उपस्थानेन याच्यमानस्तिरो भवति, याचितफलस्या-  
ग्रदानेन नैव यजमानं 'हिनसानि', अत एव द्वेषोऽपि न भवा-  
नीत्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् नोपस्थेयोऽग्निरिति  
पूर्वपक्षः ‡ ॥ ४ ॥

"अथ यस्मादित्यादि । यस्मात् कारणादभ्युपस्थानं कर्त्तव्यम्,  
तदुच्यते— 'देवानां' सम्बन्धी यो 'यज्ञः', स हि 'यजमानस्य'  
'आशीः' फलप्रार्थनरूपः ; 'तत्' तथा सति येषा मग्निहोत्रा-  
हुतिः 'एष एव यज्ञः' सैव यजमानस्थाशीः । "तद्यदेवेत्यादि,  
यजमानस्य यत्, तदाशीरूपं फलम् ; तदेवाग्निन्नग्निहोत्रेऽग्निमुप-  
तिष्ठमानः कुरुत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पुनरप्यनुपस्थानपक्षं प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति— "अथ  
यस्मादित्यादिना । "यो वै ब्राह्मण मित्यादि । ब्राह्मणश्चत्रिययो-  
रन्यतर माशंसमानः फलाभिलाषी पुरुषः 'अनुचरति' अनु-

\* 'वाक्यप्रतिपूरणे'— इति च ।

† एषोऽग्नी बह्वेषु पुस्तकेषु न दृश्यते ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ३२. २ ।

वर्तते, तत्याभिप्राय माह— “अयं म इति । यद्यैव मनुचरति पुरुषः, तं ब्राह्मणादिं ‘वाच्येन’ वदनीयेन सुतिशब्देन, ‘कर्मणा वा’ परिचरणलक्षणेन ‘अभिरिराधयिषति’ अभिराधयितुं सेवितुं मिच्छति, ‘तस्मै’ पुरुषायैव ‘सः’ ब्राह्मणादिः प्रभुः धनं ‘दियं’ दातव्यं ‘मन्यते’ । यस्त्वेवं निहुरं भाषते, सः ‘एनं’ ब्राह्मणादिं प्रभुं ‘हेष्टोः’ \* विहेषणं कर्तुं मीश्वरः समर्थः स्यात्, तथा ‘निर्वेदं’ मनस्तापं ‘मन्तोः’ † गन्तुं मीश्वरः स्यात् । निहुर-भाषणप्रकार माह— “किं न्विति । हे देवदत्त ! यस्त्वं मद्यं न ददासि, स त्वं मम किं चासि ? न किञ्चिदपि भवसि, त्वया किं प्रयोजन मित्यर्थः । एवं समन्त्रकङ्कोमेनाग्नेराराधनं भव कार्यम्, तदुपस्थानन्तु फलप्रार्थनरूपत्वेन निहुरभाषणवदपराध-श्वेतुरिति न कर्त्तव्यं मित्याह— “एतदिति । होमसमिन्धनाभ्या मग्निं प्राप्य पुनरुपस्थानेनैव याचते, याचनं चायुक्तं मित्यनुपस्थान-पक्षो ज्यायानित्यर्थः ‡ ॥ ६ ॥

“अथ यस्मादित्यादि । लोके हि ‘यावत्’ पुरुषो ‘दातारं’ प्राप्नोति, स च ‘भर्ता’ पोषकः प्रभुः ‘भार्यं’ पोष्यं याचकं स्रतो ‘नानुबुध्यते’, ‘सः’ चैव याचकः एवम् ‘आह’ विज्ञापयति,— हे स्वामिन् ! अहं ‘ते’ त्वया ‘भार्यः’ पोष्यः ‘अस्मि’, ‘मा’ मां

\* † “इश्वरे तोसुनकसुनौ”— इति पा० सू० ३. ३. १३ ।

‡ उपस्थानानुपस्थानपक्षौ तैत्तिरीयैरपि विचार्योपस्थानं कर्त्तव्यं मित्येव सिद्धान्तितम् । तथाहि— “उपस्थेयोऽग्नीर्नोपस्थेयाइइत्याहुर्मनुष्या येनैव योऽहरहराह्वत्वाद्येनं याचति स इत्येव तं सुपर्च्यैत्यथ को देवानह-रहर्याचिष्यतीति, तस्मान्नोपस्थेयोऽथो खत्वाहुराग्निषे वै कं यजमानो यजत इत्येषा खलु वै आहिताग्नेराग्नीर्वेदमि भुपतिष्ठते, तस्मादुपस्थेयः”— इति तै० सं० १. ५. ६. ६. ७ ।

‘विच्छिद्दि’ पोषय ‘इति’ । एवं विज्ञापनानन्तरं मेव ‘एनं’ याचकं पुरुषं ‘वेद’ जानाति । अनन्तरञ्च ‘एनं’ ‘भार्ये’ पोष्यं ‘मन्यते’ । तस्मात् ऋग्विधानरूपं स्वाभिभूतस्याम्नेरुपस्थानं न दोषाय किञ्चित् । ‘इदं मित्’ इदं मेव ‘संमस्तं सम्पूर्णं मित्यर्थः’ \* ॥ ७ ॥

यस्माच्चान्यस्मात् कारणात् अग्न्युपस्थानं मवश्यं कर्त्तव्यं तदु-  
च्छने— “प्रजापतिर्वा इति । अग्निहोत्रहोमो हि रेतस्सेक-  
स्थानीयः, गर्भाशये निषिक्तस्य रेतसः हस्तपादादिमत्त्वेन यद्  
विशिष्टरूपकरणम्, तदग्न्युपस्थानसाध्यम्, अतोऽग्निं सुपतिष्ठमानो  
यजमानः सर्वं मिदं निषिक्तं विशिष्टरूपं कुर्वन् ‘अनुप्रजनयति’  
अनुक्रमेणोत्पादयति । तस्मादवश्यं मग्न्युपस्थानं कर्त्तव्यं  
मित्यर्थः ॥ ८ ॥

तत्र, प्रथमाया ऋवो लिङ्गविशेष सुपन्थस्य प्रशंसति—  
“स वा इति । ‘उपवत्या’ उपशब्दयुक्तया ऋचा । “इयं  
वा इत्यादि । ‘इयं वा उप’ योऽय सुपेत्युपसर्गः, इयं भूमिरेव  
सः, ‘हयेन’ द्विप्रकारेण ‘इयं’ भूमिः उपशब्दवाच्या । तत्प्रकार-  
इयं दर्शयति— “यज्ञीय मिति । ‘यत् किञ्च’ जायमानं, ‘तत्’  
सर्वम् ‘अस्याम्’ ‘उपजायते’ । ‘तत्’ ‘न्युच्छति’ नितरां मार्त्तिं  
प्राप्नोति, ‘तत्’ अपि ‘अस्याम्’ एव ‘उपोष्यते’ निलीयते । अतो  
जायमान एव अहोरात्राभ्याम् ‘अक्षय्यं भवति’ तत्सम्बद्धोपशब्दः

\* एतदेवोपस्थानं वात्सप्रोपस्थानं सूच्यते । ‘उपप्रयन्तोऽध्वरं मिलित  
व्यारभ्य परि ते दूडभ इत्यन्तं वात्सप्रोपस्थानम्’— इत्युक्तेः (या० दे०) । तत्र च  
वत्सप्रोनामर्षिणा इष्टं; सक्तं वात्सप्रम्, तदीयर्षं एवास्योपस्थानस्य मन्त्रा  
इति वीजम् ।

† ‘उप. यन्तो अध्वरम्’ इत्येषा ऋक् उपपत्ती । वा० सं ३. ११ ।

युक्तः प्रतिपद्यमानः चयरहितेनैव भून्ना 'प्रतिपद्यते' उपस्थानं प्रारभ्यत \* इत्यर्थः ॥ ८ ॥

क्रमेणोपस्थानमन्त्रान् विधित्सुस्तावदुपवती सृचं विधाय प्रभंसति— "स आहेति । "अध्वरो वै यन्न इत्यादि, सुगमम् । द्वितीयपाद मन्वथ तत्र मन्त्रशब्दो वक्ष्यमाणमन्त्रपर इति व्याचष्टे— "मन्त्र सु ह्यस्मा इति । "आरे अस्मै चेति । अस्म-च्छब्दात् पञ्चम्यर्थे शि-आदेश इति व्याचष्टे— "अस्मदारका-दिति ॥ १० ॥

अथ द्वितीया सृच मन्व्युपस्थाने वक्तव्यत्वेन सिद्धवदनूद्य तात्पर्यं माह— "अग्निर्मूर्द्धेति † । "अन्वेव धावतीति । अनु-धावति अनुसृत्य ‡ प्रभंसतीति यावत् । एतत् सदृष्टान्त सुप-पादयति— "तद्यथेति ॥ ११ ॥

"अथेन्द्राग्नीति । अग्निर्मूर्द्धेत्यनन्तरम् "उभा वाम्"—द्विती-न्द्राग्नीदेवताका ऋक् § मन्व्युपस्थाने प्रयोक्तव्येत्यर्थः । अस्या सृचि 'इन्द्राग्नी'-शब्दस्य विवक्षित मर्थं माह— "एष वा इन्द्र इति ॥ १२ ॥

चतुर्थी सृचं पठित्वा स्तौति— "अयन्त इति ॥ । "पुष्ट' वा इति । यदत्र रयिशब्दवाच्यम्, तत् पुष्टिहेतुभूतं धनम् । "भूय एवेत्यादि, मन्त्रगत-वर्षय'-पदाभिप्रायकथनम् ॥ १३ ॥

अथ तस्मिन्नुपस्थाने पञ्चमी सृचं विधाय तात्पर्यं कथयति— "अय मिहेति ¶ । "विभू छेष इति । 'विशि-विशि' सर्वस्ये-

\* 'प्रारभत'— इति च ।

† वा० सं० ३. १२ ।

‡ 'अनुसरति'— इति च ।

§ वा० सं० ३. १३ ।

॥ वा० सं० ३. १४ ।

¶ वा० सं० ३. १५ ।



प्रजायै 'एषः' अग्निः 'विभूः' तदभीष्टप्रदाने समर्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥

षष्ठी ऋचं विधाय प्रयंसति—“अस्येति\* । “परमा वा एषा इति । ‘सनीनां’ दानानां मध्ये ‘यत्’ ‘सहस्रसनिः’ सहस्र-सङ्ख्याकस्य धनस्य दानम्, ‘एषा’ ‘परमा’ सर्वोत्कृष्टा सनिः ॥

एताश्च षडृचो मन्त्रकाण्डे एव व्याख्याता इति नाम्न पुनर्व्याख्यायन्ते † ॥ १५ ॥

अथैता ऋचः समूहीकृत्य प्रथमोत्तमयोर्लिङ्गविशेषोपजीवनेन स्तीति—“तदेतदिति । ‘समाहार्यम्’ एकेका ऋचं प्रदेशान्तरे पठितां समाहृत्य समुदायीकृत मेतत् ‘षडृचं’ सूक्तम् । ‘तस्य’ ‘प्रथमा’ ‘उपवती’, ‘उत्तमा’ तु ‘प्रव्रवती’ । तत्रोपवती भूम्या-त्मिकेत्येतत् प्रागिव् ‘अवोचाम’, अतः परम् तत् प्रतिपाद्यमित्यर्थः । “अथाद एवेति । ‘अदः’ द्युलोक एव ‘प्रव्रम्’ । तस्य प्रव्रशब्दाभिधेयता ‡ सुपपादयति—“यावन्त इति । ‘सना’ इति निपातः पुरेत्यस्यार्थे । ‘यावन्त एव’ हि ‘अग्रे’ ‘सना’ सनातनाः ‘देवाः’, ‘तावन्त एव देवाः’ इदानी मपि ; ‘तस्मात्’ तदाश्रयभूता द्यौः पुरातनवाचिना प्रव्रशब्देनीच्यत इत्यर्थः । “तदिमे एवेति । ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ ‘अन्तरण’ “अग्निर्मूर्द्धा”-इत्यादि-मन्त्रप्रतिपाद्याः ‘सर्वे कामाः’ अवस्थिताः । “ते अस्मा इत्यादि, स्पष्टम् ॥ १६ ॥

\* वा० सं ३. १६ ।

† यजुर्वेदस्य वाक्सनेय-काण्ड-मन्त्रकाण्डेण सायणाचार्येण व्याख्यातमपि शतपथव्याख्यानादुत्तरम् ; तस्मादिह मन्त्रकाण्डं तैत्तिरीयस्य बोध्यम् तै० सं० १. ५. ५ द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘प्रव्रशब्दानामधिगता’— इति च ।

प्रथमोत्तमयोस्त्रिजंषं विधाय प्रशंसति— “स वै त्रिः प्रथमां जपतीति । अस्य षडृचस्य सूक्तस्य “उपप्रयन्त”-इतीयं प्रथमा, “अस्य प्रब्राम्”-इतीयं मुत्तमा ; उपस्थानकाले तयोस्त्रिजंषः कार्यः \* । गृतः ‘यज्ञाः’ ‘त्रिवृत्प्रायणाः’ त्रिवृत्प्रायणाः ; निर्वापप्रोक्षणसामिधेयनुवचनादिषु त्रिरावृत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ १७ ॥

“तनूपा अग्नेऽसि”-इत्यादिमन्त्रेराहवनीयोपस्थानं विधिक्षु-स्तन्निवर्त्तुं दोष मुपन्यसति— “यद्द वा इति । अग्निहोत्र-होमं कुर्वन् ‘वाद्येन वा’ व्यवहारसाध्येन मन्त्रोच्चारणेन, शरीर-साध्येन ‘कर्मणा वा’, ‘यत्’ ‘मिथ्याकरोति’ अन्यथानुतिष्ठति, ‘तत्’ तेन ‘आत्मनः’ यजमानस्य ‘आयुषः’ जीवनस्य, ‘वर्चसः’ तेजसः, ‘प्रजाये’ प्रजायाश्च ‘अवद्यति’ खण्डयति । ‘वा’-शब्द-सार्थं ॥ १८ ॥

अथैतद्दोषपरिहाराय तदुचितमन्त्रकरणकौपस्थानं माह—  
“तदु खल्विति † । तत् खलु दोषे सतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

“यद्द वा इत्याद्युक्तार्थम् ‡ । “तन्म इत्यादि । यदेतन्मिथ्या-करणेनायुरित्यादि खण्डितम्, हे अग्ने ! ‘तत्’ तच्च ‘पुनः’ ‘आप्यायय’ वर्द्धयेति “तन्म आ पृण”-इतिमन्त्रभागस्य व्याख्या-नम् ॥ २० ॥

“इन्धानास्वत्यादि § । “शतं हिमाः”-इत्यस्य तात्पर्यं माह— “शतं वर्षाणीति । शतसंवत्सरजीवनवत्सो भूयास्मे-त्यर्थः । तैत्तिरीयकेऽप्येतद् विशदीकृतम्— “शतं हिमा

\* का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ क, ख ।

† वा० सं० ३. १७ ।

‡ एतत्पूर्वपूर्वकणीयास्या द्रष्टव्या ।

§ वा० सं० ३. १८. १ ।

इत्याह शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषीयेति वावैतदाहेति \* । “द्युमन्त मिति मन्त्रभागस्यार्थं माह— “तावत्वेति । ‘तावत्’ शत-संवल्लरजीवनावधि, हे अग्ने ! त्वां ‘द्युमन्तं’ दीप्तिमन्तं ‘महान्तं’ ‘समिधीमहि, सन्दीपयेमित्यर्थः । “वयस्वन्तो वयस्कृत मित्यादि । वय इत्यन्ननाम † । प्रभूतान्नयुक्ता भूत्वा वयसोऽन्नस्य कर्तारं त्वा मुपतिष्टेमहि । एवं ‘सहस्वन्तः’—इत्यत्रापि योजना । उभयत्र विशेषणद्वय मपि विधेयाभिप्राय मिति व्याचष्टे— “वयस्वन्तो वय मिति । वयः अन्नं करोतीति वयस्कृत्, सहः शतूना मभि-भवनं तदन्तः सहस्वन्तः, तादृशं सहः शत्रुविषयक मभिभवन्ं करोतीति सहस्कृत् । “अग्ने सपन्नदम्भन मित्यादि । सपन्नो दभ्यते हिंस्यतेऽनेनेति सपन्नदम्भनोऽग्निः । तथा च ‘त्वया’ ‘वयं’ ‘सपन्नान्’ ‘पापीयसः’ अतिशयेन निकृष्टान् ‘क्रियासू’ करवामेति विशेषेण तात्पर्यकथनम् ॥ २१ ॥

“चित्वावसो”—इत्यादिमन्त्रस्य त्रिर्जपं ‡ विधत्ते— “चि-लेति § । “रात्रिर्वा इत्यादि । ‘हि’ यस्मात् ‘सा इयं रात्रिः’ ग्रहनक्षत्रादीनि ‘चित्वाणि’ ‘सङ्गृह्य इव वसति’, ‘तस्मात्’ ‘चित्वा-वसुः’ रात्रेर्नामधेयम् । अत एव इदानी मपि रात्रौ नभसि ‘तारका’-लक्षणं ‘चित्त्रं’ ‘ददृशे’ दृश्यते ॥ २२ ॥

अस्य मन्त्रजपस्य प्रयोजनं वक्तुं पुराष्टत्त मुदाहरति— “एते-

\* तै० सं० १. ५. ८. १४ । एतच्च ब्राह्मणम् “अग्ने गृह्यते”—इति तै० सं० १. ५. ६. ११, मन्त्रपदव्याख्यानपरम् ; “इन्मनास्वा शतं हिमाः”—इत्ये-तन्मन्त्रव्याख्यानब्राह्मणे त्वान्नातम्—“शतं हिमा इत्याह शतायुः पुरुषः”—इत्यादि । तै० सं० १. ५. ७. १४. ।

† निघ० २. ७. ७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ घ । § मन्त्रस्तु वा० सं० ३. १८. २ ।

नेति । 'एीन' "चित्रावसो"—इति मन्वेण 'रात्रेः' 'पारम्' अव-  
सानं 'स्वस्ति' क्षेमेण 'समश्रुवते' सम्प्राप्नुवन् । तथा 'एनान्'  
ऋषीन् एतन्नन्वजपेनेव रात्रेः प्रीणनात् तत्सम्बन्धिनो राक्षसा-  
दयो ('न विन्दन्ति') नाविन्दन्, नालभन्त इदानीन्तन-  
स्यापि ॥

इमं मन्त्र मन्व्युपस्थाने जपतो यजमानस्य तत्फल माह—  
“एतेनो एवेति । “एतावन्विति । “उपप्रयन्त”—इत्यारभ्य  
“चित्रावसो”—इत्येतावत्पर्यन्त माहवनीयस्य समीपे 'तिष्ठन्'  
जपेत् ॥ २३ ॥

“अथासीन इति ५ । वक्ष्यमाणान् “सं त्व मग्ने”—इत्या-  
दिकान् ६ मन्त्रान् तत्रैवासीनो जपेदित्यर्थः । हे 'अग्ने !' त्वं  
'सूर्यस्य' 'वर्चसा' तेजसा 'समगथाः' सङ्गतवानसि 'इति' प्रती-  
यमान मिमं मन्त्रार्थं सुपपादयति— “तद् यदस्तं यन्निति ।  
'अस्तं यन्' अस्तं गच्छन्नित्यर्थः । सूर्यस्य रात्रावाहवनीयप्रवेशः  
“अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा”—इति होममन्त्रार्थकथनप्रस्तावे  
प्रतिपादितः § । “समृषीणा मित्यादि । 'ऋषीणां'  
सम्बन्धि यत् 'स्तुतं' स्तोत्रं तेन सङ्गतवानसीति मन्त्र-  
वाक्यार्थः ।

एतर्हि प्रकृतान्युपस्थानाभिप्राय माह— “तद्यदिति ।  
'आहुतयो वा अश्वेति । 'अश्व' अग्नेः आज्यदधिक्षीरादिद्रव्य-  
साध्याः 'आहुतयो वा' आहुतय एव 'प्रियं धाम' तज्ज्योतिर्मयं

\* का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ क. ख. घ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. ४ ।

‡ वा० सं० ३. १६ ।

§ एतस्यैवाध्यायस्य द्वितीयप्राक्तनं तद्वाक्यं च द्रष्टव्यम् ।

शरीरम् । तथा चाहुतिभिरेव सङ्गतवानसीत्यर्थः । “समह  
मायुषेत्यादि । हे अग्ने ! यथा त्व मेतैरायुरादिभिः ‘सम-  
गयाः’ सङ्गतवानसि । गमेर्लुङि “गातिस्था”-इति \* चुर्लुक्,  
“अनुदात्तोपदेश”-इत्यनुनासिकलोपः † । एवम् ‘अहम्’ अपि  
एतैः सङ्गच्छेयेत्यर्थः । “यद् भून्नेति, “रायस्योषेण”-इत्यस्य  
व्याख्यानम् । ‘भून्ना’ धनकनकादिबहुवेनेत्युक्ते यावानर्थो भवति,  
रायस्योषेणेत्यनेन तावानर्थः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

“अथ गा मभ्यैतीति ‡ । अग्निहोत्रहोमार्थस्य पयसो  
दोग्ध्री या गौः, ताम् “अन्ध स्यान्धो वो भक्षीयम्”-इति मन्त्रेण §  
अभिगच्छेदित्यर्थः । ‘अन्धः’-शब्दोऽन्नवाची ॥, तेन च तज्जनितं  
वीर्यं लक्ष्यत इति व्याचष्टे— “यानि वो वीर्याणीति । हे गावः !  
यूयम् ‘अन्धः स्य’ क्षीरान्नरूपा भवथ, अतस्तदुपभोगजनितानि  
‘वः’ युष्मत्सम्बन्धीनि ‘वीर्याणि’, ‘महासि’ तेजांसि, ‘तानि’  
‘भक्षीय’ सम्भजेयेत्यर्थः । “रस स्थिति । “जर्ज्ज बलप्राण-  
नयोः”-इत्यस्मात् ¶ धातोर्निष्पन्न ‘जक्’-शब्दो बलकरं समाचष्ट  
इत्यभिप्रायः । “भूमा रथेति । ‘रायस्योष’-शब्दस्य भूमार्थत्वं  
प्रागान्नातम्— “रायस्योषेति यद् भून्नेतीति \*\* ॥ २५ ॥

“देवती रमध्व मितितीति †† । “देवन्तो हीत्यादि । ‘देवन्तः’  
रयिमन्तः, पुत्रपौत्राद्यभिष्टव्या धनयुक्ताः पशवो रयिमन्तः ।  
“रथेर्मती बहुलम्”-इति ‡‡ सम्प्रसारणम् । “आत्मन एवेति ।

\* पा० सू० २, ४, ७७ ।

† पा० सू० ६, ४, ३७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १२, ५ ।

§ वा० सं० ३, २० ।

॥ लिघ० २, ७, १ ; निरु० ५, १, १ ।

¶ चु० प० १५ धा० ।

\*\* एतत्पूर्वकण्डिकायाम् ( १५८ पृ० ) ।

†† वा० सं० ३, २१ ।

‡‡ पा० ६, १, ३७ सू० ५ वा० ।

अस्मिन्निति मन्त्रगतेदंशब्देन सन्निहितवाचिना स्वसम्बद्धगृह-  
गोष्ठानि विशेषेण 'आत्मनः एव' स्वस्येव एतत् फल माशास्यत  
इत्यर्थः । हे गावः ! यूयम् 'इहैव' मदीये गोष्ठादौ 'स्त' भवत,  
'मापगत' मा अपगच्छतेति मन्त्रभागस्यार्थः । तत्रापगमना-  
वधेरनुपादनात् त मुपन्यस्य योजयति— "मदेवेति । मत्सका-  
शादेव मापगतेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समन्त्रकं गोस्यर्गनं विधाय प्रशंसति— "अथ गा मिति \* ।  
'विश्वानि' सर्वाणि, शुक्लकृष्णादीनि रूपाणि यस्याः, सा 'विश्व-  
रूपीति' व्यक्तिमभिप्रेत्य व्याचष्टे— "विश्वरूपा इव हीति ॥ २७ ॥

एव माहवनीयस्य समन्त्रक मुपस्थानं सप्रपञ्चं † विधाय,  
गार्हपत्यस्य ‡ तद् विधत्ते— "अथ गार्हपत्य मभ्येतीति § ।  
"नम एवास्मा इति । "नमो भरतः"—इति नमस्कारस्य  
सम्पाद्यत्वावगमात् अतिक्रमजनितापराधनिवृत्तयेऽस्मै गार्हपत्याय  
नमस्कार मेव करोतीत्यर्थः । इतरथा हि प्रथमार्गिं गार्ह-  
पत्य मतिक्रम्य आहवनीयस्थोपस्थानकरणात् स गार्हपत्यः क्रुद्धः  
सन् 'यथेनं न हिंस्यात्, तथा नमस्कारः क्रियत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एवं प्रथमाया ऋचस्तात्पर्यं मभिधाय द्वितीया ऋचं पठित्वा  
तात्पर्यविशेष माह— "राजन्त मध्वराणा मिति ¶ । "स्वं वा  
इत्यादि । दम इति गृहनाम \*\* । यन्मदीयं गृहं हे अग्ने !  
'ते' तव स्वभूतम्, अतस्तथाविधं गृहं 'नः' अस्माकं पुनः-पुनः

\* का० श्रौ० सू० ४, १२, ६ । मन्त्रस्तु वा० सं० ३, २२, १ ।

† 'सप्रपञ्चं' इति च ।

‡ 'गार्हपत्यं'— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४, १२, ७ ।

॥ वा० सं० ३, २२ ।

¶ वा० सं० ३, २३ ।

\*\* निघ० ३, ४, १२ ।

कुर्विति “स्वे दमे”—इतिमन्त्रपदयोर्विवक्षितोऽर्थः इति भावः ॥२८॥

“स नः पितेवेति \* । गार्हपत्योपस्थाने तृतीया । तत्र “पितेव सून्वे”—इति दृष्टान्तसिद्ध मर्थं निष्कृष्यानुवदति— “यथा पितेति । ‘सूपचरः’ सुदु उपचरितुं नमस्कारादिभिरुपचरैः पुत्रस्य सेवितुं योग्य एव भवति । स च पुत्रः ‘एनं’ पितरं केनचिदपि साधनेन ‘नेव’ ‘हिनस्ति’ बाधते । एवं गार्हपत्याग्ने ! त्वं ‘नः’ अस्माकं ‘सुपचरः एधि’ सुष्टूपचरितुं योग्यो भव ; य मपि त्वां केनचिदपि साधनेन ‘मैव हिंसिस्म’, इति योजना ॥

एते चोप त्वाग्ने इत्यादिका मन्त्राः, वक्ष्यमाणाश्चाग्ने त्व मित्यादिकाः, सर्व एव संहितायां व्याख्यातत्वात् ग्रन्थविस्तरभयादत्र पुनर्न व्याख्यायन्ते † ॥ ३० ॥

अथ चतसृभिर्होपदाभिर्गार्हपत्योपस्थान माह—“अथ हिपदा इत्यादि । ‘अथ’ “उप त्वाग्ने”—इत्यादि-गायत्रीणा ः मनन्तरं गार्हपत्योपस्थाने ‘हिपदाः’ प्रयोक्तव्याः । तत्र, “अग्ने त्वम्”—इति § प्रथमा, “वसुरग्निः”—इति ॥ द्वितीया, “तं त्वा शोचिष्ठ”—इति ¶ तृतीया, “स नो बोधि”—इति \*\* चतुर्थी ॥ ३१ ॥

हिपदाभिर्गार्हपत्योपस्थानस्य पुरुषप्राप्तिहेतुतां वक्तु माह-वनीयोपस्थानस्य पशुप्राप्तिहेतुता माह— “यद्वा आहवनीय मिति । “उच्चावचैरिति । न्यूनाधिकपरिमाणयुक्तेः “उप

\* वा० सं० ३. २४ ।

† इहास्मिन्नक्षय मुक्तं पुरस्तात् ; १६८ पृ० ‘†’ द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० ३. २२, २३, २४ ।

§. ॥, ¶. \*\* वा० सं० ३. २५, १, २ : २६ १. २ ।

प्रयन्त”-इत्यादिमन्त्रेर्गायत्रादिच्छन्दोभिरित्यर्थः । “अथ यद् गार्हपत्य मित्यादि । “उप त्वाग्ने”-इत्यादिभिः ‘यद्’ गार्हपत्यम्’ उपतिष्ठते, तेनोपस्थानेन ‘पुरुषान्’ पुत्रपौत्रादीनेव ‘याचते’ प्रार्थत इत्यर्थः । तच्च पुरुषप्रार्थनं द्विपदाभिरेवेति वक्तुमुप त्वाग्ने इति गायत्रलक्षस्य प्रयोजनमाह— ‘गायत्रं वा अग्नेच्छन्द इति । प्रजापतिमुखात् सहोत्पन्नत्वादित्यर्थः\* । ‘उपपरेति’ उपप्राप्नोति ॥ ३२ ॥

“अथ द्विपदा इति । “पुरुषच्छन्दसं वा इति । पुरुषत्पादद्वयोपेतत्वात् ‘द्विपदाः पुरुषच्छन्दसम्’ पुरुषसमानाकृतिकं छन्दः । छन्दश्शब्दादकारः समासान्तः † । “पशुमान् ह वै पुरुषवानिति आहवनीय-गार्हपत्योपस्थानयोः समुच्चित्य प्रशंसा ; गार्हपत्योपस्थानस्यापि पुरुषवत्पादद्वयोपेतत्वात् ॥ ३३ ॥

गोसमीपगमनं तदुपस्पर्शनञ्च समन्त्रकं विधत्ते— “अथ गामभ्येतीति ‡ । “इङ् एहीति § । इङ्गादिति शब्दौ गोनामत्वेन प्रसिद्धावित्यर्थः । “कामाः प्रविष्टा इति । ‘मनुष्याणां’ चीरदध्यादिविषयाः ‘कामाः’, ‘हि’ यस्मात् ‘एतासु’ गोषु ‘प्रविष्टाः’, ‘तस्मात्’ एताः कामनाविषयत्वात् ‘काम्याः’ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

“अथान्तरेणेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ३५ ॥

सोमान मित्यस्य लक्षस्य च प्रयोजनमाह— ‘यहा इति । आहवनीयगार्हपत्योपस्थानाभ्यां द्यावापृथिव्योरुपस्थानं कृतं

\* तै० सं० ७, १, १, ४ द्रष्टव्यम् ।

† “अनसन्ताद्रपुंसकाच्छन्दसि”— इति पा० सू० ५, ४, १०३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १२, ८, ६ ।

§ वा० सं० ३, २७, १, २ ।



भवति । अनिन सोमान मिति ढचस्य \* जपेन द्यावापृथिव्योः  
मध्यवर्त्तिनोऽन्तरिक्षस्योपस्थानं कृतं भवतीत्यर्थः † । तस्य देवता-  
विशेषसम्बन्धं प्रशंसति-- “एषा हीति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्त्त-  
माना येय मूर्द्धा ‘दिक्’, ‘एषा’ ‘बृहस्पतेः’ स्वभूता । अतएव तैत्ति-  
रीयके समाह्वानम्-- “जुहुवा दिग् बृहस्पतिदेवता”-इति ‡ ।  
नन्वेतत् ढचं ब्राह्मणस्यचम्, कथं बार्हस्पत्यम् ? इति ।  
नैष दोषः ; तयोर्भेदाभावात् । अत एव दाशतय्यां ‘गणानां  
त्वा”-इत्यादिषु ब्राह्मणस्यत्यमूर्त्तेषु § तत्र बृहस्पतिः स्तूयते ॥ ३६ ॥

“महितीणा मित्यादि ॥ । एतदपि मूर्क्त मन्तरानी तिष्ठन्  
जपेदित्यनुषङ्गेण वाक्यप्रमाप्तिः । अस्य ढचस्य प्रयोजन माह—  
“तत्रास्तीति । ‘तत्र’ तस्मिंस्तृचे ‘न अध्वसु वारणेषु’-इति  
‘अस्ति’, तस्याभिप्रायो वर्णयत इति शेषः । “एते ह वा इत्यादि ।  
द्यावापृथिव्योर्मध्ये ‘य इमे’ ‘अध्वानः’ वितताः, ‘एते’ खलु पुरुषस्य  
फलप्राप्तिवारणाय भवन्ति, अतो द्यावापृथिवीसंस्तुतयोर्गार्हपत्याह-  
वनीययोर्मध्ये स्थित्वा इमं ढचं जपन् ‘एतान्’ एव मार्गान् ‘उप-  
तिष्ठते’ इत्यर्थः । एव मध्वना सुपस्थितत्वात् तं वारयितुं न  
कोऽपि ईश्वर इति “नाध्वसु वारणेषु”-इति मन्त्रपाद-  
स्यार्थः ¶ ॥ ३७ ॥

“अथेन्द्रीयादि । ‘ऐन्द्री’ इन्द्रदेवताका “कदाचनस्तरी-

\* वा० सं० ३, २८, २९, ३० ।

† “सोमान मित्यनुदकं व्रतोपायनवत्”-इति का० श्रौ० सू० ४, १२, १० ।

‡ तै० ब्रा० ३, ११, ५, ६ ।

§ ऋ० सं० २, २३, १ ।

॥ वा० सं० ३, ३१, ३२, ३३ ।

¶ वा० सं० ३, ३२, २ पा० ।

रसि”-इत्यादिका \* अग्न्युपस्थाने प्रयोक्तव्या । तथा च तदग्न्यु-  
पस्थान मिन्द्रसहितं सत् यज्ञात्मना निष्पद्यत इत्यर्थः । तत्र  
पूर्वाद्धिं मनूद्य तात्पर्यं माह— “कदाचनेति । “यजमानो वै  
दाश्वानिति । “दाशु दाने”-इत्यस्मात् † “दाश्वान् साह्वान्”-  
इति ‡ निपातनात् हविषां दाता यजमानो दाश्वानित्युच्यते ।  
तथा च ‘दाशुषे’ यजमानाय कदाचिदपि ‘स्तरीः’ हिंसकः ‘न  
असि’ न द्रुह्यसीति तात्पर्यार्थकथनम् । उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—  
‘उपोपेदिति । हे ‘मधवन् !’ अस्मभ्यं दीयमानं त्वदीयं धनं  
‘भूयो भूय एव’ ‘उपपृच्छते’ समीपं प्राप्नोति ; तदिदं मान्नातम्—  
“भूयो भूय एवेति ॥ ३८ ॥

अथ सवितृदेवताका सृचं विधाय प्रगंसति— “अथ सावि-  
तीति । का पुनरसौ सावित्री ? इति, ता माह— “तत्सवितु-  
रिति § ॥ ३९ ॥

अग्निदेवताका सृचं विधत्ते— “अथान्नेयीति । ‘परि-  
ददाति’ परिदानं रक्षणार्थं दानम् । तादर्थ्यं मेव विव्रियते—  
“गुह्या इति । “यजमाना वा इत्यादि । धर्षितु मशक्यः,  
परैरप्रपृथो यो रथो विद्यते, ‘तेन’ रथेन ‘एषः’ अग्निः ‘यजमानान्  
अभिरक्षति’ ॥

एव मनेः स्वभावमभिधाय मन्त्रे योजयति—“स य इति । हे  
अग्ने ‘सः’ प्रसिद्धः ‘यः’ ‘रथः’ ‘ते’ त्वदीयः, शत्रुभिरप्रपृथो विद्यते,  
‘येन’ च ‘यजमानान्’ ‘अभितः’ सर्वतः ‘रक्षसि’, ‘तेन’ ‘रथेन’ ‘नः’  
अस्मान् ‘अभिगोपाय’ इत्यर्थः ॥ ।

\* वा० सं० ३, ३४ ।

† भा० उ० ८८२ घा० ।

‡ पा० सू० ६, १, १२ ।

§ वा० सं० ३, ३५ ।

॥ वा० सं० ३, ३६ ।

अस्या ऋचस्त्रिजपं विधत्ते— “त्रिरेतदिति ॥ ४० ॥

दर्शपूर्णमासयोरिवात्रापि पुत्रनामग्रहणं विधत्ते— “अथ पुत्रस्येति \* । ‘अयं’ मदीयः ‘पुत्रः’ ‘इहं’ यज्ञानुष्ठान-लक्षणं ‘वीर्यम्’ ‘अनुसन्तजवत्’ अनुक्रमेण सन्तनुयात्, सन्तत मनवच्छिन्नं कुर्यात्, ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण नामग्रहणम् । पुत्राभावे तु यजमानः स्वस्यैव ‘नाम’ ‘गृह्णीयात्’ † ॥ ४१ ॥ २ [३.४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम्,  
सप्तार्ध्वीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमिः ।  
रत्नोत्स्रां रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
व्यश्राणीद्विश्वक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥

\* “पौर्णमासवत् पुत्रनामग्रहणम्”—इति का० श्रौ० सू० ४. १२. ११ ।  
“पौर्णमासवत् ततोऽसीत्यादि ( ३. ८. २५ सू० ) । पुत्रस्य नाम गृह्णाति,  
पुत्रयोः पुत्राणां वा । प्रियतमस्येति लौगाक्षिः ; ज्येष्ठपुत्रस्य नामाभि-  
त्याहृत्य यावन्तो वा भवन्ति—इति शाङ्खायनः ( २. १२. ११. )— इति तत्र  
टप्तिर्याजिकदेवस्य ।

† प्रथमे काण्डे सप्तमप्रपाठकीय मेकविंशं ब्राह्मणं ( १भा० ६२२८० ),  
द्विस्त्रिंशत्तमे तद्भाष्यं ( ६३३८० ४पं ), तत्रत्यस्तदीयटीप्यन्यञ्च मत्कृताः ;  
सर्व एवैते ग्रन्था इह समालोच्यः ॥

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।  
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वृणः शार्करं चार्कतेजाः,  
 रत्नाब्धो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्थः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवेदिकमार्गप्रवर्तक-  
 श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 द्वितीयकाण्डे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

( अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. )

अथ हुतेऽग्निहोत्रेऽउपतिष्ठते । भूर्भुवः स्वरिति  
 तत्सत्येनेवैतद्वाचं समर्हयति यदाह भूर्भुवः स्वरिति  
 तथा समृद्धयाशिष माशास्ते सुप्रजाः प्रजाभि स्या  
 मिति तत् प्रजा माशास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्  
 वीरानाशास्ते सुभोवः पोषैरिति तत् पुष्टि माशास्ते  
 ॥ १ ॥

यदाऽअदो दीर्घं मग्न्युपस्थानम् । आशीरेव  
 साशीरियं तदेतावतैवैतत् सर्वं माप्नोति तस्मादेते-  
 नैवोपतिष्ठेतैतेन न्वेव व्ययमुपचराम इति ह स्माहा-  
 सुरिः ॥ २ ॥

अथ प्रवक्ष्यन् \* । गार्हपत्यमेवाग्रेऽउपतिष्ठते-  
 ऽथाहवनीयम् † ॥ ३ ॥

स गार्हपत्यमुपतिष्ठते । नृथ्यं प्रजां मे पाहीति  
 प्रजाया ह्येष ईष्टे तत् प्रजा मेवास्मा एतत् परि-  
 ददाति गुप्तैः ॥ ४ ॥

अथाहवनीयमुपतिष्ठते । शुच्यं पशून् मे

\* 'त्स्यन्'— इति घ ।

† 'यश्'— इति घ, ङ ।

पाहीति पशूनां ह्येषु ईष्टे तत् पशूनेवास्मा ऽएतत्  
परिददाति गुप्तौ ॥ ५ ॥

अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र  
व्वेलां मन्यते तत् खन्वा \* व्वाचं व्वि व्रजते, थ प्रीष्य  
परेद्य यत्र व्वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि  
राजान्तरेण खान्नैव त मुपेयात् ॥ ६ ॥

स आहवनीय मेवाग्र ऽउपतिष्ठते । अथ गार्ह-  
पत्यं गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद् गृह्वे-  
वैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

स आहवनीय मुपतिष्ठते । आगन्म विश्व-  
वेदस मस्मभ्यं व्वसुवित्तमम् । अग्ने सम्राडभि  
द्युम्न मभि सह आयच्छ्वेत्यथोपविश्य तृणान्यप-  
लुम्पति ॥ ८ ॥

अथ गार्हपत्य मुपतिष्ठते । अथ मग्निर्गृहपति-  
गार्हपत्यः प्रजाया व्वसुवित्तमः । अग्ने गृहपते-  
ऽभि द्युम्न मभि सह आयच्छ्वेत्यथोपविश्य तृणा-  
न्यपलुम्पत्येतन्नु जपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोप-  
तिष्ठन्ते ॥ ९ ॥

स वै खलु तूष्णीं मेवोपतिष्ठत । इदं वै यस्मिन् वसति ब्राह्मणो वा राजा वा श्रेयान् मनुष्यो न्वेव तु मेव नार्हति व्वक्तु मिदं मे त्वं गोपाय प्राहं व्वत्स्यामीत्यथास्मिन्नेते श्रेयासी व्वसन्ति देवा अग्नयः कु उ तानर्हति व्वक्तु मिदं मे यूयं गोपायत प्राहं व्वत्स्यामीति ॥ १० ॥

मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति । सु व्वेद गार्हपत्यः परिदां मेद मुपागादिति तूष्णीं मेवाहवनीय मुपतिष्ठते सु व्वेदाहवनीयः परिदां मेद मुपागादिति \* ॥ ११ ॥

अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र व्वेलां मन्यते तत् स्यन्त्वा† व्वाचं व्विसृजतेऽथ प्रोष्य परिच्य यत्र व्वेलां मन्यते तदाचं यच्छति स यद्यपि राजान्तरेण स्यान्नैव त मुपेयात् ॥ १२ ॥

सु आहवनीय मेवाय ऽउपतिष्ठते । अथ गार्हपत्यं तूष्णीं मेवाहवनीय मुपतिष्ठते तूष्णीं मुपविश्य

\* 'दिति'— इति ग, 'दिति'— इति घ, ङ ।

† 'स्यन्त्वा'— इति क, ग ; डा०-वेबर दृष्टश्च ।

तृणान्यपलुम्पति तूष्णीं मेव गार्हपत्य मुपतिष्ठते  
तूष्णीं मुपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥ १३ ॥

अथातो गृहाणा मेवोपचारः । एतद्ध वै गृह-  
पतेः प्रोषुष आगताद् गृहाः समुत्तस्ता इव भवन्ति  
किं मय मिह व्वदिष्यति किं वा करिष्यतीति स  
यो ह तत्र किञ्चिद्ददति वा करोति वा तस्माद्  
गृहाः प्रुत्तसन्ति तस्येश्वरः कुलं व्विद्वोब्धोरथ यो ह  
तत्र न व्वदति न किञ्चन करोति तं गृहा उपस-  
श्रयन्ते न वा ऽग्रय मिहावादीन् किञ्चनाकरदिति  
स यदिहापि मुक्रुद् इव स्याक्चु एव ततस्तत् कुर्याद्  
यद् व्वदिष्यन्वा करिष्यन्वा स्यादेष उ गृहाणा मुप-  
चारः ॥ १४ ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [ ४. १. ] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्धमे, त महं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥ ४ ॥

एव मग्निहोत्रहोमोपस्थानं विधाय लघूपस्थानमन्वानपि  
दर्शयति— “अथ हुत इति । अग्निहोत्रहोमानन्तरं “भूर्भुवः



स्वः, सुप्रजाः”—इति \* अनेनैव मन्त्रेण आहवनीयम् ‘उप-  
तिष्ठत’ † । पूर्वीक्तादुपस्थानमन्त्रजातादस्य ‡ मन्त्रत्यातिशय  
माह—“तत् सत्येनेति । सत्यरूपा ह्येता व्याहृतयः ; त्रयी-  
सारत्वात् । तथा चान्नातम्—“भूरित्यृग्वेदाद्, भुव इति  
यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्”—इति § । एवं व्याहृति-  
रूपेण ॥ ‘सत्येनेव’ इमां मन्त्ररूपां ‘वाचं’ ‘समर्हयति’ । ‘तथा’  
च ‘सम्ब्रह्मया’ वाचा प्रागुक्तां सर्वा मपि ‘आशिषम्’ ‘आशास्ते’  
प्रार्थयत इत्यर्थः । तद्दशसनप्रकारं दर्शयति—“सुप्रजा इति ।  
‘प्रजाभिः’ पुत्रपौत्रादिरूपाभिः ‘सुप्रजाः’ शोभनप्रजोपेतः  
‘स्याम्’ । एकः प्रजाशब्दोऽनुवादः । एवं “सुवीरो वीरैरिति ।  
वीर्यवत्तः पुत्राः वीराः ; तेषां प्रजाशब्देन परिगृहीतत्वेऽपि  
पुनः प्राधान्यस्थापनार्थं पृथगाऽशासन मिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

प्रागुक्तोपस्थानेनास्य समानकार्यकरणत्वात् विकल्प माह—  
“यदिति । ‘अद.’ पूर्वोक्तं ‘दीर्घं’ बहुकर्तव्योपेतं बहुमन्त्र-  
साध्यं यद्गुणोपस्थानम्, तत् † ‘आशी.’ फलप्रार्थनम् ‘एव’ । तथा  
“भूर्भुवः स्वः”—इतिमन्त्रसाध्य उपस्थान मपि \*\* तादृगाशीर्युक्तम् ।  
‘तत्’ ततः ‘एतावतेव उपस्थानेन ‘एतत्’ प्रागुक्तं ‘सर्वं’ फलम्  
‘आप्नोति’ । अस्मिन्नुपस्थाने ऋषिवचनं संवादयति—“एतेन  
न्वेवेति । ‘एतेनेव’ लघूपस्थानेनेव ‘वयम्’ अग्निम् ‘उपचरामः’  
‘इति’ । यस्मादेवम् ‘आसुरिः’ महर्षिः, ‘आह स्व’ उक्तवान् :

\* वा० सं० ३. ३७. १ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. १२ ।

‡ ‘मन्त्रगणादस्य’— इति च ।

§ से० ब्रा० ५. ५. ७ ।

॥ व्याहृत्याहृतिरूपेण— इति ङ ।

¶ ‘सा’— इति च ।

\*\* ‘मिति’— इति च ।

‘तस्मात्’ इदं मेवोपस्थानं कर्त्तव्यं मित्यर्थः । अत एव सूत्रात्—  
“मूर्ध्वः स्वरिति वोभौ”—इति \* ॥ २ ॥

अथ प्रवासं करिष्यता यजमानेन कर्त्तव्यं सुपस्थानं दर्शयति—  
“अथ प्रवक्ष्यन्निति † । ‘प्रवक्ष्यन्’ प्रवासं करिष्यन् विहितं गार्हपत्याहवनीयोपस्थाने ॥ ३ ॥

तत्र गार्हपत्योपस्थानं मनूद्य मन्त्रं विधत्ते— “स गार्हपत्यमिति ‡ । मन्त्रस्य तात्पर्यं माह— “प्रजाया इति । एष हि गार्हपत्यः ‘प्रजाया ईष्टे’ ; कृष्णाग्नियोनिमूतत्वात् । अतः ‘अस्मै’ गार्हपत्याय प्रजाया रक्षणार्थं परिदानं क्लियत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्रवक्ष्यतो यदाहवनीयोपस्थानं विहितम्, तदनूद्य मन्त्रं विधत्ते—  
“अथाहवनीयमिति § । “पशूनां हेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ५ ॥

“अथ प्र वा व्रजतीति ॥ । एवं गार्हपत्याहवनीययोः समन्त्रकं सुपस्थानं कृत्वा, वाहनरहितेषु स्वयं ‘प्रव्रजति’ गच्छति ; वाहनसहितश्चेत् अश्वरथादीन् ‘धावयति’ प्रगमयति । ‘स’ च गच्छन् ‘यत्र’ यस्मिन् देशे ‘विलां’ स्वनिवासग्राममर्यादां ‘मन्यते’, तत्रस्थानप्राप्तिपर्यन्तं वाचंयमो गत्वा, तदनन्तरं ‘वाचं विसृजेत्’ ; न तु ततः प्रागित्यर्थः ¶ ।

\* का० औ० सू० ४. १२. १२ । ‘समिदाधानानन्तरं पूर्वं माहवनीयं ततो गार्हपत्यम्’— इति तत्र या० दे० ।

† का० औ० सू० ४. १२. १३ ।

‡ वा० सं० ३. ३७. २ ।

§ वा० सं० ३. ३७. ३ ।

॥ का० औ० सू० ४. १२. १४ ।

¶ का० औ० सू० ४. १२. १५ ।

पुनरागमनसमयेऽपि तदस्थान भृति अग्निसमीपगमन-  
पर्यन्तं वाग्यमनं विधत्ते— “अथ प्रोष्येति \* । ‘प्रोष्य’ प्रवासं कृत्वा  
पुनरागत्य यत्र ग्राममर्यादां मन्यते, तत्र वाचंयमो भवेत् । एवं  
वाग्यतस्य यजमानस्य अन्यागारस्य च मध्ये यदि राजा आगच्छेत्,  
‘तम्’ अग्निं नैव ‘उपेयात्’ उपगच्छेत् । वाग्यमनानन्तरं राजादि-  
पूज्यजनसन्निधानेऽपि तदनादरेण अग्निगतमनस्क एव तत्समीपं  
गच्छेदित्यर्थः † ।

तदेतद् विस्मृष्ट मापस्तम्बेन सूत्रितम्— “आरादग्निभ्यो वाचं  
वच्छति, यद्येनं राजा पिताचार्यौ वान्तरेणामीन् स्याच्छदिर्दग्नेन  
माद्रियेत”— इति ‡ ॥ ६ ॥

प्रवक्ष्यन्नुपस्थानवैपरीत्य मागतोपस्थानस्य विधत्ते— “स  
इति । आहवनीयस्यैव प्रथमं मुपस्थानं पश्चात् मार्हपत्यस्ये-  
त्यर्थः § । मार्हपत्योपस्थानस्य पश्चाद्भावं प्रतिपादयति— “गृहा  
वा इति । सर्वाग्नीनां योनित्वात् गृहपतिना संयुक्त्वाच्च मार्ह-  
पत्यस्य गृहशब्दाभिधेयत्वम् ॥ ७ ॥

तत्र प्रथमकर्तव्यं माहवनीयोपस्थानं समन्वकं दर्शयति—  
“स आहवनीय इति । मन्त्रस्य ॥ चायं मर्थः ।— हे ‘सम्नाट्’  
सम्यग्नाजमान ! ‘अग्ने !’ ‘विश्ववेदसं’ सर्वधनोपेतम्, ‘अस्माभ्यं’  
अस्मादर्थं ‘वसुवित्तमं’ वसुनः धनस्य लभयित्वतमं त्वाम् ‘अगन्तं’

\* का० श्रौ० सू० ४. १२. १७ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. १८ क ।

‡ व्याप० श्रौ० सू० ६. २५. ५. ६ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १२. १८ ख ।

॥ वा० सं ३. ३८. १ ।

अगमाम् । त्वं च 'द्युम्नं' धनं, 'सहः' पराभिभवहेतुभूतं बलं  
च 'अध्यायच्छस्त्र' अभिगमयेत्यर्थः ॥

समिदाधानं विधत्ते— "अथेति \* । उपस्थानानन्तर माह-  
वनीयसमीपे उपविश्य 'दृणानि' दृणोपलक्षितानि समिदादीनि  
'अपलुम्पति' प्रच्छिद्य तस्मिन्नानी प्रक्षिपेत् । "लुप्तं क्तेदने †"—  
इति धातुः ॥ ८ ॥

आगतस्य यजमानस्य गार्हपत्योपस्थानं समन्तकं विधत्ते—  
"अथेति । मन्त्रार्थस्तु ‡,— 'गृहपतिः' गृहाणां पालयिता, गृह-  
पतिना संयुक्तः 'अय मग्निः' अस्मदीयायाः प्रजायाः 'वसुवित्तमः'  
वसुनो धनस्य लभ्यित्वतम इति । परोक्षकृतः पूर्वोर्द्ध्वः, उत्त-  
रस्तु प्रत्यक्षकृतः । हे 'अग्ने गृहपते !' । "अभिव्युन्न मित्यादि  
पूर्ववद् योज्यम् ॥ ९ ॥

इत्थं प्रवक्ष्यद्गुपस्थान मागतोपस्थानं च समन्तकं विधाय, तयो-  
रमन्त्रकपक्ष मप्याह— "स वा इति § । "इदं वा इत्यादि । इदं  
खलु लोके दृश्यते,— ब्राह्मणादीना मन्यतमः 'श्रेयान्' श्रेष्ठः पुरुषो  
'यस्मिन्' जने 'वसति', सः 'मनुष्यः' 'तं' श्रेयांसम् अनुसृत्य वर्त्त-  
मानः, मदीयम् 'इदं' गृहादिकं 'त्वं गोपाय', 'अहं' प्रवासं  
करिष्यामीति एवं नियोगतो 'वक्तुं' 'नार्हति' ; यद्येवं लोके, तथा  
'अस्मिन्' यजमाने 'एते श्रेयांसो वसन्ति' ; के पुनस्ते ? इति,  
उच्यते— यजमाने निवसन्तस्ते श्रेयांसः 'अलयः' गार्हपत्याद्याः ;

\* का० श्रौ० सू० ४. १२. १६ ।

† तु० उ० १५१ धा० ।

‡ वा० सं० ३. ३६. १ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १२. २० ।

‘क्व उ’ नाम ‘तान्’ ‘इदं मे यूयं गोपायत’ इत्येवं नियोगेन ‘वक्तु मर्हति’ । अतः प्रजां मे सस्यं मे पशून् मे पाहीत्येवं नियोगरूप-  
तया मन्त्रो न प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

मन्त्रप्रयोगाभावेऽपि प्रजापालनादिविषया बुद्धिस्तेषां स्वय मेव  
भवतीत्याह— “मनो ह वै देवा इति । ‘मनुष्यस्य’ ‘मनः’  
यद्विषयं तत् सर्वं ‘देवा.’ स्वय मेव सर्वतो ‘जानन्ति’; अतः ‘सः’  
‘गार्हपत्यः’ अपि यजमानस्य मनोगतं स्वय मेव ‘वेद’ जानाति ।  
किमिति, ‘परिदां’ परिदानं रक्षणम् उद्दिश्य ‘मा’ माम् ‘इदम्’  
इदानीम् ‘उपागात्’ उपगतोऽयं यजमान इति’ । यस्मादेवं  
जानाति, तस्मात् स गार्हपत्यस्तूष्णी मेवोपस्थेयः । आहवनीयो-  
पस्थानस्यापि तूष्णीं कर्त्तव्यता माह— “तूष्णीं मेवाहवनीय  
मित्यादिना । योजना तु पूर्ववत् ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

एवं प्रवासादागतस्य यजमानस्याग्निविषयं कर्त्तव्यं सुपदिश्य  
गृहविषयं मपि तद् वक्तुं प्रतिजानीते— “अथात इति \* ।  
उपचरणं सुपाचारस्तं वक्ष्यत इति शेषः । “गृहा मा विभी-  
तेति † मन्त्रेषोपस्थानं विधित्सुस्तेषां भयसम्भावना माह— “एतद्  
वा इति । ‘प्रोषुष.’ प्रवासं कृतवतो यजमानात् ‘गृहाः’ ‘समु-  
त्पन्ना भीताः ‘इव’ भवन्ति’ । भीतिकारणं माह— “किं मय  
मिति । ‘अयं’ यजमानोऽस्मद्विषयं ‘किं वदिष्यति ?’ किं वा  
करिष्यति ?’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तेषां भयशङ्का । “स यो  
हेत्यादि । ‘सः’ खलु यजमान आगत्य तत्र “गृहा मा विभीते-  
त्येतन्मन्त्रेण उपस्थानं विना किञ्चिद् वदन् कुर्वन् वा भवति,

\* का० श्रौ० सू० ४. १२. २१ ।

† वा० सं० ३. ४१. १ ।

अस्मद्विषये क्रुद्ध एवासौ वर्त्तत इति । 'तस्मात्' यजमानाद्  
'गृहाः' प्रचसन्ति' प्रकर्षेणोद्दिजन्ते ।

असु; गृहाणां त्रासे को दोष इत्यत आह— "तस्येश्वर इति ।  
'तस्य' यजमानस्य 'कुल' वंशं 'विश्वोऽधोः' विनष्टं कर्त्तुम्  
'ईश्वरः' । ईश्वर इति व्यत्ययेनैकवचनम् \* । ईश्वराः, गृहाः  
समर्या भवन्ति ।

"अथ यो हेत्यादि । यसु गृहानुपगत्य किमपि न वदति,  
न करोति च, मौनमेव केवलं भजते, "गृहा मा विभीत"—इति  
मन्त्रेणोपस्थानं वा करोति, 'तं' यजमानं गृहाः 'उपसंश्रयन्ते'  
उपगच्छन्ति । उपसंश्रयतां तेषां मभिप्राय माह— "न वा इति ।  
'न' खल्वयं यजमानः 'इह' अस्मिन् समये 'किम्' अपि 'न' 'अवा-  
दीत्', 'किम्' अपि च 'न' 'अकरत्' अकार्षीत्; यदि अस्मदपराधः  
स्यात्, तदा तद्विषयं वदिष्यति, यत् किञ्च करिष्यति च ; तस्मात्  
अस्य यजमानस्य अस्मद्विषयः क्रोधो नास्तौत्यनेनाभिप्रायेण त  
मुपसंश्रयन्त इत्यर्थः ।

"स यदिहापीत्यादि । 'इह' अस्मिन् गृहविषये यद्यपि  
'सः' आगतो यजमानोऽपराधश्रवणात् 'क्रुद्धः' 'इव' एव 'स्यात्',  
'ततः' तस्मादागमनदिवसात् 'श्वः' अनन्तरदिवसे 'एव' 'तत्'  
वक्तव्यं कर्त्तव्यं वीपचारनिवृत्तये प्रयुञ्जीत ; न त्वागमनदिवसे  
इत्यर्थः ॥

तदुक्तं सूत्रकृता— "गृहा मा विभीतेति (वा० सं० ३.४१.)  
गृहानुपतिष्ठते †, क्षेमाय व इति (वा० सं० ३.४३.२.)

\* पा० ३.१.८५ सू० श्लो० वा० ।

† 'गृहानुपैति'— इति मुद्रितसूत्रग्रन्थपाठः ।

प्रविशति, न हिंस्यात् गृह्यान् कामथ् खः”-इति \* ॥ १४ ॥  
३ [ ४. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि  
व्वि नो धेहि यथा जीवामेति ततो देवा यज्ञोपवी-  
तिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्  
यज्ञो व्वोऽन्न ममृतत्वं व जुर्वः सुर्यां वो ज्योति-  
रिति \* ॥ १ ॥

अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः सथं जान्वा-  
च्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि-मासि व्वोऽशनं स्वधा  
वो मनोजवो वश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति † ॥ २ ॥

\* “तस्मिन् गृहागमनदिवसे ‘गृह्यान्’ गृहे भवान् भार्यापुत्रभ्रत्यादीन्  
अपराधे सत्यपि ‘न हिंस्यात्’ अनिष्टविरूपभाषणताडनादिना नोच्चाटयेत्”-  
इति तत्र या० दे० ।

†, ‡ ‘रिति’- इति क, घ, ङ ।

अथैनं मनुष्याः । प्रावृता उपस्यं कृत्वोमा-  
सीदंस्तानब्रवीत् सायम्प्रातर्व्वीऽशनं प्रजा वो मृत्यु-  
र्व्वीऽग्निर्व्वी ज्योतिरिति \* ॥ ३ ॥

अथैनं पशव उपसीदन् । तेभ्यः स्वेष मेव  
चकार यदैव यूयं कदा च लुभाध्वे यदि काले  
यदनाकालेऽथैवाश्राथेति † तस्मादेते यदैव कदा च  
लुभन्ते यदि काले यदनाकालेऽथैवाश्रन्ति ॥ ४ ॥

अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसिदुरित्याहुः ।  
तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददावस्त्यहैवासुरमायेतीव  
पराभूता ह त्वेव ताः प्रजास्ता इमाः प्रजा-  
स्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् ॥ ५ ॥

नैव देवा अतिक्रामन्ति । न पितरो न पशवो  
मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां  
मेदत्यशुभे मेदति विहृच्छति हि न ह्ययनाय च न  
भवत्यन्तत् हि कृत्वा मेदति तस्माद् सायम्प्रातरा-  
श्येव स्यात् स यो हैवं विद्वान्त्सायम्प्रातराशी भवति  
सर्व्वं हैवायुरिति यद् ह किञ्च व्वाचा व्याहरति तद्

\* 'रिति'— इति क, घ, ङ ।

† 'ऽथैवाश्रीतेति'— इति मा० सम्मत इति डा० वेबरः ।



हैव भवत्येतद्धि देवसस्यं गोपायति तुह्यैतत्तेजो नाम  
ब्राह्मणं य एतस्य व्रतं शक्नोति चरितुम् ॥ ६ ॥

तद्वा ऽएतत् । मासि-मास्येव पितृभ्यो ददतो  
यदैवैष न पुरस्तान् पश्चाद्दृष्टेऽथैभ्यो ददात्येष वै  
सोमो राजा देवाना मन्नं यच्चन्द्रमाः सु एतां  
रात्रिं क्षीयते तस्मिन् क्षीणे ददाति तथैभ्योऽसमदं  
करोत्यथ यदक्षीणे दद्यात् समदं ह कुर्याद्दिवेभ्यश्च  
पितृभ्यश्च तस्माद् यदैवैष न पुरस्तान् पश्चाद्दृष्टे-  
ऽथैभ्यो ददाति ॥ ७ ॥

स वा ऽअपराह्णे ददाति । पूर्वाह्णे वै  
देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणां मपराह्णः पितॄणां  
तस्मादपराह्णे ददाति ॥ ८ ॥

स जघनेन गार्हपत्यम् \* । प्राचोनावीती भूत्वा  
दक्षिणासीन एतं गृह्णाति स तुत एवोपोत्यायो-  
त्तरेणान्वाहार्य्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति सकृत्  
फलीकरोति सकुदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्  
सकृत् फलीकरोति ॥ ९ ॥

तुं श्रपयति । तस्मिन्नधिश्चित ऽञ्चाज्यं प्रत्यान-

\* 'पत्यं'— इति क, ग, घ, ङ ।

यत्पत्नी वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव  
पितृणां तस्मादुधिश्रित ऽत्राज्यं प्रत्यानयति ॥ १० ॥

स उदास्याग्नौ द्वे ऽत्राहुतौ जुहोति देवेभ्यः ।  
देवान् वा ऽएष उपावर्त्तते य आहिताग्निर्भवति  
शो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत् पितृयज्ञेनेवा-  
चारीत्तदु देवेभ्यो निहृत स देवैः प्रसृतोऽथैतत्  
पितृभ्यो ददाति तस्मादुदास्याग्नौ द्वे ऽत्राहुतौ  
जुहोति देवेभ्यः ॥ ११ ॥

स वा ऽअग्नये च सोमाय च जुहोति । स  
युदग्नये जुहोति सर्व्वं च ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्  
सोमाय जुहोति पितृदेवत्यो वै सोमस्तस्मादग्नये च  
सोमाय च जुहोति ॥ १२ ॥

स जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा  
सोमाय पितृमते स्वाहेत्यग्नौ मेक्षण मभ्यादधाति  
तत् स्विष्टकृद्भाजन मय दक्षिणेनान्वाहार्य्यपचन्  
सकृदुल्लिखति तद्देदिभाजनं सकृदु ह्येव पराञ्चः  
पितरस्तस्मात् सकृदुल्लिखति ॥ १३ ॥

अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति । स यदुनिधा-  
योल्मुक मथैतत् पितृभ्यो दद्यादसुररक्षसानि हैषा

मेतद्दिमथीरंस्तथो हैतत् पितृणा मसुररक्षसानि न  
द्विमथते तस्मात् परस्तादुल्मुकं निदधाति ॥ १४ ॥

स निदधाति । ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना  
असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो  
ये भुरन्त्यग्निष्टांस्त्रोकात् प्रणुदात्यच्चादित्यग्निर्हि  
रक्षसा मपहन्ता तस्मादेवं निदधाति ॥ १५ ॥

अथोदपात्र मादायावनेजयति । असाववने-  
निच्छेत्येव यजमानस्य पितर मसाववनेनिच्छेति  
पितामह मसाववनेनिच्छेति प्रपितामहं तद्यथा-  
ऽऽशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत् \* ॥ १६ ॥

अथ सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति ।  
अग्र मिव वै देवानां मध्य मिव मनुष्याणां मूल  
मिव पितृणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति सकृदा-  
च्छिन्नानि भवन्ति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्  
सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति ॥ १७ ॥

तानि दक्षिणोपस्तृणाति । तत्र ददाति स वा  
ऽङ्गति ददातीतीव वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्यो-  
ऽथेवं पितृणां तस्मादिति ददाति ॥ १८ ॥

\* 'तत्'— इति घ, ङ ।

सु ददाति । असावेतुत्त ऽइत्येव युजमानस्य  
 पित्रे ये च त्वा मन्वित्यु हैक ऽआहुस्तुदु तथा न  
 ब्रूयात् स्वयं वै तेषां सह येषां सह तुच्चादु ब्रूया-  
 दसावेतुत्त ऽइत्येव युजमानस्य पित्रेऽसावेतुत्त ऽइति  
 पितामहायासावेतुत्त ऽइति प्रपितामहाय तद्यदितः  
 पराग् ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः ॥ १९ ॥

तत्र जपति । अत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग  
 मावृषायध्व मिति यथाभाग मग्नीतेत्येवैतदाह ॥ २० ॥

अथ पराङ् पर्यावर्त्तते । तिरु-इव वै पितरो  
 मनुष्येभ्यस्तिरु इवैतद् भवति स वा ऽत्रा तुमिती-  
 रासीतेत्याहुरेतावान् ह्यसुरिति\* स वै मुहूर्त्तं मेवा-  
 सित्वा † ॥ २१ ॥

अथोपपल्युय्य जपति । अमी मदन्त पितरो  
 यथाभाग मावृषायिषतेति यथाभाग माशिषुरित्ये-  
 वैतदाह ॥ २२ ॥

अथोदपात्र मादायावनेजवति । असाववने-  
 निक्षेत्रेव युजमानस्य पितर मुसाववनेनिक्षेत्रेति

\* 'वाह्यसुरिति'— इति क ।

† 'त्वा'— इति घ, ङ ।

पितामहं मुसाववनेनिच्छेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषे-  
ऽभिषिञ्चेदेवं तत् \* ॥ २३ ॥

अथ नीवि मुद्बृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या  
वै नीविस्तस्मान्नीवि मुद्बृह्य नमस्करोति यज्ञो वै नमो  
यज्ञियानेवैनानेतत् करोति षट् कृत्वो नमस्करोति  
षड् वा ऽऋतव ऋतवः पितरस्तस्मात् षट् कृत्वो  
नमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणां ह  
पितर इँशत ऽएषो ऽएतस्याशीः कर्मणोऽथावजिघ्रति  
प्रत्यवधाय पिण्डान्त्स यजमानभागोऽग्नौ सक्तदा-  
च्छिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुत्सुक मपि सृजति  
॥ २४ ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

अथामावास्यायां पिण्डपितृयज्ञस्य † मासि मासि कर्त्तव्यतां  
विधिस्तुस्तदर्थं माख्यायिका माह— “प्रजापतिं वा इति । भवन्ति  
सङ्गावं प्रतिपद्यन्त इति ‘भूतानि’ । ‘प्रजाः’ देवपितृमनुष्याद्या  
वक्ष्यमाणाः । तासां मभिप्राय माह— “वि न इति । ‘नः’  
अस्मान् ‘वि देहि’ त्वा मित्यं कुरु — त्वा मित्यं कुरु इत्याज्ञापय ।

\* ‘तत्’— इति घ. ड ।

† ‘प्रथमं पौर्णमास मनुविहितम्, अधुना दर्शस्यानुविधानं करिष्यन् ततः  
प्राक्कालीनं पिण्डपितृयज्ञ मनुविदधाति”— इति या० दे० (सू० ४. १. १.) ।

‘यथा’ येन प्रकारेण वयं ‘जीवाम’ जीवनवन्तो भवेम ‘इति’ अग्नि-  
नाभिप्रायेणेत्यर्थः ।

“ततो देवा इत्यादि । प्रजापतेरुपासनहेतुत्वेनोपसदनसमये  
देवादिभिर्व्यद्यल्लिङ्गं धृतम्, तत्तल्लिङ्गानुसारेण तेषां देवादीनां  
यज्ञादिविशेषभाक्त्वं प्रजापतिर्जीवनहेतुत्वेनोपदिष्टवानिति प्रवृत्त-  
कार्थः । “यज्ञो वोऽन्न मिति । हे देवाः ! ‘वः’ युष्माकं  
‘यज्ञः’ ‘अन्नम्’, अतो युष्माक मेव ‘अमृतत्वम्’; ‘जक्’ बलं च  
‘वः’ युष्माक मेव; ‘सूर्यः’ एव ‘वः’ युष्माकं ‘ज्योतिः’ ‘इति’ ।

एवं यज्ञोपवीतित्वादिलिङ्गयुक्तान् देवान् प्रेथ्य, यज्ञादिचतुष्टयं  
प्रजापतिः तेषां जीवनहेतुत्वेनोपदिष्टवान् ॥ १ ॥

“अथैनं पितर इत्यादि । अत्राप्येवं योज्यम् । “मासि-  
मासीति । प्रतिमासं दर्शेऽनुष्ठीयमानं यत् पिण्डपितृयज्ञाख्यं  
हविः, तद् ‘वः’ युष्माकम् ‘अशनम्’; ‘स्वधा’-कारोऽपि ‘वः’  
युष्माक मसाधारणम्; मनस इव जवः ‘मनोजवः’, सोऽपि  
युष्माक मेव । सोमलोकवर्तिनां युष्माकं ‘चन्द्रमाः’ एव ज्योतिः  
भवत्विति ॥ २ ॥

“अथैनं मनुष्या इत्यादि । ‘प्रावृताः’ उत्तरवाससा संवृताः,  
कण्ठलम्बितवाससः \*, निवीतिन इत्यर्थः । अतएव तैत्तिरीय-  
कम्—“निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं  
देवानाम्”—इति † । “उपस्थं कृत्विति । यतः प्रजापतेरुपसदन-  
समये मनुष्यैरुपस्थप्रादरणं मनुष्यितम्, अतएवेदानीं भुक्त्यादि-  
समये उपस्थप्रावरणेनोपसीदन्ति । “प्रजा व इति । प्रजायन्त  
इति ‘प्रजाः’ पुत्रपौत्रादिरूपाः । “उपसर्गं च सञ्ज्ञायाम्”—

\* ‘केवलवीतवाससः’— इति च ।

† तै० सं० २. ५. ११. १ ।

इति \* ड-प्रत्ययः । “मृत्युर्व इति । देहारम्भकर्मीपजनितं मरणं 'वः' युष्माक मसाधारणो धर्म इत्यर्थः ॥ ३ ॥

गवादिपशूना मपि प्रजापत्युपसदनं, तत्कृतजीवनक्षयजनितं मरणं. तदशनक्लृप्तिञ्चाह— “अथेनं पशव इत्यादिना । “स्वेष मेवेति । दद्या देवपितृमनुष्याणां यज्ञादिरूपां तत्क्लृप्तिं चकार, तथैव गवादिपशूना मपि तदुचिताहारक्लृप्तिं कृतवानित्यर्थः । तत्प्रकारं दर्शयति— “यदेवेति । गवाद्याः पशवो यूयं 'यदा कदा च' काले अकाले वा दद्यादिरूप माहारजातं 'लभाध्वै', 'अथ' अनन्तर मेव तत् लब्धं दद्याद्याहारजातम् 'अन्नाथ' । 'इति'-शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्तौ । “तस्मादेत इत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतेः सकाशात् लब्धवराः, 'तस्मात्' 'एते' गवाद्याः पशवः दद्याद्याहारं 'यदा एव कदा च लभन्ते', 'काले' वा 'अकाले' वा, 'अथ' अनन्तर मेव तद् भक्षयन्ति ; न त्वस्मदादिवत् सायम्प्रातरादिकालविशेष मपेक्षन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथासुरकृतं प्रजापतावुपसदनं परोक्षेण निर्दिशति— “अथ ह्येन मिति । 'शश्वद्' बहुकत्वः 'असुरा अपि' 'उपसेदुः' उपसदनञ्चक्रुरित्यभिज्ञाः कथयन्ति ।

एवं पितृमनुष्यादीना सुपसदनं मिव असुरकृतं सुपसदनं जिज्ञासिष्यञ्चाह— “तेभ्यस्तमश्च मायाञ्चेति । परोषां दृष्ट्याच्छादकं † तमः, अघटनघटनशक्तिर्माया ‡ । तदुभयं यस्मात् प्रजापतिरसुरेभ्यो दत्तवान्, तस्मात् इदानीं मपि 'असुरमाया' असुरस्य स्वभूता मायेत्यस्ति श्रवणहारः । अत एव ते मायाविन

\* पा० सू० ३. २. ६६ ।

† 'दृष्ट्याच्छादकसामर्थ्य'— इति च ।

‡ 'अघटितघटनशक्तिर्माया'— इति च ।

इत्याख्यायन्ते । “पराभूता ह त्वेवेति । ‘ताः’ असुर्याः ‘प्रजाः’ देवादिवदन्नादीनां जीवनहेतूनां प्रजापतिसकाशादलाभात् केवलं तमोमायाभ्यां ग्रन्थाः सत्य पराभवं प्राप्ता इत्यर्थः । इत्थं प्रजापतिना देवादिभ्यः कल्पितां वृत्तिं प्रदर्श्य, तदनतिक्रमेण तेषां जीवनं प्रतिपादयति— “ता इति । ‘प्रजाः’ प्रागनुक्रान्ताः ‘इमाः’ देवपितृमनुष्याद्याः, ‘यथा’ येन प्रकारेण “यज्ञो वोऽन्नम्”-इत्यादिना वृत्तिं प्रजापतिः कल्पितवान्, ‘तथैव’ व्यवस्थितां वृत्तिं नियमेन देवाद्या उपजीवन्ति ॥ ५ ॥

“नैव देवा इति । न तु तं प्रजापतेराज्ञा मतिक्रामन्ति । अथ मनुष्याणां मशने नियमं विधित्सुरनियमप्रसक्तिं दर्शयितुं प्रजापतिः क्लृप्तेरतिक्रमं सुपन्थस्यति— “मनुष्या एवेति । ‘एके’ च नाम ‘मनुष्याः’ अज्ञानवशात् प्रजापतिना कल्पितां प्रागुदाहृतां वृत्तिम् ‘अतिक्रामन्ति’ । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ मनुष्याणां मध्ये ‘यः’ ‘मेद्यति’, स्निह्यति, पुष्यतीति यावत् । “ञि मिदा स्नेहने”—इति \* धातुः । स च मेद्यन्नं मनुष्यो धनादिजनितमद्वशेन ‘अशभे’ नरकपाताद्यनर्थहेतुभूते पापे ‘मेद्यति’ स्निह्यति, तात्पर्येण वर्त्तते । तस्मात् पापात् सः ‘विहृच्छति’ अधः पतति । “हुच्छी कौटिल्ये”—इति † धातुः । “अयनाय चनेति । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थः । पुण्यलोकगमनायापि ‘न हि भवति’ । कुत इत्यत आह— “अनृतं हीति । यस्मात् ‘अनृतम्’ असत्यम्, प्रतिषिद्धं ‘कृत्वा’ ‘मेद्यति’ प्रसन्नो भवति । इत्थं प्रजापत्यज्ञातिक्रमेण नियमदर्शनात् मनुष्येषु नियमापेक्षा विद्यत इति तात्पर्यार्थः ।

श्रीपेद्दातिकं नियमविधिं दर्शयति— “तस्मादिति । साय-



भ्यातरशितु' शील मस्येति 'सायम्प्रातराशी' । "सुप्यजाती णिनि-  
स्ताच्छित्ये"—इति \* णिनिः । 'एव'-क.रेण अन्तरा भोजनं  
निवार्यते । विहित मनुष्य प्रभंसति— "स यो हेव मिति ।  
"यदु ह किञ्चेति उक्तभोजनकालनियमघान् यदपि किञ्चिद् 'वाचा'  
'व्याहरति' भाषते, तथैव यथार्थं भवति । 'हि' यस्माद्, ऋसौ  
'एतत्' 'देवसत्यं' देवेन प्रजापतिना कल्पितं सत्यं 'गोपायति'  
रक्षति । "गुपूरक्षणे"—इति † धातुः । "गुपूधूपविच्छि"—इत्यायः  
प्रत्ययः ‡ । 'तद्ध' तदेव सत्यं 'तेजो नाम' 'तेजः'-शब्दवाच्यतया  
प्रसिद्धम् । 'ब्राह्मणम्' ब्राह्मणसम्बन्धिरूपम् । कः पुनरसा-  
वीटृन्विधं देवसत्यं गोपायतीति त माह— "य एतस्येति ।  
'एतस्य' प्रजापतेरुच्चरितरूपं 'व्रतं' 'चरितु' 'यः' यजमानः  
'श्वक्नोति', स देवसत्यं गोपायतीति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

इत्थं पिण्डपितृयज्ञस्य मासि मासि कर्त्तव्यतां "मासि मासि  
वोऽशनं स्वधा वः"—इत्यादिना प्रजापतिवाक्येन प्रतिपाद्येदानीं तं  
विदत्ते— "तद्वा एतदिति । 'मासि मासि' प्रतिमासम् ।  
"नित्यवीप्स्योः"—इति § दिर्वचनम् । जीवतां हि मनुष्याणां  
सायम्प्रातरशनं विहितम्, मरणादूर्द्ध्वं वस्त्रादिरूपेभ्यः पितृभावं ॥  
प्राप्तेभ्यस्तेभ्यो मासि मास्येव पितृयज्ञरूप मशनं दातव्य मित्यभि-  
प्रायः ¶ । स च पितृयज्ञोऽभावास्याया मेव कर्त्तव्यो नान्यस्यां  
तिथाविति प्रतिपादयति— "यदैवैष इति । 'यदा' यस्मिन्नेव काले

\* पा० सू० ३. २. ७८ ।

† स्वा० प० ३६५ धा० ।

‡ पा० सू० ३. १. २८ ।

§ पा० सू० ८. १. ४ ।

॥ 'वस्त्रादिरूपपितृभावं'— इति च ।

¶ "वस्त्रन् वदन्ति वै पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् । प्रतितामहांस्ता  
दित्यान् श्रुतिरेषा मनातनी"— इति म० सं० २. २८४ ।

‘एषः’ इन्दुः ‘न’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि, ‘पश्चात्’ पश्चिमाया मपि ‘न’ ‘दृश्यते’, ‘अथ’ अनन्तर मेव ‘एभ्यः’ पितृभ्यः पिण्डान् दद्यात् ।

पुरस्तात् पश्चात् न दृष्टे इत्येतदुपपादयति— “एष वा इति । ‘यत्’ यः ‘चन्द्रमाः’ नभसि दृश्यते, ‘एषः’ खलु ‘राजा’ राजमानः ‘सोमः’ ‘देवाना मन्त्रम्’ इति ; “य मादित्या अशुश माप्याययति”—इति मन्त्रवर्णात् \* । ‘सः’ वरुणः ‘एताम्’ अमावस्यादिवससम्बन्धिनीं ‘रात्रिं’ प्राप्य जीर्णः उदेति । तस्मिन् जीर्णे सति यः पितृभ्यो हविर्दद्यात्, तथा च सति एभ्यः पितृभ्यो देवैः साकम् ‘असमदं’ कलहं न ‘करोति’ । ‘अथ’ ‘यद्’ यदि ‘अक्षीणि’ दृश्यमाने तस्मिन् सोमे चतुर्दश्यां प्रतिपदि वा पितृभ्यो हविर्दद्यात्, तदा देवेभ्यः पितृभ्यश्च कलहं कुर्यात् ; सोमस्य देवाना मन्त्रत्वेन भोक्तुं देवैरपि सन्निधानात् दीयमानहविर्विषयः कलहो भवेदित्यर्थः । “तस्मादिति, निगमनम् ॥ ७ ॥

अपराह्णकालं विधायोपपादयति— “स वा इति । अह्नः पञ्चधाविभक्तस्य चतुर्यो भागोऽपराह्णः, तस्मिन् पिण्डपितृयज्ञोऽनुष्ठेयः । अत एव सूत्रते कात्यायनेन— “अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञः, चन्द्रादर्शनेऽमावास्याया मिति † ॥ ८ ॥

तत्पकार माह— “स जघनेन गार्हपत्य मिति । गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे व्रीहिपूर्णस्य निर्वापार्थस्य शकटस्य दक्षिणतः आसीनः

\* तै० सं० २. ४. १४. २ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १ । ‘पिण्डपितृयज्ञ इति वक्ष्यमाणस्य कर्मणः मञ्जा; सा च पिण्डदानपदार्थस्यैवार्थानुगमात् पिण्डैः पितृणां यज्ञः पिण्डपितृयज्ञ इति, अतश्च होमजपादयस्तदङ्गम्”— इत्यादि ( या० दे० ) आख्यानञ्च तत्र द्रष्टव्यम् । आश्व० श्रौ० सू० २. ६. १ ; ग० सू० २. ५ । माहा० श्रौ० सू० ४. ३. १, ५. १३ ।

प्राचीनावीती एवं \* पिलयज्ञार्थं हविर्गृह्णीयात् । मन्त्रस्याविहितत्वात् तूष्णीं भवेत्तद् ग्रहणम् । अत एव सूत्रितञ्च— “अपरेण गार्हपत्यं चरु मपूर्णं सुचं वा तूष्णीं गृहीत्वा”—इति † ।

चतुर्थं गृहीतानां ब्रीह्यैणा भवहननं विधाय प्रशंसति— “स तत एवेत्यादिना ‡ । ‘ततः’ तस्मात् हविर्ग्रहणस्थानात् । “उत्तरेणेति । दक्षिणाग्नेरदूरेण उत्तरत इत्यर्थः । “एनवन्ध-तरस्याम्”—इत्येनप् § । “एनपा द्वितीया”—इति ॥ द्वितीया । “दक्षिणा तिष्ठन्निति । दक्षिणतस्तिष्ठन् । “दक्षिणादाच्”—इति ¶ आच् प्रत्ययः ।

ऐष्टिकहविष इव फलीकरणस्य त्रित्वं प्रसक्त मपवदितुं सकृत्त्वं विधत्ते— “सकृदिति \*\* । एकवारं भव फलीकुर्यात्, न तु त्रिः । तत्र हेतु माह— “सकृदु ह्येवेति । ‘हि’ यस्माद् ‘सकृत्’ एकवारं भव ‘पराञ्चः’ पराञ्चो गताः ज्ञेताः ‘पितरः’ अभवन्, न तेषां पुनराहृत्तिरस्ति, अतस्तेषां सकृत्त्वं मसाधारणो धर्मः ॥ ८ ॥

अपणं विधत्ते— “त मिति †† । सकृत्फलीकृतांस्तण्डुलान् ख्याल्यां प्रक्षिप्य, तं चरुं दक्षिणाग्नीं अपयेदित्यर्थः । उदासनात् प्रागेव तस्मिंश्चरौ अभिघारणं विधत्ते— “तस्मिन्निति । ‘अधि-श्रिते’ अनेरुपरि स्थापिते ‘तस्मिन्’ (एतस्मिन् ‡‡) चरौ पक्वे सति ‘आज्यं’ ‘प्रत्यानयति’ प्रतिक्षिपति । तदेतदुपपादयति— “अग्नी वा

\* ‘एतं’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. ५ क ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १. ५ ख ।

§ पा० सू० ५. ३. ३५ ।

॥ पा० सू० २. ३. ३१ ।

¶ पा० सू० ५. ३. ३६ ।

\*\* का० श्रौ० सू० ४. १. ६ ।

†† का० श्रौ० सू० ४. १. ७ क ।

‡‡ नास्थेतत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।

इति । देवार्थं यदाज्यम्, तत् 'अग्नी' 'जुह्वति' यजमानाः । देवेभ्यो यदाज्यं देयं तत् होमिनेव दीयत इत्यर्थः । "उद्धरन्तीति । 'मनुष्येभ्यः' देयं यत् (आज्यम्\*), तत् तेषां पुरस्तात् भोजनपात्रेषु 'उद्धरन्ति' उद्धृत्य पुरतः स्थापयन्तीत्यर्थः । "अथैव मिति । 'अथ'-शब्द उक्त-वैलक्षण्ये । पितॄणां तु एव मधिस्रितावस्थाया मेव चरावाज्य मवनेय मिति यथोक्तम्, एव मेव पितृभ्य आज्यं देयम्, न त्वग्नी होमेनापि पुरस्तादुद्धरणेनापि । "तस्मादिति, प्रतिज्ञातनिगमनम् ॥ १० ॥

अथ तस्य क्षीरुद्वासनपूर्वकं होमं विधत्ते— "स उदास्येति । उदासनानन्तरं 'देवेभ्यः' देवार्थम् 'अग्नी' 'द्वे आहुती' जुहुयात् । यद्यपि 'अन्नये', 'सोमाय' इति द्वयोरेवात्र होमः, तथापि देवेभ्य इति सामान्याभिप्रायेण बहुवचनम् । अत एव सूत्रज्ञे— "अपयित्वाभिघार्योदास्य मेक्षणैः जुहोति अन्नय इति सोमायेति च"—इति \* ॥

अनु पितॄर्थेन हविषा देवेभ्यो होमोऽनुपपन्न इत्याशङ्कोप-पादयति— "देवान् वा इत्यादिना । 'यः आहिताग्निः', 'यः' च दर्शपूर्णमासयाजी 'एषः' यजमानो 'देवान्' उपावर्त्तते' उपाहृतः, अतस्तेभ्यो देवेभ्यो हविरवश्यं देय मिति भावः । "अथेतदिति । 'अथ'-शब्दोऽत्र वैपरीत्यद्योतकः । 'एतत्' एतर्हि देविकं कर्म परित्यज्य पित्रेण कर्मणा 'अचारीत्' पितॄं कृतवानित्यर्थः । तथा सत्यन्यदीयकर्मानुष्ठानेन देवानां कोपः स्यात्, अतस्तन्नि-वृत्तये पित्रे कर्मणि 'देवेभ्यः' होमिण तदपराधं 'निहृते' अप-नयति, प्रीणयति वा । एवं होमिण तोषितैः 'देवैः' 'प्रसृतः' अनु-

\* नास्त्येतत् प्रहं इ-पुस्तकादन्यत्र ।

† का० श्रौ० सू० ४, १, ७ क, ७ ख ।

ज्ञातः 'सः' यजमानः 'अथ' अनन्तर मेव 'एतत्' हविः 'पितृभ्यः' दद्यात् । उक्तं मर्थं निगमयति— "तस्मादिति ॥ ११ ॥

देवेभ्य इति साधारण्येनोक्तं विशिनष्टि— "स वा इति । इतरान् देवान् परित्यज्य अग्नेः सोमस्य च हवने कारणं माह— "स यदन्नय इति । 'सर्वत्र' देवेषु पितृषु च सर्वेषु कर्मसु 'अग्निः' 'अन्वाभक्तः' अनुप्रविष्टो भवति ; न ह्यग्नि मन्तरेण देविकं पितॄन् वा किञ्चित् कर्म निष्पद्यते, अतोऽत्रान्नेर्हीमो युक्त इत्यर्थः । "पितृदेवत्यो वा इत्यादि । यतः "चन्द्रमा वो ज्योतिः"— इति \* प्रजापतिः पितॄणां ज्योतिष्टेन चन्द्रमसं कल्पितवान्, अतः स 'सोमः' पितृदेवत्यः । अत एव धूमादिमार्गेण पितॄणां चन्द्रलोकप्राप्तिः समान्नाता— "चन्द्रमस मेव ते सर्वं गच्छन्ति"—इति.† । यत एव अतः पितॄन् कर्मणि सोमाय युक्तं मित्यर्थः ॥ १२ ॥

उक्तदेवतयोर्हीममन्त्रौ ‡ विधत्ते— "स जुहोतीति । 'कव्यं' पितॄन् हविः, तद् वहति प्रापयतीति 'कव्यवाहनः' । "कव्यपुरीष-पुरीषेषु"—इति § जुगुट् । एतच्च पितॄणां मग्नेरसाधारणं नाम-धेयम् । अत एवान्नायते— "त्रयो वा अग्नयो हव्यवाहनो देवानां, कव्यवाहनः पितॄणां, सहस्राजा असुराणाम्"—इति ॥ । 'कव्य-वाहनाय अग्नये' इदं हविः 'स्वाहा' सुहुत मसु । पितृगणैर्युक्ताय 'सोमाय' इदं हविः 'स्वाहा' सुहुत मसु ॥

मैत्रणस्याग्नीं प्रक्षेपं विधत्ते— "अग्नाविति ¶ । चरु मालोच्च

\* १६० पृ० १५ पं० द्रष्टव्यम् ।

† का० उप० ५, १०, ५ ।

‡ तौ च मन्त्रौ वा० सं० ३, २६, १, २ ।

§ पा० सू० ३, २, ६५ ।

॥ तै० सं० २, ५, ८, ११ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४, १, ८ क ।

येन काष्ठेन गृहीत्वा ह्यते, तत् 'भक्षणम्' । 'तत्' अभ्यादानं 'स्विष्ट-  
कृद्भाजनम्' अस्य होमस्य स्विष्टकृत्स्थानीयम् ॥

अथ पिण्डप्रदानाय स्थानविशेषं तत्संस्कारञ्च विधाय प्रशं-  
सति— "अथ दक्षिणेनेति \* । 'अथ'-शब्दोऽत्रान्यप्रतिषेधार्थः ।  
दक्षिणाम्नेरदूरेण स्फोऽन 'सक्तदुल्लिखति' एकयत्नेन दक्षिणप्राचीं  
लेखां कुर्यात् † । 'तत्' उल्लिखितं स्थलं 'वेदिभाजनं' वेदिस्थानी-  
यम्, तत्कार्यकर मित्यर्थः । "सक्तदु ह्येवेत्यादि, उक्तार्थम् ॥ १३ ॥

उल्लिखितप्रदेशस्यान्ते अग्नेर्निधानं विधत्ते— "अथ परस्ता-  
दिति । 'परस्तात्' परस्मिन् विप्रकृष्टे, पर्यन्ते इत्यर्थः । विपक्षे  
बाधविधानपुरस्सर मेतदुल्मुकनिधानं सुपपादयति— "स  
यदिति ‡ । सुरविरोधीनि रक्षांसि 'असुररक्षसानि', 'एषां'  
पितृणां स्वभूतम् 'एतत्' पिण्डरूपं हविः 'विमथ्नीरन्' अपहरेयुः ।  
"तथो हेति । तथा चोल्मुकनिधाने सतीत्यर्थः । 'न विमथ्नेत'  
नापहरन्ति । "मन्य विलोडने"—इति § धातुः ॥ १४ ॥

विहिते उल्मुकनिधाने मन्त्रं विधत्ते— "स निदधातीति ।  
यदेतदुल्मुकनिधानं विहितम्, तत् "ये रूपाणि"—इत्यनेन ॥  
मन्त्रेण कर्त्तव्य मित्यर्थः । मन्त्रार्थस्तु,— 'असुराः' मायावशात्  
पितृणां रूपाणि 'प्रतिमुञ्चमानाः' धारयन्तः पितृर्थं दीयमानया  
'स्वधया' सह 'चरन्ति' वर्त्तन्ते । 'ये' च पूर्वं 'परापुरः निपुरः'  
पूरणपिण्डदानेन युक्ताः सत्तो 'भरन्ति' हविर्हरन्ति । परापुरो

\* का० श्रौ० सू० ४. १. ८ ख ।

† तन्मन्त्रस्तु वा० सं० २. २६. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १. ६ ।

§ भा० प० ४२ धा० ।

॥ वा० सं० २. ३०. १, सा० म० ब्रा० २. ३. ४ ।

निपुर इति, परा-नि-पूर्वात् षृणोति; सम्प्रदादिलक्षणे भावे क्विपि बहुव्रीहिः ; स च धातुरत्र पिण्डविषये दाने वर्तते । अत एवोक्तमाश्वलायनेन— “तस्यां पिण्डान् निष्टणीयात् पराचीनपाणिः”— इति \* । पुत्रपदनिर्वचनप्रसङ्गे यास्केनाप्युक्तम्— “पुत्रः, पुरुत्रायते ; निपरणादा, पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा”—इति † । यद्वा ‘पराः’ प्रभूताः ‘पुरः’ शरीराणि येषां ते ‘परापुरः’ ; ‘नि’ निरुक्ता अल्पाः ‘पुरः’ शरीराणि येषां ते ‘निपुरः’ ; महाकायाः अल्पकायाश्चेत्यर्थः । एवं प्रच्छन्नवेषा असुरा ये सन्ति, ‘तान्’ ‘अस्मात्’ ‘लोकात्’ पिण्डपितृयज्ञस्थानात् ‘अग्निः’ ‘प्रणुदाति’ । लेख्याडागमः ‡, प्रणुदत्वित्यर्थः । रक्षोनिहन्तृत्व मन्त्रेः प्रसिद्धमिति व्याचष्टे— “अग्निर्हीति । ‘एवं निदधाति’ अग्निशब्दोपेतन मन्त्रेण निदध्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥

पिण्डदानस्य प्राच्याङ्गत्वेनावनेजनं विधत्ते— “अथोदपात्रमिति § । ‘उदपात्रम्’ उदकपूर्क्सं पात्रम् । “एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्”— इत्युदकशब्दस्योदभावः ॥ । “असावनेनित्त्व”—इत्यवनेजनमन्त्रः ¶ । तत्रादशशब्दस्थाने सम्बुद्धान्तं पितृादीनां यथाक्रमं नाम निर्द्देश्यम्,— हे यज्ञशर्मन् ! मम पितः ! ‘अवनेनित्त्व’ दास्यमानं पिण्डं भोक्तुम् आत्मीयौ पाणी शोधयेति मन्त्रार्थः । “पिण्डिर् शीचपोषणयोः”—इति \*\* धातुः । एवं पितामहप्रपितामहविषयी मन्त्रौ योज्यौ ।

\* आश्व० औ० सू० २, ६, १५ ।

† निरु० २, ३, २ ।

‡ पा० सू० ३, ४, ६४ द्रष्टव्यम् ।

§ का० औ० सू० ४, १, १० ।

॥ पा० सू० ६, ३, ५६ ।

¶ इदमेव ब्राह्मणे समान्नात इति शीघ्रः ।

\*\* जु० उ० ११ धा० ।

अस्यावनेजनस्य पिण्डदानात् प्राकृत्तव्यतां दृष्टान्तेनोपपाद-  
यति— “तद्यथेति । ‘अग्निष्यते’ भोक्ष्यमाणाय पुरुषाय यथा  
‘अभिषिञ्चेत्’ उदकं हस्ते ददाति, ‘एवम्’ एव तत् पितृणां मवने-  
जनमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ तस्मिन्नुल्लिखिते स्थाने बर्हिः स्तारितुं तत्सम्पादनं विधत्ते  
—“अथ सकृदाच्छिन्नानीति \* । एकयत्नेन छिन्नानि । ‘उप-  
मूलं’ मूलसमीपे । ‘दिनानि’ खण्डितानि बर्हिषि पितृयज्ञा-  
र्यानि ‘भवन्ति’, एवङ्गुणविशिष्टानि बर्हिष्याहर्तव्यानीत्यर्थः । मूल-  
समीपे छेदनमुपपादयति—“अथ भिवेत्यादिना । अत एव तैत्ति-  
रीयकेऽप्याम्नायते— “यत् पुरुषि दिनं तद् देवानां †, यदन्तरा  
तन्मनुष्याणां, यत् समूलं तत् पितृणाम्”—इति ‡ । छेदनगतं  
सकृत्त्वमनूद्य स्तौति—“सकृदाच्छिन्नानीति ॥ १७ ॥

बर्हिषः स्तारणं विधत्ते— “तानीति । ‘दक्षिणा’ दक्षिणतः,  
उल्लिखितप्रदेशे ‘तानि’ बर्हिषि ‘उपस्तृणाति’ । तथैव कात्या-  
यनेन सूत्रितम्—“उपमूलं सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा”—  
इति § । पिण्डदानं विधत्ते— “तत्रेति । ‘तत्र’ तस्मिन् बर्हिषा  
मास्तीर्णे देशे पिण्डान् दद्यादित्यर्थः । तत्र प्रकारविशेषमभिनयेन  
विधत्ते— “स वा इतीति । ‘इति’ अनेन प्रकारेण ऋङ्गुत्तर्जन्त्यो-  
र्मध्येन पितृणां तीर्थेनेत्यर्थः । देवमनुष्यसम्पदानके दाने तद्विप-  
रीत्यकथनेनोपपादयति— “इतीव वै देवेभ्य इति । अनेन ऋङ्गु-

\* का० श्रौ० सू० ४, १, ११ ।

† “पुरुषि पर्वसन्धौ, दिनं छिन्नम्, ताडयं बर्हिरहिंसितत्वात् देवानां  
प्रियम्”— इति च तै० सं० १, ६, ८, ५ सा० भा० ।

‡ तै० ब्रा० १, ६, ८, ५, ६, ७ । § का० श्रौ० सू० ४, १, ११ क ।



प्रकारेण अङ्गुल्यग्रेण देवतीर्थेन 'देवेभ्यः' हवींषि 'सुहृत्ति' ।  
 'मनुष्येभ्यः' तु यथायोगं भोक्तव्य मन्त्रम् 'उद्धरन्ति' उद्धृत्य पात्रान्तरे  
 स्थापयन्ति । न तु तत्र देवपित्रादितीर्थविशेषोऽपेक्षितः । "अथैव  
 मिति । 'अथ'-शब्द उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थः । देवमनुष्यवैल-  
 क्षणेन एव मुक्तेन पित्रेण तीर्थेन पितॄणां सम्बन्धि हविर्देय  
 मित्यर्थः । "तस्मादिति । प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ १८ ॥

पितृपितामहप्रपितामहानां विहिते पिण्डदाने मन्वान्  
 विधत्ते— "स ददातीत्यादिना । "असावेतत्ते"—इति पिण्ड-  
 दानमन्त्रः \* । तत्र 'असौ'-इत्यस्य स्थाने पित्रादीनां नाम  
 सम्बुध्यन्तं निर्दिष्टव्यम् । "हे यज्ञशर्मन् ! 'एतत्' पिण्डरूपं  
 हविः 'ते' तुभ्यं मया दीयत इति मन्त्रार्थः । "ये च त्वा मनु"—  
 इति † वक्ष्यमाणशाखान्तराभिमतमन्त्रशेषनिरासार्थः 'एव'-कारः ‡ ।  
 अनेन च मन्त्रेण प्रथमं यजमानस्य पितृ पिण्डं दद्यात् ; अनेनैव  
 पितामहप्रपितामहयोरपि पिण्डदानम् । तत्रैकीयं मतं सुप-  
 न्यस्य दूषयति— "ये च त्वेति । तस्य च मन्त्रशेषस्याय मर्थः,—  
 हे पितः ! 'त्वाम्' 'अनु'-इत्य 'ये' वर्त्तन्ते, तेभ्यश्चायं पिण्डः  
 त्वमिं करोत्विति । "स्वयं वा इत्यादि । पितृनन्तरभाविनां  
 यच्छब्दनिर्दिष्टानां तेषां 'स्वयं' पिण्डदाता सहभावी भवति । तथा  
 य एव एषां स्वयम् [सह] भावी, तेभ्यः पिण्डदाने स्वात्मने पिण्डं  
 दत्तवान् भवति ; अतस्तत्प्रतिपादको "ये च त्वा मनु"—इति मन्त्र-  
 भागो न वक्तव्य इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० ४. १. ११ ख । इहैव ब्राह्मणे समास्नातः ।

† "ये च त्वा मन्विति चैके"— इति का० श्रौ० सू० ४. १. १२ ।

‡ "असावेतत्त इत्येव"— इत्यत्र द्रष्टव्यम् ( १६५ पृ० १ पं० ) ।

प्रथमं पक्षं निगमयति— “तस्मादिति । “तद्यदित इत्यादि । अनेन हि क्रमेण ते पित्रत्वं प्राप्ताः— प्रथमं प्रपितामहः, पश्चात् पितामहः, ततः पितृति ; इमं क्रमं परित्यज्य पिण्डदाने ‘इतः’ पित्रत आरभ्य प्रपितामहान्तं ‘पराक्’ पराचीनं पिण्डान् दद्यात् ; यतस्ते पितरः सकृत्त्वपराङ्गधर्मयुक्ता इत्यर्थः ॥ १६ ॥

पिण्डदानानन्तरं मन्त्रजपं विधत्ते— “तत्र जपतीति \* । तद्वतं किञ्चित् पदं व्याचष्टे— “अत्रेति । मन्त्रार्थस्तु,— ‘अत्र’ अस्मिन् देशे हे ‘पितरः !’ ‘मादयध्वम्’ त्वसा भवत, तदर्थं च ‘यथाभागं’ स्वं स्वं भागं मनतिक्रम्य मया दत्तान् पिण्डान् ‘आह-पायध्वम्’ अग्नीतेति । हृषायध्वमित्यस्यैतदर्थपरतां श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे— “यथाभागं मग्नीतेत्येवेतदाहेति † ॥ २० ॥

जपानन्तरं परागावर्त्तनं विधत्ते— “अथ पराङ् पर्यावर्त्तत इति । पराङ्मुखः सन् पिण्डाभिमुख्यं विहाय ‡ पर्यावर्त्ततेत्यर्थः । एतदुपपादयति— “तिर इवेति । पितरो हि मनुष्येभ्यः तिरोभूताः ; अन्तर्धानशक्तियोगात् । अतः पितृणां तिरोधानेन भवितव्यम् । एतर्हि पिण्डान्तरपर्यावर्त्तमाने सति तेषां ‘तिर इव’ तिरोधानं मिव भवति । पर्यावर्त्तनकालस्य परिमाणं विधत्ते— “स वा इति § । स खलु परावर्त्तमानः ‘आ त्मितोः’ निरुद्धश्चासगतेरात्मनो यावत् तमनं ग्लानिः भवति, तावत् ‘आसीत इति’ केचित् ‘आहुः’ प्रतिपादयन्ति । “तसु ग्लानौ”—इत्यास्मात् ॥ “भावलक्षणे स्थे श्लक्ष्णवद्विचरिद्भुतमि-

\* का० श्रौ० सू० ४. १. १३ ।

† वा० सं० २. ३१. १ ।

‡ ‘विच्छाय’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १. १३ ।

जनिभ्यस्तोसुन्”-इति \* तोसुन् प्रत्ययः । तत्रोपपत्ति माह—  
 “एतावानिति । एतावत्परिमाणो भवति । तस्मादेतावन्तं  
 काल मासीतेति । पक्षान्तर माह— “स वा इति । ‘सः’ खलु  
 ‘मुहूर्त्त’ द्वादशक्षणात्मको यो मुहूर्त्तसञ्ज्ञकः कालः , तावत्पर्य-  
 न्तम् ‘एव’ आसीतेत्यर्थः । एवकारः पूर्वोक्तपक्षव्यवच्छेदार्थः ।  
 ‘आसित्त्वा’-इति ‘क्त्वा’-प्रत्ययस्तु वक्ष्यमाणक्रियापेक्षः ॥ २१ ॥

उक्तकालानन्तरं षर्यावर्त्तमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते—  
 “अथेति † । ‘उपपत्त्यय’ पिण्डसमीपं परिप्राप्य । परिपूर्वा-  
 दयतेर्त्यपि “उपसर्गस्यायती”-इति ‡ लत्वम् । “अमीमद-  
 न्तेति § । मन्त्रं जपेत् । अर्धस्तु,— ‘पितरः’ पिण्डपितृ-  
 देवताः ! ‘अमीमदन्त’ दृष्ट्वा अभूवन् । दृष्ट्यर्थान्मादयतेर्णन्तात्  
 लुङि चङि रूपम् । ते च ‘यथाभागं स्वं स्वं भाग्य मनतिक्रम्य  
 ‘आहृषायिषत’ अभुवन् । तत्र ‘आहृषायिषत’-इति पदस्य  
 विवक्षित मर्थ माह— “यथेति । आङ्पूर्वो हृषयतिरभ्यवहारे  
 वर्त्तते, तस्मात्तुङि बहुवचनान्त मेतत् पदम्, अतः ‘आशिषुः’  
 ‘इति’ तस्य व्याख्यानम् । “अग् भोजने ॥”-इत्यस्मात्तुङि बहु-  
 वचने आशिषुरिति रूपम् ॥ २२ ॥

पिण्डदानात् प्राग्वेदानो मपि पित्रादीना मुदकावनेजनं  
 विधत्ते— “अथोदपात्र मिति ¶ । “असाववनेनिच्छ”-इति \*\*  
 तन्मन्त्रः । तत्र त्रिष्वपि मन्त्रेषु ‘असौ’-इत्यस्य स्थाने पित्रा-

\* पा० सू० ३. ४. १६ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १४ ।

‡ पा० सू० ८. २. १६ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ क्र० प० ६० घा० ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १. १५ क ।

\*\* एषोऽपि मन्त्र इहैव ब्राह्मणे आम्नातः ( १६५ पृ० १६ पं० ) ।

दीनां नामानि क्रमेण निर्दिशेत् । अर्थस्तु प्रागेव दर्शितः \* । एतदवनेजनं लोकश्रवणहारेणोपपादयति— तद्यथेति । 'तत्' तत्र विषये निदर्शनं मभिधीयते । यथा 'जक्षुषे' भुक्तवते पुरुषाय मुखप्रक्षालनार्थं हस्ते उदकम् 'अभिषिञ्चेत्', 'एवम्' एव 'तत्' पिण्डदानानन्तरभावि जलावसेचन मित्यर्थः । 'जक्षुषे' इति, अदेर्लिटः कसौ "लिव्यन्त्यतरस्याम्"—इति † घसादेशः, पुनश्चतुर्थ्यं कवचने सम्प्रसारणे च रूपम् ॥ २३ ॥

नमस्कारं विधत्ते— "अथ नीवि मिति ‡ । 'नीविः' परिधानीयस्य वाससो दशा, ताम् 'उहृह्य' विस्त्रंस्य § पितृन् 'नमस्करोति' । तत्र विस्त्रंसने कारणं माह— "पितृदेवत्येति । यतो 'नीविः' 'पितृदेवत्या' पितृदेवतार्था, पितृणां ढमिकरीति यावत् । "देवतान्तात् तादर्थ्यं यत् ॥" । 'तस्मात्' तां 'नीविम्' 'उहृह्य' विस्त्रंस्य प्रदर्श्य ते नमस्कृत्तव्या इत्यर्थः । नीवेः पितृदेवत्यत्वं तेत्तिरीयकेऽप्यान्नातम् ¶— "अग्नेस्तूषाधानं, वायोर्वातपानं, पितृणां नीविः"—इत्यादि \*\* । नमस्कारस्य प्रयोजनं माह— "यज्ञो वा इति । नमस्कारेण हि पूजा गम्यते, 'यज्ञः' पूजात्मकः ; "यज्ञ देवपूजा"—इति †† यज्ञत्वे स्तदर्थत्वात् । अतो नमस्कृत्यो यज्ञात्मकः । तेन नमस्कारेण 'एनान्' पितृन् 'यज्ञियान्' यागार्हान् 'एव' करोति । "यज्ञत्विम्भरां घखञौ"—इति ‡‡ अर्हार्थे घञ्

\* २०६ ष्ट० १५ पं० द्रष्टव्यः ।

† पा० सू० २. ४. ४० ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १. १५ ।

§ 'विमुच्य'— इति क्व ।

॥ पा० सू० ५. ४. २४ ।

¶ तै० सं० ६. १. १. ११ ।

\*\* सायण्यीयं आख्यानं त्वस्याः श्रुतेः तै० सं० १. २. १ भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

†† भा० उ० १००२ धा० ।

‡‡ पा० सू० ५. १. ७१ ।

जनिभ्यस्तोसुन्”-इति \* तोसुन् प्रत्ययः । ततोपपत्ति माह—  
 “एतावानिति । एतावत्परिमाणो भवति । तस्मादेतावन्तं  
 काल मासीतेति । पक्षान्तर माह— “स वा इति । ‘सः’ खलु  
 ‘मुह्यत्’ द्वादशक्षणात्मको यो मुह्यत् सञ्ज्ञकः कालः , तावत्पर्य-  
 न्तम् ‘एव’ आसीतेत्यर्थः । एवकारः पूर्वोक्तपक्षव्यवच्छेदार्थः ।  
 ‘आसित्वा’-इति ‘क्त्वा’-प्रत्ययस्तु वक्ष्यमाणक्रियापेक्षः ॥ २१ ॥

उक्तकालानन्तरं षर्यावर्त्तमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते—  
 “अथेति † । ‘उपपत्त्यय’ पिण्डसमीपं परिप्राप्य । परिपूर्वा-  
 दयतेर्त्यपि “उपसर्गस्यायती”-इति ‡ लत्वम् । “अमीमद-  
 न्तेति § । मन्त्रं जपेत् । अर्धस्तु,— ‘पितरः’ पिण्डपितृ-  
 देवताः ! ‘अमीमदन्त’ दृष्ट्वा अभूवन् । दृष्ट्यर्थान्मादयतेर्णन्तात्  
 लुङि चङि रूपम् । ते च ‘यथाभागं स्वं स्वं भाग्य मनतिक्रम्य  
 ‘आवृषायिषत’ अभुवन् । तत्र ‘आवृषायिषत’-इति पदस्य  
 विवक्षित मर्थ माह— “यथेति । आङ्पूर्वो वृषयतिरभ्यवहारे  
 वर्त्तते, तस्मात्तुङि बहुवचनान्त मेतत् पदम्, अतः ‘आशिषुः’  
 ‘इति’ तस्य व्याख्यानम् । “अग् भोजने ॥”-इत्यस्मात्तुङि बहु-  
 वचने आशिषुरिति रूपम् ॥ २२ ॥

पिण्डदानात् प्राग्वेदानो मपि पित्रादीना मुदकावनेजनं  
 विधत्ते— “अथोदपात्र मिति ¶ । “असाववनेनिच्छ”-इति \*\*  
 तन्मन्त्रः । तत्र त्रिष्वपि मन्त्रेषु ‘असौ’-इत्यस्य स्थाने पित्रा-

\* पा० सू० ३. ४. १६ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १४ ।

‡ पा० सू० ८. २. १६ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ का० प० ६० घा० ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १. १५ क ।

\*\* एषोऽपि मन्त्र इहैव ब्राह्मणे आम्नातः ( १६५ पृ० १६ पं० ) ।

‘जीवः वर्षतो वृष्ट्यर्थक्रियमाणो वेगः \* । ‘स्वधा’-इति अन्ननाम ॥  
 व्रीह्यादिरूप मन्त्रश्च शरदादिषु पच्यत ; अतः शरदृतुसम्बन्धिने  
 अन्नायेत्यर्थः । हेमन्तशिशिरयोर्हिमेन सर्वेषां पीडनात् तद्रूपौ  
 पितृधर्मौ ‘घोरमन्यू’ । “नमो वः पितरः पितरो नमो वः”-  
 इति ॐ व्यतिहारोक्तिरादरातिशयद्योतनार्था ।

एवं नमस्कृतान् पितॄन् प्रार्थयते— हे ‘पितरः !’ ‘नः’  
 अस्मभ्यम् ‘गृहान्’ पुत्रपौत्रादिरूपान् ‘दत्त’ प्रयच्छत § ।  
 पितृषां दानसामर्थ्यं मन्त्रशेषस्य चाशीःपरत्वं स्पष्ट मिति  
 व्याचष्टे— “गृहाणा मिति । ‘पितरः’ खलु ‘गृहाणाम्’ ईशते’  
 ईश्वरा भवन्ति । “अधीगर्थदयेशाम्”—इति ॥ कर्मणि षष्ठी ।  
 ‘एतस्य’ पिण्डपितृयज्ञाख्यस्य ‘कर्मणः’ ‘एषा’ ‘आशीः’ फलप्रार्थना  
 ‘उ’ एवेत्यर्थः ।

पिण्डशेषस्याग्राणं विधत्ते— “अथावजिघ्रतीति । “प्रा गन्धो-  
 पादाने ¶”—इत्यस्मात्कृटि “प्राग्राभा”—इति \*\* जिघ्रादेशः । तथा  
 च अवग्राणं ‘पिण्डान्’ पिण्डपाले ॥१॥ ‘प्रत्यवधाय’ प्रतिक्षिप्य  
 कर्त्तव्यम् । तच्चावग्राणं ‘यजमानभागः’ यजमानस्य स्वकीयोऽयं  
 इति विधेयभागापेक्षया पुंलिङ्गनिर्देशः । स्तीर्षस्य वर्हिषः  
 प्रतिपत्तिं विधत्ते— “अग्नाविति । ‘अभ्यादधाति’ प्रक्षिपती-  
 त्यर्थः । उरमुकस्यापि संसर्जनं विधत्ते— “पुनरिति । “ये

\* “जीवाय, जीवनहेतुभूताय जलाय वर्षत्तवे”— इति मञ्जीधरः ।

† निघ० २. ७. १७ ।

‡ वा० सं० २. ३. ७ ।

§ वा० सं० २. ३२. ८ ।

॥ पा० सू० २. ३. ५२ ।

¶ भा० प० ६२६ धा० ।

\*\* पा० सू० ७. ३. ७८ ।

†† ‘गान्त्रि’- इति कृ ।

जनिभ्यस्तोसुन्”—इति \* तोसुन् प्रत्ययः । ततोपपत्ति माह—  
 “एतावानिति । एतावत्परिमाणो भवति । तस्मादेतावन्तं  
 काल मासीतेति । पक्षान्तर माह— “स वा इति । ‘सः’ खलु  
 ‘मुहूर्त्त’ द्वादशक्षणात्मको यो मुहूर्त्तसञ्ज्ञकः कालः , तावत्पर्य-  
 न्तम् ‘एव’ आसीतेत्यर्थः । एवकारः पूर्वोक्तपक्षव्यवच्छेदार्थः ।  
 ‘आसित्वा’—इति ‘क्त्वा’-प्रत्ययस्तु वक्ष्यमाणक्रियापेक्षः ॥ २१ ॥

उक्तकालानन्तरं षर्यावर्त्तमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते—  
 “अथेति † । ‘उपपत्त्यय’ पिण्डसमीपं परिप्राप्य । परिपूर्वा-  
 दयतेर्त्यपि “उपसर्गस्यायती”—इति ‡ लत्वम् । “अमीमद-  
 न्तेति § । मन्त्रं जपेत् । अर्धस्तु,— ‘पितरः’ पिण्डपितृ-  
 देवताः ! ‘अमीमदन्त’ दृष्ट्वा अभूवन् । दृष्ट्यर्थान्मादयतेर्णन्तात्  
 लुङि चङि रूपम् । ते च ‘यथाभागं स्वं स्वं भाग्य मनतिक्रम्य  
 ‘आहृषायिषत’ अभुवन् । तत्र ‘आहृषायिषत’—इति पदस्य  
 विवक्षित मर्थ माह— “यथेति । आङ्पूर्वो हृषयतिरभ्यवहारे  
 वर्त्तते, तस्मात्तुङि बहुवचनान्त मेतत् पदम्, अतः ‘आशिषुः’  
 ‘इति’ तस्य व्याख्यानम् । “अग् भोजने ॥”—इत्यस्मात्तुङि बहु-  
 वचने आशिषुरिति रूपम् ॥ २२ ॥

पिण्डदानात् प्राग्वेदानो मपि पित्रादीना मुदकावनेजनं  
 विधत्ते— “अथोदपात्र मिति ¶ । “असाववनेनिच्छ”—इति \*\*  
 तन्मन्त्रः । तत्र त्रिष्वपि मन्त्रेषु ‘असौ’—इत्यस्य स्थाने पित्रा-

\* पा० सू० ३. ४. १६ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १४ ।

‡ पा० सू० ८. २. १६ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ क्र० प० ६० घा० ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १. १५ क ।

\*\* एषोऽपि मन्त्र इहैव ब्राह्मणे आम्नातः ( १६५ पृ० १६ पं० ) ।

पशुवः कृत्येव त्वद्विष्टेणैव त्वत्प्रलिलिपुस्तैवं  
 चिद्देवानभिभवेमेति ततो न मनुष्या आशुर्न  
 पशुव आलिलिशिरे ता हेमाः प्रजा अनाशकेन  
 नीत्परावभूवः ॥ २ ॥

तद्देवाः शशुवः । अनाशकेन ह वा ऽइमाः  
 प्रजाः पराभवन्तीति ते होचुर्हृतेद् मासा मप-  
 जिघांसा मेति केनेति यच्चेनैवेति यच्चेन ह स्म  
 वै तद् देवाः कल्पयन्ते यदेषां कल्प \* मासऽपे-  
 यश्च † ॥ ३ ॥

ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम-  
 ममेत्येव नु सम्पादयान्चक्रुस्ते हासम्पाद्योचुराजि  
 मेवास्मिन्नजामहै स या न उज्जेष्यति तस्य न इदं  
 भविष्यतीति तथेति तस्मिन्नाजि माजन्त ॥ ४ ॥

ताविन्द्राग्नी ऽउदजयताम् । तस्मादैन्द्राग्नी  
 द्वादशकपालः पुरोडाशो भवतीन्द्राग्नी ह्यस्य भाग-  
 धेय मुदजयतां तौ यत्रेन्द्राग्नी ऽउज्जिगीवांसौ  
 तस्यतुस्तद्विष्टे देवा अन्वाजग्मुः ॥ ५ ॥

\* 'कल्प'— इति घ. ड ।

† 'माम् ऽपेयश्च'— इति क ।



क्षत्रं वा ऽइन्द्राग्नी \* । विश्वो विश्वे देवा  
 युञ्ज वै क्षत्रं मुञ्जयत्यन्वाभक्ता वै तत्र विश्वं तद्विश्वान्  
 देवानन्वाभजतां तस्मादेषु विश्वदेवश्चरुर्भवति ॥ ६ ॥

तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः । क्षत्रं वा  
 ऽइन्द्राग्नी नेत् क्षत्रं सभ्यारोहयाणीति तौ वा ऽउभा-  
 वेव नवानां स्यातां यद्वि पुरोडाश इतरश्चरुरित-  
 रस्तेनैव क्षत्रं मनभ्यारूढं तस्मादुभाविव नवानां  
 स्याताम् ॥ ७ ॥

तु ऽउ ह विश्वे देवा ऊचुः । अनयोर्व्वि  
 ऽअयं द्यावापृथिव्यो रसी हन्तेमे ऽअस्मिन्नाभजा-  
 मेति ताभ्या मेतं भागु मकल्पयन्नेतं द्यावापृथिव्य  
 मेककपालं पुरोडाशं तस्माद् द्यावापृथिव्य एक-  
 कपालः पुरोडाशो भवति तस्येय मेव कपाल मेकेव  
 हीयं तस्मादेककपालो भवति ॥ ८ ॥

तद्य परिचक्षा † । यस्यै वै कस्यै च देवतायै  
 हविर्गृह्यते सर्व्वं चैव खिष्टकृदन्वाभक्तोऽथैतं सर्व्वं  
 मेव जुहोति न खिष्टकृतेऽवद्यति सा परिचक्षतीती  
 हृतः पर्यावर्त्तते ॥ ९ ॥

\* 'ग्नी'— इति घ, ङ ।

† 'क्षा'— इति घ, ङ ।

तदाहुः । पर्याभूद्वा ऽअथ मेककपालो मोहि-  
 ष्यति राष्ट्र मिति नास्य सा परिचक्षाहवनीयो वा  
 ऽआहुतीनां प्रतिष्ठा स यदाहवनीयं प्राप्यापि दश  
 कृत्वः पर्यार्त्तत न तदाद्रियेत यदौत्वन्ये \* व्वदन्ति  
 कस्तत्सम्भ मुपेयात्तस्मादाज्यस्यैव यजेदाज्यं ह वा  
 ऽअनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसस्तत् प्रत्यक्षं मेवैने  
 ऽएतत् स्वेन रसेन मेधेन प्रीणाति तस्मादाज्यस्यैव  
 यजेत् † ॥ १० ॥

एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टोभयीना मोषधीनां  
 याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्या मिव  
 त्वद्विषु मिव त्वदुपजघ्नुस्तत आश्रन्मनुष्या आलिशन्त  
 पशवः ॥ ११ ॥

अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य ‡  
 तथा कश्चन कृत्येव त्वद्विषेणैव त्वत् प्रलिम्पतीति  
 देवा अकुर्वन्निति त्वेवैष एतत् करोति य मु चैव  
 देवा भाग मुकल्पयन्त त मु चैवैभ्य एष एतद्भागं

\* 'यदौत्वन्ये'— इति क, ग; 'यदौत्वंने'— इति च दृष्टं डा०-वेवरेण ।

† 'यजेत'— इति क, ग ।

‡ 'तस्माहात्त्वोवैतस्य'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

करोतीमा उ चैवैतदुभयौरोषधीर्याश्च मनुष्या उप-  
जीवन्ति याश्च पशवस्ता अनमीवा अकिल्विषाः  
कुरुते ता अखानमीवा अकिल्विषा इमाः प्रजा  
उपजीवन्ति तस्माद्वा ऽएष एतेन यजते ॥ १२ ॥

तुख प्रथमजो गौर्दक्षिणा । अग्र \* मिव ह्रीद्  
स यदोजानः स्याद्दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेताथैतेन  
यजेत यद्य ऽअनीजानः स्याच्चातुष्प्राश्य मेवैतमोदन  
मन्वाहार्यपचने पचेयुस्तुं ब्राह्मणा अग्नीयुः ॥ १३ ॥

इया वै देवा देवाः † । अहैव देवा अथ ये  
ब्राह्मणाः शुश्रुवाऽसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तद्यथा  
वृषट्कृतः ‡ हुत मेव मस्यैतद् भवति तत्रो यच्छ-  
क्रुयात्तद्दद्यान्नादक्षिणः हविः स्यादिति ह्याहुर्नाग्नि-  
होचे जुहुयात्समद् ह कुर्याद्यद्दग्निहोचे जुहु-  
यादन्यद्वा ऽआग्रयण मन्यद्दग्निहोचं तस्मान्नाग्निहोचे  
जुहुयात् ॥ १४ ॥ ५ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [ ४. ३. ] ॥

\* 'अग्रिय'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'देवाः'— इति घ, ङ ।

‡ 'वृषट्कृतः'— इति घ, ङ ; 'वृषट्कृतः'— इति च दृष्टो डा० वेबरः

अथ विधिक्षिताया आग्रयणेष्टेमन्त्रभेदेन प्रयोजनं दर्शयंस्तावद्  
 कहोलस्य मतमुपन्यस्यति—“तदु होवाचेति । ‘तत्’ तत्र,  
 वक्ष्यमाणे आग्रयणेष्टिविषये ‘उवाच’ उक्तवान् ‘कीषीतकिः’  
 कुषीतकस्य पुत्रः । ता मुक्तिं दर्शयति—“अनयोरिति \* ।  
 योऽयं व्रीहिववाद्योषध्यात्मको रसः, सः ‘अयम्’ ‘अनयोः द्यावा-  
 पृथिव्योः’ ‘रसः’; द्युसम्बन्धिन्या वृष्ट्या भूमिरुत्पन्नत्वात् । ‘अस्य  
 रसस्य’ । कर्मणि षष्ठी † । इमं रसं देवेभ्यः प्रथमं ‘हुत्वा’  
 ‘अथ’ अनन्तरं हुतशिष्टम् ‘इमम्’ ‘अन्नाम्’ भुञ्जामहे इत्यर्थः ।  
 ‘तस्मादिति, आग्रयणेष्टिविधिः; यस्मादेवं कहोलेनोक्तम्,  
 ‘तस्मात्’ नवाक्षस्य हुतशिष्टत्वसिद्धये ‘आग्रयणेष्ट्या’ यष्टव्य  
 मित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ याज्ञवल्क्याभिमतं प्रयोजनं दर्शयितुं प्रसीति—“तदु  
 होवाचेति । तत्रेतिहासमाचष्टे—“दिवाधेति । ‘प्राजापत्याः’  
 प्रजापतेः पुत्राः ‘पसृधरे’ स्वर्गां कृतवन्तः । “अपसृधेया  
 मानृचुः”—इति ‡ क्वचित् सम्प्रसारणेन निपातनस्यैव लक्षणार्थ-  
 त्वात् लित्यपि सृधेः सम्प्रसारणम् । “उभयीरोषधीरिति ।  
 उभयविधा ह्योषधयः,— द्युष्यान्नभूता व्रीहियवाद्याः, पञ्च-  
 न्नभूतास्तुणाद्याश्च, ताः सर्वाः ‘कृत्येव त्वत्’ त्वच्छब्द एकशब्द-  
 पर्यायोऽविभक्तिकः । ‘त्वत्’ एकत्र ‘कृत्या’ व्यापादयन् ‘इव’,  
 ‘त्वत्’ अन्यत्र ‘विषेण’ च ‘प्रलिलिपुः’ प्रकषेण लिप्ता अकुर्वन् ।  
 लेपनाभिप्रायमाह—“उतैव मिति । ‘एवम्’ अपि ‘देवान्’  
 ‘अभिभवेम इति’ तिरस्कुर्वामेति । ‘ततः’ अनन्तरम् असुर-

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. १ ।

† पा० सू० २. ३. ६६ ।

‡ पा० सू० ६. १. ३६ ।

कृतं विपलेपं ज्ञात्वा 'मनुष्या.' 'न आशुः' न बुभुक्षिरे, 'पशवश्च'  
'न' भक्षयाञ्चक्रुः । केवलम् 'अनाशकेन' अनशनेन \* 'ता इमाः'  
सर्वाः 'प्रजाः' 'पराबभूवुः' पराभूता अभवन् ॥ २ ॥

“तद्दे देवाः शुश्रुवुरिति । देवाश्च तत्सर्वं माकर्ण्य केनोपायेन  
असुरकृतं सुपद्रवं परिहरामिति विचार्य, यज्ञेनेवेति निश्चित्य,  
'एषां' मनुष्यादीनां 'यत्' 'कल्पं' कल्पनीयं सम्पाद्यम् 'आस'  
तत् अकल्पयन् । न केवलं देवा एव, 'ऋषयः' अप्येव मेव  
अकल्पयन् ॥ ३ ॥

“ते हीचुरित्यादि । प्रजानां मशनक्तृप्तिसाधनम् 'इदं', 'नः'  
अस्माकं मध्ये 'कस्य भविष्यति ?' 'इति' विचारिते 'ते' सर्वे देवाः  
'मम' इदं— 'मम' इदम् 'इति' 'न सम्पादयाञ्चक्रुः' सम्पादनं  
नासादितवन्तः । 'ते' च देवाः इत्थं परस्परं विप्रतिपत्तिं प्राप्य  
'आजिम्' आजिधावनम्, तत्रासुरपायं मेवाकल्पयन् । आजि-  
र्नाम गन्तव्यावधिभूतः पदार्थः, तम् ( अस्मिन् पदार्थे निष्पन्ने  
सति † ) 'अजामहे' धावाम । “अज गतिक्षेपणयोः”—इति ‡ ।  
तथा च 'नः' अस्माकं मध्ये 'यः' उज्जिष्यति, 'तस्य' 'इदं' 'हविः'  
'भविष्यति', 'इति' विचार्य, 'तथा' 'इति' अङ्गीकृत्य, 'तस्मिन्'  
विषये तं आजिधावनं कृतवन्तः ॥ ४ ॥

“ताविन्द्रानी इति । 'तौ' प्रसिद्धौ 'इन्द्राग्नी' आजिधावनेन  
तद्दिविः 'उदजयताम्' । यस्मादेवं तस्मादेव कारणात् 'अन्यान्'  
देवान् परित्यज्य आश्रयणेष्टौ प्रथमं हविः इन्द्राग्निदेवताकम्,  
द्वादशसु कपालेषु संस्कृतं पुरोडाशात्मकं भवति । अनेनाभि-

\* 'अनाशनेन'— इति च ।

† नास्तिषोऽशः च-पुस्तके ।

प्रायेण ऐन्द्राग्नयागः प्रथमः कर्त्तव्य इति विधिरुन्नीतो भवति ॥

वैश्वदेवचरुरूपं द्वितीयं हविर्विधातुं विश्वेषां देवानां माजि-  
सम्बन्धमाह— “यत्रेति \* । ‘यत्र’ यस्मिन् समये उज्जितवन्तौ  
‘इन्द्राग्नी’ ‘तस्थतुः’ । जयतेर्लिटः क्त्वासी “सन्लिटोर्जेः”—इति †  
अभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य क्तत्वम् । ‘तत्’ तस्मिन् समये विश्वे  
देवा नाम गणरूपा देवाः आगतवन्तः ॥ ५ ॥

वैश्वदेवस्य हविषः ऐन्द्राग्नानन्तर्यं कारणान्तरमाह— “क्षत्रं  
वा इति । देवेषु मध्ये ‘इन्द्राग्नी’ ‘क्षत्रं’ क्षत्रियजातिः, ‘विश्वे  
देवाः’ ‘विशः’ व्यैश्यजातिः । ‘यत्र’ खलु ‘क्षत्रं’ क्षत्रियो राज्या-  
दिकम् ‘उज्जयति’, ‘तत्र’ ‘विट्’ वैश्यजातिरपि ‘अन्वाभक्ता’  
भवति ; यस्मादेवं लोके, तस्मात् ताविन्द्राग्नी स्वर्षिणः ‘विश्वान्  
देवान्’ ‘अन्वाभजताम्’ अन्वाभक्तान् कुरुताम् । “तस्मादित्यादि,  
वैश्वदेवयागविधिः ॥ ६ ॥

तस्य यागस्य पुराणव्रीहिनिस्याद्यत्वं पूर्वपक्षत्वेन प्रतिपाद-  
यति— “तं वा इति । ‘पुराणानां’ पुरातनानां व्रीहीणां सम्ब-  
न्धिनं ‘तं’ वैश्वदेवं चरुं ‘कुर्यात्’ इति आहुः” अभिज्ञाः कथ-  
यन्ति ‡ । “क्षत्रं वा इति । तदुपपादनम्— “नेत् क्षत्र  
मिति । नैव क्षत्रियजातेरुपरि वैश्यजातिं तस्मत्त्वेन ‘आरो-  
हयाणि’ आरूढां करवाणीति ; सर्वथा हि क्षत्रियवैश्ययोर्वेषम्येन  
भवितव्यमित्यर्थः । प्रकारान्तरेण वैषम्यं दर्शयन्नुभयोरपि  
हविषोर्नवधान्यप्रकृतित्वमाह— “तौ वा उभावेव नवाना मिति ।

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. २ ।

† पा० ७. ३. ५७ ।

‡ “पुराणानां वा चरुः”— इति का० श्रौ० ४. ६. ७१

“यद्दीति । ‘यत्’ यतः तयोरन्यतरः पुरोडाशः, अन्यतरश्चरुः; ‘तेनेव’ वेलक्षणेन विशा ‘क्षत्रम् अनभ्यारुद्धम्’ क्षत्रियजाति-रनभ्यारुद्धा भवति । “तस्मादित्यादि, प्रतिज्ञापूरणार्थं निग-मनम् ॥ ७ ॥

अथ तस्या मेवाग्रयणीष्टौ तृतीयं द्यावापृथिव्यं हविर्विधातु माह— “त उ हेति । ‘विश्वे देवाः’ ‘जुचुः’ उक्तवन्तः । कथ मिति, नवधान्यरूपं हविः ‘अनयोः द्यावापृथिव्योः रसः’ इति प्रागुपपादितम् \* । ‘हन्त’-इत्यनुकम्पायाम् । ‘अस्मिन्’ नव-हविषि ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ वयम् ‘आभजाम’ प्रापयामेत्यर्थः । ते च ‘ताभ्यां’ द्यावापृथिवीभ्याम् ‘एतं’ हविर्भागम् ‘अकल्पयन्’, य एष द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशः, तम् । “तस्मादिति, द्यावापृथिव्ययागविधिः । तस्य द्यावापृथिव्यस्य हविषः एकस्मिन्नेव कपाले संस्कार मुपपादयति— “तस्येय मेवेति । ‘तस्य’ ‘इयं’ भूमिः ‘एव’ ‘कपालम्’ पुरोडाशप्रपणाधिष्ठानम्; ‘हि’ यस्मात् ‘इयम्’ ‘एकेव’ एकाकारा भवति, ‘तस्मात्’ तद्देवत्वः पुरोडाशोऽपि ‘एककपालः’ इति † ॥ ८ ॥

आज्येनैव द्यावापृथिव्योर्यागं विधित्सुः पुरोडाशपक्षे दोष मुपन्यस्यति— “तस्य परिचक्षेति । ‘तस्य’ एककपालस्य पुरो-डाशस्य काचित् ‘परिचना’ निन्दा विद्यते । ता मेव दर्श-यति— “यस्या इति । सर्वेषु हि यागेषु ‘स्विष्टकृद्’ यागः ‘अन्वा-भक्तः’ अनुप्राप्तोऽस्ति; “शेषात् स्विष्टकृत समवद्यति”—इतीष्टिष्ट-प्रतिपत्तित्वेन तस्य विहितत्वात् ‡ । अथैवं सति अत्रैककपालं

\* पुरस्तादिहैव २१६ पृ० ६ पं० द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. ४ । ‡ १ का० ६ प्र० १ ब्रा० द्रष्टव्यम् ।

पुरोडाशं 'सर्वं मेव \* जुहोति', हविरन्तरवत् खिष्टकृन्नाग्नेऽग्नेये 'न अवद्यति'; अतोऽस्येककपालस्य खिष्टकृन्नागाभावात् 'सा' एव 'परिचक्षा' निन्दा । दोषान्तर मध्याह्न— "उतो हुत इति । 'उत उ' अपि च अग्नी 'हुतः सन् एककपालः पुरोडाशः 'पर्यावर्त्तते' पर्यावर्त्तते ॥ ८ ॥

"तदाहुरिति । 'तत्' तत्र विषये 'आहुः' ब्रह्मवादिनः कथयन्ति । किं मिति— 'अयम्' 'एककपालः' 'पर्याभूत्' पर्याहृतोऽभूत्, तेन पर्यावर्त्तनेन 'राष्ट्रम्' एव पर्याहृतं सत् † 'मोक्षिष्यति' मूढं भविष्यतीति । इत इत्यत आह— "आहवनीय इति । आहवनीयो हि सर्वाहुतीना माधारभूतः । तत्प्राप्तेः पूर्वं पर्यावर्त्तने दोषः, तदुत्तरकालन्तु 'अपि' 'दश क्षत्वः' दशवारं 'पर्यावर्त्तते' । 'तत्' तत्र आदरो नैव कर्तव्यः । देवतोद्देशेन हविषः ‡ प्रक्षिप्तत्वादित्वभिप्रायः । तस्मात् खिष्टकृन्नागाभावकृत एव निन्दा परिशिष्यते, तत्परिहाराय पक्षान्तरमाह— "यदीति । 'यदि तु' 'अन्ये' शाखिनः 'वदन्ति', 'कः' नाम 'तत्' उक्तदोषसन्धानं कर्तुम् 'उपेयात्' उपगच्छेत् ? अतो दोषसहित एककपालपक्षः परित्याज्यः § । किन्तर्हि द्यावापृथिव्यस्य यागस्य द्रव्यम् ? , तदाह— 'तस्मादिति । यदेतत् ध्रुवास्थ माज्यं सर्वयज्ञसाधारणम्, तस्य 'आज्यस्य एव' सकाशात् चतुरवत्त मवदाय द्यावापृथिव्योर्यजेतेत्यर्थः ॥ । इमं मर्थं प्रशं-

\* 'सर्वं हुत मेव'— इति च, क् ।

† नास्म्येतत् पदं च-पुस्तके ।

‡ 'हविषश्चोदितदारे'— इति च, 'हविषश्चोदितधारे'— इति क्, ज ।

§ 'परित्याज्यः' इति च, क्, ज ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. ६. ६ ।



सति—“आज्यं हेति । “प्रत्यक्षं रस इति । आज्यस्य द्रवत्व-  
रूपयोगात् प्रत्यक्षरसत्वम् ; व्रीहियवादेशु धान्यस्य काठिन्यात्  
परोक्षत्वम् \* । “भिधेनेति । सारभूर्तनेत्यर्थः ।

निन्दाया उत्तरस्य प्रशंसार्थं मभिप्रेत्य कात्यायनेनेतत् पक्ष-  
हय मपि सूचितम्— “द्यावापृथिवीय एककपालः ०—० आज्यस्य  
वेति † । आपस्तम्बोऽपि— “अपि वैककपालेन कुर्वीत, आज्येन  
द्यावापृथिवी यजेत”-इत्युक्तवान् ॥ १० ॥

अस्या आग्रयणेऽत्रेनाश्रितदोषनिर्हरणहेतुत्वं प्रतिपादयितुं पुरा-  
हत्त मुदाहरति— “एतंनेति । ‘याश्च’ व्रीहियवाद्या ओषधीः  
‘मनुष्याः’ ‘उपजीवन्ति’, ‘याश्च’ ळणाद्याः ‘पशवः’ ‘उपजीवन्ति’,  
तासाम् ‘उभयीनाम् ओषधीनाम्’ इति सम्बन्धः । “कृत्या  
मिव त्वदिति । ओषधीषु कृत्या-विषादिकं यत् असुरैः प्रलिप्तम्,  
तदनेन यागेन देवा अपहृतवन्त इत्यर्थः । “तत इत्यादि । ततो  
देवैरन्नस्य निर्दोषकरणात् ‘मनुष्याः’ ‘आश्वन्’ अभुञ्जत, ‘पशवश्च’  
ळणादिकम् ‘आलिशन्त’ अभक्षयन् । “लिश अस्पीभावे”-इत्ययं  
धातुः‡, अत्र ळणादेरस्पीभवनहेतौ भक्षणे वर्तते ॥ ११ ॥

एवं पुराहत्त मुदाहृत्य दृष्टान्तेनेदानीन्तनानुष्ठानेऽपि नवान्ना-  
श्रितदोषनिर्हरणहेतुत्वं प्रतिपादयति— “अथेति । ‘अथ’ इदानीं  
‘यत्’ यस्मात् कारणात् ‘एषः’ यजमानः ‘एतेन’ आग्रयणेन  
‘यजते’ । ‘अह’, ‘नु’, ‘एव’-इति त्रयो निपाता अवधारणार्थाः ।  
‘तत्’ तस्माद्देव कारणात् ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘तथा’ तथैव ओष-  
धीषु कृत्याया विषेण च न कोऽपि द्वेषा ‘प्रलिम्पति’ प्रक्षेपयति ।

\* ‘काठिन्यपरोक्षत्वम्’- इति च । † का० श्रौ० सू० ४. ६. ४-६ ।

‡ दि० व्या० ७३ धा० ।

“क्षिप उपदेहे”—इति \* धातुः । “शे मुचादीनाम्”—इति † नुम् । “देवा इत्यादि । ‘देवाः’ खलु पुरा ‘इति’ एवम् ‘अकुर्वन्’, ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘इति त्वेव’ एव मेव तु ‘करोति’ । एतदेव विद्वणोति— “य मु चैवेति । “अनमीवा अक्लिषा इति । अनमीवा रोगाः, तद्रहिताः ; किल्बिषं रोगनिदानं पापम्, तद्रहिताश्च ‘कुरुते’ । “ता अस्वेति, प्रयोजनाम्वाख्या-नम् ॥ १२ ॥

दक्षिणां विधत्ते— “तस्य प्रथमज इति । ‘तस्य’ आग्र-यणस्य ‘प्रथमजः’ तस्मिन् संवत्सरे यजमानस्य गोष्ठे यो वक्षो जायते, सः ‘गौः’ अस्य यागस्य दक्षिणात्वेन देय इत्यर्थः ‡ । कुत इत्यत आह— “अग्र मिवेति § । अग्रे भवम् अग्रि-यम् । “अग्राद् यद्, घ-क्वी च”—इति ॥ । ‘इदम्’ आग्रयणाख्यं ‘हि’ हविः ‘अग्रम्’, प्रथमजो वत्सश्चाग्रः ; अतस्तस्याग्रयणदक्षि-णात्वं मुचित मिति ।

ईजानानीजानयोराग्रयणविषयां व्यवस्थां दर्शयति— “स यदिति । ‘यद्’ यदि ‘सः’ यजमानः ‘ईजानः’ सोमयागेनेष्टवान् ‘स्यात्’ । यजेर्लिटः कानच् । केवलं हविर्यज्ञयाजी सन् ‘दर्शपूर्णमासाभ्याम्’ एव ‘यजेत’, ‘अथ’ अनन्तर मेव ‘एतेन’ आग्र-यणेन ‘यजेत’, न प्रागित्यर्थः ¶ । किन्तर्हि तदा कुर्यादिति,

\* तु० उ० १५२ घा० ।

† पा० सू० ७. १. ५६ ।

‡ का० औ० सू० ४. ६. ८ ।

§ ‘अग्रिय मिवेति’— इति च, क् । एष एव पाठः सायणसम्मतो गम्यते ; घक्वी चेति सूत्रस्यापीहोक्तेखदर्शनात् ; परं सर्वमूलपुस्तकविरुद्धः ।

॥ पा० सू० ४. ४. ११६. ११७ । ¶ का० औ० सू० ४. ६. १० क ।

तदाह—“यद्यु इति । यदि तु दर्शपूर्णमासादिभिः ‘अनीजानः’ अनिष्टवान् ‘स्यात्’, तदा स यजमानः ‘चातुष्प्राश्यं’ चतुर्भिः ब्राह्मणैः प्राशितव्यं ‘तम्’ ‘ओदनम्’ अन्नं दक्षिणाम्नी पक्त्वा, ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् \* ; ‘ब्राह्मणाः’ च ‘तम्’ ‘अग्नीयुः’ भुञ्जीरन् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणभोजनस्यापि यागोत्पादकत्वं सुपपादयति— “इया वा इति । “अह्वेवेति, हावपि निपातावधारणार्थं । ‘शुश्रुवांसः’ शुश्रुवन्तः, बहुश्रुतार्था इत्यर्थः ; ‘अनूचानाः’ अनुमतानुष्ठानपराः, य एवङ्गुणाः, ‘ते’ मनुष्यदेवाः’ मनुष्यरूपा देवाः । ‘तत्’ तथा सति ‘यथा’ वषट्कारेण देवेभ्यो दत्तम्, स्वाहाकारेण ‘हुतं’ च भवति, एव मेव ‘अस्य’ अनीजानस्य यजमानस्य ‘एतत्’ ब्राह्मणभोजनं भवतीत्यर्थः † ॥

यागे इव भोजनेऽपि दक्षिणादानं विधत्ते— “तन्नो इति । ‘तत्र’ ब्राह्मणभोजनकालेऽपि ‘यत्’ किञ्चित् दातुं ‘शक्नुयात्’, ‘तत्’ दद्यात्; ब्राह्मणेभ्यो दत्तं ‘हविः’ ‘अदक्षिणं’ दक्षिणारहितं ‘न स्यात्’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ‡ ॥

केचित्त्वाग्रयणेष्टावधिकृतस्यानीजानस्य नवधान्येनाग्निहोत्रहोममभिधीयते । अत एव सूत्रितं कात्यायनेन— “नके सायम्प्रातरग्निहोत्रहोमः”—इति § । आपस्तम्बेनाप्युक्तम्— “अपि वा नवानां यवानां सायम्प्रातर्जुहुयात्”—इति । तदन्तरिराकरोति— “नाग्निहोत्र इति । अग्निहोत्रकर्मणि नवं

\* ‘दत्त्वा’— इति छ । † का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ख ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ग ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ६. ११ ।

॥ ‘भवं’— इति च ।

हविर्न जुहुयात् । 'यद्' यदि 'जुहुयात्', तदा इन्द्रास्यादीना  
 आग्रयणदेवताना मग्निहोत्रदेवगणेः \* सह 'समदं' कलहं 'कुर्यात्' ।  
 असमुच्चयहेतुभूतं पृथक्त्वं दर्शयति — "अन्यदा इति । 'आग्र-  
 यणम्' आग्रयणाख्यं कर्म, अग्निहोत्रात् 'अन्यत्'; 'अग्नि-  
 होत्रं' त्वाग्रयणात् 'अन्यत्'; इति एतत्प्रकरणभेदात् नामधेय-  
 भेदाच्चावसितम् । शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यागुणनामधेयानि इह कर्म-  
 भेदे प्रमाणत्वेन जैमिनिनोपन्यस्तानि † ॥ १४ ॥ ५ [ ४. ३. ]

इति त्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे तृतीयः प्रपाठकः ‡ ॥

\* 'मग्निहोत्रदेवतया'— इति च ।

† "शब्दान्तरे कर्मभेदः ( २. २. १. )"— इत्यादीनि सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

‡ "कण्डिकासङ्ख्या ११३"— इति क, "यजुः ११३"— इति ग, घ-ङयोः  
 कवत् । तत्र १ ब्रा० २० क०, २ ब्रा० ४१ क०, ३ ब्रा० १४ क०, ४ ब्रा०  
 ९४ क०, ५ ब्रा० १४ क० . सङ्कलनया ११३ सिद्धम् ॥

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

प्रजापतिर्ह वा ऽएतेनाग्रे यज्ञेनेजे । प्रजा-  
कामो बहुः प्रजया पशुभिः स्यात् श्रियं गच्छेयं  
यशः स्या मन्नाद्ः स्या मिति ॥ १ ॥

स वै दक्षो नाम । तद्यदेनेन सोऽग्रेऽयजत  
तस्माद्वाचायणयज्ञो नामोतैन मेके व्वसिष्ठयज्ञ  
इत्याचक्षत ऽएष वै व्वसिष्ठ एत मेव तदन्वाचक्षते  
स एतेन यज्ञेनेजे स एतेन यज्ञेनेष्टा येयं प्रजापतेः  
प्रजातिर्या श्रीरेतद् बभूवैतात् ह वै प्रजातिं  
प्रजायत ऽएतात् श्रियं गच्छति य एवं व्विद्वानेतैन  
यज्ञेन यजते तस्माद्वा ऽएतेन यजते ॥ २ ॥

तेनो ह तत ईजे । प्रतीदर्शः प्रवैक्रः स ये तं \*  
 प्रत्यासुस्तेषां विवचन मिवास विवचन मिव † ह वै  
 भवति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत ॥ ३ ॥

त माजगाम । सुप्ता सार्ज्जथो ब्रह्मचर्यं  
 तस्मादेतञ्च यज्ञ मनुचेऽन्य सु च सोऽनूच्य पुनः  
 सृञ्जयान् जगाम ‡ ते ह सृञ्जया विदाञ्चक्रुर्यज्ञं वै  
 नोऽनूच्यागन्निति ते होचुः सह वै नस्तद्देवैरागन्यो  
 नो यज्ञ मनुच्यागन्निति स वै सहदेवः सार्ज्जयस्तदु-  
 प्येतन्निवचन § मिवास्त्यन्यद्वा ऽअरे सुप्ता नाम दध  
 ऽइति स एतेन यज्ञेनेजे स एतेन यज्ञेनेष्टा येयत्  
 सृञ्जयानां प्रजातिर्य्या श्रीरेतद् बभूवैतात् ह वै प्रजा-  
 तिं प्रजायत ऽएतात् श्रियं गच्छति य एवं विद्वाने-  
 नेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ ४ ॥

\* 'स एतं'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेवरः । 'सु ये तुं'—  
 इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'मिव'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेवरः ।

‡ 'सृञ्जयाजगाम'— इति क, ग ।

§ 'निर्वचन'— इति पाठः सा०-सम्मत इति डा० वेवरः ।

तेनो ह तत् ईजे । देवभागः श्रौतर्षः स उभ-  
 येषां कुरुणाञ्च सृञ्जयानाञ्च पुरोहित आस परमता  
 वै सा यो न्वेवैकस्य राष्ट्रस्य पुरोहितोऽसत्सा न्वेव  
 परमता किं सु यो द्वयोः परमता मिव ह वै  
 गच्छति य एषं श्विदानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत ॥ ५ ॥

तेनो ह तत् ईजे । दक्षः पार्व्वतिस्तु ऽद्वमेऽप्ये-  
 तर्हि दाक्षायणा राज्य मिवैव प्राप्ता राज्य मिव ह  
 वै प्राप्नोति य एवं श्विदानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत स वा ऽएकैक एषानूचीनाहं पुरो-  
 डाशो भवत्येतेनो हास्यासपत्नानुपबाधा श्रीर्भवति  
 स वै हे पौर्णमासी यजते हे ऽअमावाख्ये हे वै मिथुनं  
 मिथुनं मेवैतत् प्रजननं क्रियते ॥ ६ ॥

अथ यत् पूर्व्वदुः । अग्नीषोमीयेण यजते  
 पौर्णमास्यां ते हे देवते हे वै मिथुनं मिथुनं मेवैतत्  
 प्रजननं क्रियते ॥ ७ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्रं  
 सान्नाय्यं ते हे देवते हे वै मिथुनं मिथुनं मेवैतत्  
 प्रजननं क्रियते ॥ ८ ॥

अथ यत् पूर्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां  
ते हे देवते हे वै मिथुनं मिथुन मेवैतत् प्रजननं  
क्रियते \* ॥ ९ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति  
मैत्रावरुणौ पयस्या नेद्यन्नाद्यानीति न्वेवाग्नेयः  
पुरोडाशोऽथैतावेव मित्रावरुणौ हे देवते हे वै मिथुनं  
मिथुन मेवैतत् प्रजननं क्रियत ऽएतद् दृष्ट्वा तद्रूपं  
येन बहुर्भवति येन प्रजायते ॥ १० ॥

अथ यत् पूर्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
पीर्णमास्यां य मेवामु मुपवसथेऽग्नीषोमीयं पशु मालु-  
भते स एवास्य सः † ॥ ११ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्येन्द्रो  
सान्नाय्यं प्रातःसवनं मेवास्याग्नेयः पुरोडाश  
आग्नेयश्चि प्रातःसवनं मथैन्द्रो सान्नाय्यं  
माध्यन्दिनं मेवास्य तत्सवनं मैन्द्रोश्चि माध्य-  
न्दिनं सवनम् ॥ १२ ॥

अथ यत् पूर्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमा-

\* 'क्रियते'— इति क, 'क्रियते'— इति ग ।

† 'सः'— इति घ, ङ ।



वाच्यायां तृतीयसवनमेवास्य तद्वैश्वदेवं वै तृतीय-  
सवनमिन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः \* ॥ १३ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रा-  
वरुणौ पयस्त्र्या नेद्यज्ञादुयानीति न्वेवाग्नेयः पुरो-  
डाशोऽथ या मेवामं मैत्रावरुणीं व्वशा मनूबन्ध्या  
मालभते सैवास्व सैवावरुणौ पयस्त्र्या स पौर्णमासेन  
चामावास्त्रेण चेष्टा यावत्सौम्येनाध्वरेणेष्टा जयति  
तावज्जयति तद्दु खलु महायज्ञो भवति ॥ १४ ॥

अथ यत् पूर्वेषुः । अग्नीषोमीयेण यजते  
पौर्णमास्या मेतेन वा ऽइन्द्रो वृत्रं महन्नेनो ऽएव  
व्यजयत् यास्त्रेयं व्विजितिस्तां तथो ऽएवैष एतेन  
पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो ऽएव व्विज-  
यतेऽथ यत् सन्नयत्यामावास्त्रं वै सान्नाय्यं दूरे तद्  
यदमावास्त्रेति क्षिप्रं ऽएवैतद्दृचं जघ्नुषि त मेतेन  
रुसेनाप्रौणन् क्षिप्रे ह वै पाप्मानं मपहते य एवं  
व्विद्वान् पौर्णमास्यां सन्नयत्येष वै सोमो राजा  
देवानां मन्नं यच्चन्द्रमास्त मेतत् पूर्वेषु रभिषु खन्ति  
प्रातर्भक्षयिष्यन्तस्त मेतद्भक्षयन्ति यदपक्षीयते † ॥ १५ ॥

\* 'देवाः'— इति घ, ङ ।

† 'ते'— इति घ, ङ ।

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
 पौर्णमास्या मभिषुणोत्येवैन मेतत्तस्मिन्नभिषुत ऽएतत्  
 रसं दधात्येवैतेन रुसेन तीव्रीकरोति स्वदुयति ह वै  
 देवेभ्यो हव्यं स्वदते हास्य देवेभ्यो हव्यं य एवं  
 विद्वान् पौर्णमास्यां सन्नयति ॥ १६ ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावा-  
 स्यायां दर्शपूर्णमासयोर्व्वे देवते स्त इन्द्राग्नी ऽएव ते  
 ऽएवैतदुञ्जसा प्रत्यक्षं यजत्युञ्जसा ह वा ऽअस्य  
 दर्शपूर्णमासाभ्या मिष्टं भवति य एव मेतद्  
 वेद् \* ॥ १७ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति  
 मित्रावरुणौ पयस्या नेद्यन्नादयानीति न्विवाग्नेयः  
 पुरोडाशोऽथैतावेवार्द्धमासौ मित्रावरुणौ य एवा-  
 पूर्य्यते स अवरुणो योऽपक्षीयते स मित्रस्तावेतां  
 रात्रि मुभौ समागच्छतस्तदुभावेवैतत् सह † सन्तौ  
 प्रीणाति सर्व्वं ह वा ऽअस्य प्रीतं भवति सर्व्वं मासं  
 य एव मेतद्देद् ॥ १८ ॥

\* 'वेद्'— इति ग, 'वेद'— इति घ, ङ ।

† 'वैवैतच्छ'— इति पाठश्च दृष्टो डा० वेदरेण ।

तद्वा ऽएतां रात्रिम् \* । मित्रो व्वरुणे रेतः  
सिञ्चति तदेतेन रेतसा प्रजायते यदापूर्य्यते तद्यदे-  
षान्न मैत्रावरुणी पयस्यावक्लृप्ततमा भवति ॥ १९ ॥

सान्नाय्यभाजना वा ऽअमावास्या । तद्ददस्तु  
पौर्णमास्यां क्रियते स यद्वावापि सन्नयेज्जामि  
कुर्यात् समदं कुर्यात् तदेन मद्भ्य ओषधिभ्यः  
सम्भृत्याहुतिभ्योऽधिजनयति स एष आहुतिभ्यो  
जातः पश्चाद्दृष्टे ॥ २० ॥

मिथुनादिद्वा ऽएन मेतत् प्रजनयति । योषा  
पयस्या रेतो व्वाजिनं तद्वा ऽअनुष्ठ्या † यन्मिथुना-  
ज्जायते तदेन मेतस्मान्मिथुनात् प्रजुननात् प्रजनयति  
तस्मादेषान्न पयस्या भवति ॥ २१ ॥

अथ व्वाजिभ्यो व्वाजिनं जुहोति । ऋतवो  
वै व्वाजिनो रेतो व्वाजिनं तदनुष्ठयेवैतद्रेतः‡ सिञ्चते  
तद्दृतवो रेतः सित्तु मिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति  
तस्माद्वाजिभ्यो व्वाजिनं जुहोति ॥ २२ ॥

\* 'रात्रि'— इति घ-ङ्योरपि ।

† 'अनुष्ठ्या'— इति ग ।

‡ 'तदनुष्ठयेवैतद्रेतः'— इति क, ग ।

स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति । पश्चाद्  
वैपरीत्य वृषा योषा मधिद्रवति तस्याः रेतः  
सिञ्चति स वै प्रागेवाग्रे जुहोत्यग्ने व्विहीत्यनु-  
वषट्करोति तत् स्विष्टकृद्वाजन् स वै प्रागेव  
जुहोति ॥ २३ ॥

अथ दिशो व्याघारयति । दिशः प्रदिश आदिशो \*  
व्विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहेति पञ्च दिशः पञ्च-  
र्त्तुवस्तद्वतुभिरेवैतद्दिशो मिथुनीकरोति ॥ २४ ॥

तद्वै पञ्चैव भक्षयन्ति । होता चाध्वर्युश्च ब्रह्मा  
चाग्नीच्च यजमानः पञ्च वा ऽऋतवस्तद्वतूना मेवै-  
तद् रूपं क्रियते तद्वतुष्वेवैतद् रेतः सिक्तं प्रतिष्ठा-  
पयति प्रथमो यजमानो भक्षयति प्रथमो रेतः परि-  
गृह्णानीत्ययो ऽअप्युत्तमो मय्युत्तमे रेतः प्रतिष्ठा-  
दित्युपहृत उपह्वयस्त्रेति सोम मेवैतत् कुर्वन्ति  
॥ २५ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ४. ४. ] ॥

आहन्निगुणविक्रतो दर्शपूर्णमासयागप्रयोग एव दाचायण-  
यज्ञः, तं विधित्पुराख्यायिका माह— “प्रजापतिरिति ।

\* ‘आदिशो’— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

‘एतेन’ वक्ष्यमाणेन दाक्षायणनामकेन यज्ञेन \* ‘प्रजापतिः’ अहम् अविज्ञत एव सन् देवमनुष्यादिरूपया ‘प्रजया’, गवादिभिः ‘पशुभिः’ च ‘बहुः’ बहुविधः ‘स्याम्’ भवेयम्, उत्पन्नानां प्रजादीना मशनाथं ‘अयं’ सम्पदं गच्छेयं प्राप्नुयाम्, ततोऽहं ‘यशः’ यशस्वी ‘स्याम्’, ‘अन्नादः’ भवेयम् ‘इति’ । एव मेते दाक्षायणयज्ञं कृतवतः प्रजापतेः कामाः, तत इदानी मपि तादृश्विधकामनायुक्त एव दाक्षायणयज्ञेऽधिक्रियत इत्यर्थः † ॥ १ ॥

तन्नाम निर्ब्रूते— “स वा इति । ‘सः’ खलु प्रजापतिः ‘दक्षो नाम’ अभवत्, तेन प्रथम मिष्टवान्, ‘तस्मात्’ ‘दाक्षायणयज्ञः’ इत्युच्यते । नामान्तर मपि कथयति— “उतेन मिति । ‘उत’ अपि च ‘एनम्’ ‘एके’ शाखिनः ‘वसिष्ठयज्ञ इति’ व्यवहरन्ति । ‘एषः’ एव खलु प्रजापतिः ‘वसिष्ठः’ नान्यः ; सर्वश्रेष्ठत्वात् । ‘एत मेव’ दाक्षायणयज्ञं ‘तत्’ तत्र वसिष्ठयज्ञ इति ‘अन्वाचक्षते’ । “एतेनेति । ‘सः’ दक्षशब्दवसिष्ठशब्दवाच्यः प्रजापतिः तच्छब्देन परामृश्यते । “एतद्बभूवेति । ‘एतत्’ एतर्हि ‘येयं’ ‘प्रजापते’ सकाशात् ‘प्रजापतिः’ प्रजाना मुत्पत्तिः ‘बभूव’, ‘या’ च ‘श्रीः’ निरतिशया प्राजापत्यपदरूपा सम्भूत ‘बभूव’ ‡ । “एता मित्यादि । ‘यः’ ‘विद्वान्’ एतदनुष्ठानस्य फलं जानानः । ‘तस्मात्’ दाक्षायणयज्ञफलकामः ‘एतेन’ ‘यजेत’ ॥ २ ॥

\* “नामफलगुणयोगात् कर्मान्तरम्, गुणविधानं वा सन्निधिसम्बद्धचतुर्भ्याम्”— इति का० श्रौ० सू० ४. ४. २. ३ । श० ब्रा० ११. १. २. १० दर्शनात् सान्निध्यम्, ११. १. २. १३ दर्शनाच्च सम्बद्धचतुर्भ्याम् ।

† “दाक्षायणयज्ञः प्रजापत्यन्नकामस्य”— इति का० श्रौ० सू० ४. ४. १ ।

‡ विशेषतस्त्रिहोपरिष्ठाद् ( ११. १. २. १३. ) द्रष्टव्यम् ।

विहितस्य यागस्य फलान्तरहेतुत्व मपि परकृत्युपन्या-  
 सेन दर्शयति— “तेनो हेति । ‘श्वेक्तः’ श्विक्तस्य पुत्रः , नाम्ना  
 ‘प्रतीदर्शः’ । “उपसर्गस्य घञमनुष्ये बहुलम्”— इति † बहुल-  
 ग्रहणात् मनुष्यवाचित्वेऽपि घञन्त उत्तरपदे उपसर्गस्य दीर्घः ।  
 “स एत ऋ मिति । ‘एतं’ प्रतीदर्शम् । ‘सः’ इति व्यत्ययेनैक-  
 वचनम् । ते तत्रत्या जनाः ‘प्रत्यासुः’ केनचित्कारणेन प्रति  
 चिन्तिपुः । “असु क्षेपणे ‡”—इत्यस्माद्धिट् । तेन च दाचायण-  
 यज्ञेनेष्टे सति ‘तेषां’ जनानां ‘विवचनं’ विशिष्टवचनं पक्षपात-  
 वचनम् ( ‘इव’ ) एव ‘आस’ बभूव , अस्मिन् बहुमानं कृतवन्त  
 इत्यर्थः । तद्वृत्तान्तेनेदानीं विद्वदनुष्ठानस्यापि तत्फल माह—  
 “विवचन मिव ह वा इति ॥ ३ ॥

पुनरप्यस्य यज्ञस्य विशिष्टफलान्तरहेतुत्वं प्रतिपादयितु  
 माख्यायिकया परकृति मुदाहरति— “त माजगामेति । ‘तं’  
 प्रतीदर्शं मुपदेशृत्वेनोपासीदन्, सृञ्जयपुत्रः ‘सुप्ला’ नाम ‘ब्रह्मचर्यम्’  
 ‘आजगाम’ प्राप्तवान् । ‘तस्मात्’ तदुपदेशुः प्रतीदर्शात् ‘एतं’  
 दाचायणयज्ञम् ‘अन्य सु’ अन्य मपि ‘त्त’ ‘यज्ञम्’ ‘अनूचे’ ।  
 ‘सः’ सार्ज्जयः ‘एतम् अनूच्य’ ‘पुनः’ ‘सृञ्जयान्’ तदाख्यानं जन-  
 पदान् ‘जगाम’ ; ‘ते’ च ‘एनं’ ‘विदाञ्जुः’ ज्ञातवन्तः ।  
 “उषविदजागृथोऽन्यतरस्याम्”—इति § लिट्याम् प्रत्ययः । कथ  
 मिति, तदाह— “यज्ञ मिति । ‘नः’ अस्मदर्थं ‘यज्ञम्’ ‘अनूच्य’

\* पा० सू० ६. ३. १२२ ।

† ‘स ये त’—इत्येव पाठोऽस्मदृष्ट-सर्वमूलपुस्तकेषु ।

‡ दि० प० १०३ धा० ।

§ पा० सू० ३. १. ३८ ।

अधीत्य 'आगन्' आगतोऽभूत् । गमेर्लुङि "मन्वे घस"—इति ०  
 चूर्लुक्, "हल्ज्याभ्य"—इति १ ति-लोपः, "मो नो धातोः"—  
 इति ३ नत्वम् । 'इति' ज्ञात्वा ते सृञ्जया अब्रुवन्,— 'नः' अस्म-  
 दर्थं यः 'यज्ञम्' अधीत्यागमत्, 'सः' तस्मिन्भिः देवैः सह  
 अगमदिति । ततः प्रभृति 'सः' 'सार्ज्यः' 'सहदेवः' इति सञ्जया  
 प्रसिद्धोऽभवत् ।

'तत्' तस्मात् कारणात् 'एतत्' एतर्हि, इदानीं मपि  
 ( 'निवचनं' ) निर्वचनं निरन्तरं वचनम् 'अस्ति' व्यवहारो  
 लोके § विद्यते । वचनस्य स्वरूपं दर्शयति— "अन्यथा इति ।  
 पूर्वं हि सार्ज्यः 'सुप्रा नाम' अभवत्, अधुना तु देवैः महागम-  
 नात् 'सहदेवः' 'इति' 'अन्यत्' नाम 'दधे' धारितवान् 'इति' ।  
 'सः' च सार्ज्यः स्वजनपदेषु 'एतेन' दाक्षायण्यज्ञेन 'ईजे' इष्ट-  
 वान् । "स एतेन यज्ञेनेष्टा"—इत्यादि, एतस्य सार्ज्यस्य फल-  
 प्राप्तिकथनम् ।

"एतां ह वै प्रजाति मिति, इदानीन्तनस्य विदुषोऽनु-  
 ष्ठातुः फलम् । "तस्माद्वा एतेनेति । यस्मात् सृञ्जयसम्बन्धि  
 प्रजात्यादिक मपि दाक्षायण्यज्ञफलम्, तस्मादपि कारण-  
 दित्यर्थः ॥ ४ ॥

इतोऽपि दाक्षायण्यज्ञोऽनुष्ठेय इत्यभिप्रेत्यान्यां परकृति सुप-  
 न्यस्यति— "तेनो हेति । 'ततः' सार्ज्यानुष्ठानान्तरं 'तेन'  
 दाक्षायण्यज्ञेन 'श्रीतर्षः' श्रुतर्षः पुत्रो 'देवभागः' नाम महर्षिः  
 'ईजे' इष्टवान् । 'सः' च तेन यागेन 'कुरुणां च सृञ्जयानां च'

\* पा० सू० २, ४, ८० ।

† पा० सू० ६, १, ६८ ।

‡ पा० सू० ८, २, ६४ ।

§ 'व्यवहारलोके'— इति च, क ।

राज्ञा मुभयविधाना मपि 'पुरोहितः' बभूव । पौरोहित्यस्य फलरूपता माह—“परमता वा इति । 'धा' खलु 'एकस्य' अपि 'राष्ट्रस्य' 'पुरोहितः' 'असत्' भवति, 'सा' खलु 'परमता' उक्कृष्टता, तस्य सर्वश्रेष्ठं भवतीति यावत् ; 'यः' तु 'द्वयोः' राष्ट्रयोः पुरोहितो भवति, केव खल्वतिशयिता परमतेति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । इदानीन्तनविहदनुष्ठानस्यापि तत्फलमाह—“परमता मिवेति ॥ ५ ॥

फलान्तरप्रतिपादनायऽन्यां परकृतिमुपन्यस्यति—“तनो ह तत ईज इति । पर्वतो नाम कश्चित्, तस्य पुत्रः 'पार्वतिः', 'दत्तः', स एतेनेष्टा राज्यं प्राप्नोत् । ततः 'एतर्हि' इदानी मपि 'दात्रायणाः' तत्त्वानभूता राजानः 'राज्यं प्राप्ताः' एव भवन्ति । 'राज्यं मिव ह वा इति, अनुष्ठातुः फलम् ।

अत्र हि दात्रायण्यन्नसम्पद्भूते हे पौर्णमास्ये हेऽमावास्ये यजेतेति दर्शपूर्णमासयोरुत्तिं वक्ष्यति \* । तत्र पौर्णमास्यां ही पुरोडाशी,— आग्नेयोऽग्नीषोमीयश्च ; अमावास्याया मपि ही,— आग्नेय ऐन्द्राग्नेश्च । तयोः प्रत्यह मेकैकशोऽनुष्ठानमाह—“स वा इति । 'अनूचीनाह' प्रत्यहम् 'एकैक एव' 'पुरोडाशो भवति' पूर्वस्मिन् पूर्णमासप्रयोगे एक एव पुरोडाशः कर्तव्यः, उत्तरस्मिन् दिनेऽप्येकः पुरोडाशः प्रयोक्तव्यः । तत्राग्नीषोमीयी हावप्येकस्मिन्नित्यर्थः † । एवं दर्शप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम् । एकैकशोऽनुष्ठानस्य फलमाह—“एतनो हास्येति । 'असपत्नानुपवाधा' सपत्नैः शत्रुभिरवाधिता ।

\* “अत्र ह्येव सा सम्पत् सम्पद्यते, हे हि पौर्णमास्यौ यजेते हे अमावास्ये, अत्रो एव खलु सा सम्पद् भवति”—इति उपरिष्ठाद् ११ का० १, २, १३ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, ६ ।



प्रकृतगोरेव दर्शपूर्णमासयोर्योऽय माहृत्तिलक्षणे गुणः  
फलायाभिधीयत इत्यवादिष्य, त मिदानी' विधत्ते— “स वा  
इति । हित्सङ्ख्यां प्रशंसति— “हे वै मिथुन मिति ॥ ६ ॥

पूर्वस्यां पौर्णमास्या मनुष्ठेयं यागं विधाय प्रशंसति— “अथ  
यत् पूर्वेद्युरिति । “ते हे देवते इति । अग्नीषोमयोर्व्यासक्तयो-  
रेव देवतात्वात् अधिष्ठानहित्वापेक्षया देवतयोर्हित्वं मन्त-  
व्यम् ॥ ७ ॥

परस्मिन्नहनि यागद्वयं विधत्ते— “अथ प्रातरिति । पूर्वेद्यु-  
रग्नीषोमीयेषेष्टा परेद्युः प्रातः काले आग्नेयपुरोडाशकयागः  
प्रथमं कर्त्तव्यः, तत इन्द्रदेवताकं सान्नाय्यं दधि प्रयोक्तव्यम् \* ।  
एतद् यागद्वयं सम्भूय प्रशंसति— “ते हे इति ॥ ८ ॥

अमावास्याप्रयोगेऽपि पूर्वेद्युः कर्त्तव्य माह— “अथ यत्  
पूर्वेद्युरिति । प्रशंसति— “ते इति । अग्नीषोमीयवदत्रापि  
देवताहित्वं मवसेयम् † ॥ ९ ॥

परेद्युरनुष्ठेयं यागद्वयं विधाय प्रशंसति— “अथ प्रातरिति ।  
'मैत्रावरुणी' मित्वावरुणदेवताका, पयसो विकृतिः 'पयस्या' ‡ ;  
तप्तं हि पयो दध्ना संस्कृतं सत् पयस्या भवति § । “नेद्यज्ञादि-  
त्यादि । 'यज्ञात्' प्रकृताद् यागात् 'नित्' नेव 'अयानि' वियुक्ता  
गच्छानि 'इति' अग्नेनेवाभिप्रायेण आग्नेयः 'पुरोडाशः' क्रियते ;  
न तु पूर्णमासप्रयोगवान् देवतयोर्हित्वसम्प्रादनाय । यतः पयस्या-

\* “सान्नाय्यवत् प्रातः— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ६ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, ५ ।

‡ “अमावास्यायां पयस्या मैत्रावरुणी— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ७ ।

§ “भृते वा दधानयति— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ८ ।

भाजौ 'मित्रावरुणी' स्त एव 'ई देवते' अत इत्यर्थः । गत मन्वत् । "एतद् दु हास्येति । येन रूपेणानुष्ठाता प्रजया पशु-  
भिश्च 'बहुः' बहुविधो भवति । 'एतत्' एव मिथुनात्मकं हित्वम्  
'अस्य' यज्ञस्य 'तद्रूपम्' इत्यर्थः ॥ १० ॥

अस्य दाक्षायणयज्ञस्य सोमयागरूपतां प्रतिपादयति—  
"अथ यदित्यादिना । "अमु सुपवसथ इति । सुत्यादिवसात्  
पूर्वं महारूपवसथः । प्रकरणान्तरे विहितत्वेन विप्रकर्षादमु मिति  
विप्रकृष्टवाचिना अदृशब्देनाग्नीषोमीयस्य पशोः परामर्शः ।  
"स एवास्येति । 'अस्य' यज्ञस्य पूर्वद्युरनुष्ठेयो योऽग्नीषोमीयः  
पुरोडाशः, 'स एव सः' अग्नीषोमीयः पशुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रातरनुष्ठेययोरान्नेर्येन्द्राग्नोर्यागयोः प्रातर्माध्यन्दिनसवनरूपता  
मुपपादयति— "अथ प्रातरिति । आग्नेयपुरोडाशस्य प्रातस्सवनस्य  
चेकदेवताधिष्ठितत्वत् तादात्म्यम् ; सान्नाय्यमाध्यन्दिनसवनस्य  
चेन्द्रदेवत्वसाम्यात् तथात्वम् ॥ १२ ॥

दग्नें पूर्वद्युरनुष्ठेयस्यैन्द्राग्नपुरोडाशस्य तृतीयसवनरूपता माह  
— "अथ यदिति । "इन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः"—इति । इन्द्रा-  
ग्नोर्विश्वेषु देवेष्वन्तर्भावात् ऐन्द्राग्नपुरोडाशतृतीयसवनयोरनेक-  
देवत्वत्वसाम्याच्च तादात्म्यम् ॥ १३ ॥

दग्नें परेद्युः प्रातरनुष्ठेयस्य पयस्यायागस्यानूबन्ध्यारूपता  
माह— "अथ प्रातरिति । "नेद्यज्ञादिति । आग्नेयपुरोडाश-  
यागस्यानुष्ठानविहिताद्यज्ञान्नेव गच्छति ; प्रसंस्त्रंशो माभूदित्य-  
नेनेवाभिप्रायेण ; न तु तेन किञ्चिदपि सोमयागसाम्यं सम्पाद्यते ।  
"अमू" मैत्रावरुणी मिति । सोमप्रकरणे विहितत्वेन विप्रकृष्टाया  
अनूबन्ध्याया अदृशब्देन परामर्शः । "सैवास्येति । 'अस्य'

दाक्षायणयज्ञस्य या 'मित्रावरुणी पयस्या', सोमेऽनुष्ठीयमाना  
अनूबन्ध्या एव सेत्वर्यः । इत्थं दाक्षायणयज्ञस्य सोमयागसाम्यं  
सम्पाद्य, तत एव हेतोः फलसाम्यं माह— "स पौर्णमासेन  
चेति । 'सौम्येन' सोमद्रव्यसाध्येन यामिनेत्यर्थः । "तदु खल्विति ।  
'तत्' तस्मादेव 'खलु' कारणात् दाक्षायणयागो 'महायज्ञः' सोम-  
यागो 'भवति'; स हि महायज्ञ इत्याख्यायते । अत एव तैत्ति-  
रीयके सोमयागप्रकरणे सम्मानयति— "ते देवा एतं महायज्ञं मप-  
श्यन्"—इति \* ॥ १४ ॥

अथेतद्दाक्षायणं यज्ञं प्रकारान्तरेण प्रमंसन् पौर्णमासप्रयोगे  
पूर्वेद्युरनुष्ठेय मग्नीषोमीययागं मनूद्य स्वीति— "अथ यत् पूर्वं-  
द्युरिति । "एतेन वा इत्यादि । "एतेन" खलु अग्नीषोमीय-  
यागेन पुरा 'इन्द्रो वृत्रम् अहन्' प्राणापानरूपयोरग्नीषोमयोर्हविषा  
हमयोर्निष्क्रमणाद्धि वृत्रो मृतः । तथा चास्मायते— "तस्मा-  
ज्जज्ञभ्यमानादग्नीषोमी निरक्रामताम्, प्राणापानौ वा एनं तद-  
जहिता मिति † । 'अस्य' इन्द्रस्य 'या इत्थं विजितिः' प्रसिद्धा,  
'तां' व्यजयत इति सम्बन्धः । "विपराभ्यां जेः"—इत्यात्मने-  
पदम् ‡ । "तथो एवेति । इन्द्रो यथा, 'तथा' एव 'एषः'  
यजमानोऽपि 'एतेन' अग्नीषोमीययागेन 'पाप्मानं' पापभूतं  
'द्विषन्तं' द्वेषारं 'भ्रातृव्यं' शत्रुं 'हन्ति' ॥

पौर्णमास्यां 'यः' सान्नाय्ययागो विहितः, तं मनूद्य स्वीति  
— "अथ यदित्यादिना । "आमावास्यं वा इति । इन्द्रवीर्यस्य  
सन्नयनसाधनं दधिपयोरूपं हविः 'आमावास्यं वै' आमावास्या-

\* तै० सं० ३, २, २, ४ ।

† तै० सं० २, ५, २, ४ ।

‡ पा० मू० १, ३, १६ ।

सम्बद्धं मेव । 'अमावास्या' तिथिः 'इति' 'यत्', 'तद्' 'दूरे' ; प्रतिपदादिभिश्च तुर्दशीभिर्व्यवधानात् । पुरा खलु देवाः 'क्षिप्र एव' अल्पकाले एव शीघ्रम् 'एतत्' इत्थं 'वृत्रं' 'जघ्नुषे' हन्तवे इन्द्राय । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्"—इति \* कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । 'तं' पौर्णमास्यां वृत्रं हतवन्त मिन्द्रम् 'एतेन' सान्नाय्य-रूपेण 'रसेन' 'अप्रीणन्' अर्पयन् । 'यः' यजमानः 'एवं विदान्' पौर्णमास्या मिन्द्रं मुद्दिश्य सान्नाय्ययागं करोति, स इन्द्रवत् क्षिप्रं मेव रूकीयं पापरूपं शत्रुम् 'अपहते' हिनस्ति । तदेव सन्नयनं प्रकारान्तरेण स्तौति— "एष वा इति । योऽयं पौर्ण-मास्यां सम्पूर्णः 'चन्द्रमाः', 'एषः' खलु 'राजा सोमः' 'देवाना मन्नम्' ; 'तं' सोमरूपम् 'एतत्' अन्नम् 'प्रातः भक्षयिष्यन्तः' पूर्वदिवसे 'अभिषुग्वन्ति' रसभावं प्रापयन्ति । 'तम् एतत्' अपर-पक्षे 'भक्षयन्ति' । 'यत्' यस्माद् असौ प्रत्यहं तत्र 'अपचीयते', अतो भक्षयन्तीति सम्बन्धः ॥ १५ ॥

तथाविधं मेवैतदनुष्ठानं मित्याह— "अथ यत् पूर्वद्युरग्नी-षोमीयेणेति । "अभिषुणीत्येवेन मिति । पूर्वद्युः कर्तव्या-भिषवस्थानीयोऽयं मग्नीषोमीययाग इत्यर्थः । 'अभिषुते तस्मिन्' सोमे 'एतं' सान्नाय्यरूपं 'रसं' परेद्युः 'दधाति' स्थापयति । 'एतेन' च सान्नाय्यरसेन तं सोमं 'तीव्रीकरोति' तीव्रं मतिशयेन मदकरं करोति, तथा तेन सान्नाय्यरसेन 'देवेभ्यः' देवायं 'हव्यं' हविः 'स्वदयति' स्वादूकरोति । 'अस्य' यजमानस्य तत् 'हव्यं' हविः 'देवेभ्यः' 'स्वदते' रोचते । "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति † सम्प्रदानत्वात् देवेभ्य इति चतुर्थी ॥ १६ ॥

दर्शयागे पूर्वदिवस मनुष्ठेय मेन्द्रानयाग मनूद्य स्तौति—  
 “अथ यदिति । ‘इन्द्राग्नी एव’ खलु ‘दर्शपूर्णमासयोर्देवते’ ;  
 तत्रत्यप्रथमपुरोडाशस्याग्निदेवत्वत्वात्, सान्नाय्यस्य चैन्द्रत्वात् । “त  
 एवेतदित्यादि, निगदसिद्धम् ॥ १७ ॥

दर्शप्रयोगे परेद्यु रनुष्ठेयावपि यागावनूद्य स्तौति— “अथ  
 प्रातरिति । “अथेतावेवेत्यादि । पयस्याया देवते ‘मित्रवरुणौ’,  
 ‘एतावेव अर्द्धमासी’ । एतदेव विवृणोति— “य एवेति । ‘य  
 एव’ अर्द्धमासः ‘आ’ समन्तात् ‘पूर्यते’ वर्द्धमानया चन्द्रकलया  
 पूर्णं भवति, ‘सः’ अमृतरससम्बन्धाद् ‘वरुणः’, स हि रसाभि-  
 मानी देवः ; ‘यः’ अर्द्धमासः ‘अपचीयते’ क्षीयमाणचन्द्रकालयुक्तो  
 भवति, ‘सः’ अपरपक्षः ‘मित्रः’ ; ‘तौ’ चन्द्रसूर्यात्मकौ मित्रा-  
 वरुणौ ‘उभौ’ ‘एतां रात्रिं’ दर्शरात्रिं ‘समागच्छतः’ सह समाप्रुतः ।  
 ‘तत्’ तस्मात् कारणात् ‘एतत्’ एतेन सेत्वावरुणयागेन  
 ‘उभावेव’ तौ ‘सह सन्तौ’ सह भवन्तौ युगपत् ‘प्रीणाति’  
 तर्पयति । “सर्वं ह वा अस्मेति, वेदितुः फलम् ॥ १८ ॥

मित्रावरुणदेवद्वयं प्रकारान्तरेण स्तौति— “तद्वा एता  
 मिति । ‘एतां रात्रिम्’ । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । ‘मित्रः’  
 अपरपक्षाभिभानी देवः, ‘वरुणे’ शुक्लपक्षाभिमानिने देवे ‘रेतः’  
 सिञ्चति’ । ‘तत्’ तथा सति ‘एतेन रेतसा’ स शुक्लपक्षः ‘प्रजा-  
 यते’ उत्पद्यते ; ‘यत्’ यतः कारणात् अस्मिन् चन्द्रः ‘आपूर्यते’ ।  
 ‘यत्’ यस्मात् एवम्, ‘तत्’ तस्मात् ‘एषा’ मित्रावरुणदेवताका  
 ‘पयस्या’ ‘अवल्लुप्तमा’ अतिशयेनावल्लुप्ता, ल्लुप्तसामर्थ्या  
 भवति ॥ १९ ॥

इतोऽपि पयस्यायागो दर्शे युक्ततर इत्याह—<sup>१</sup>“सान्नाय्यभाजना वा इति । ‘सान्नाय्यभाजना’ सान्नाय्ययागस्य स्थानभृता ह्यमावास्या ; ऐन्द्रदध्यामावास्याया मिति दधिपयसोर्यागस्य प्रकृतौ तत्र विहितत्वात् । ‘तत्’ तथा सति ते हे ऐन्द्रसान्नाय्ये ‘अदः’ विप्रकष्टः ‘पौर्णमास्याम्’ एव ‘क्रियते’ । यद्यपि ‘सः’ पौर्णमास्यां सान्नाय्यं यजमानः ‘अत्र’ दर्शे ‘अपि’ ‘सन्नयेत्’, तदा कृतस्यैव पुनःकरणात् ‘जामिता’ दीषः स्यात् ; अपि च दर्शपूर्णमासदेवतयोः परस्परं ‘समदं’ कलहं ‘कुर्यात्’ । पूर्णसासे कृतमेन्द्रं सान्नाय्यं परित्यज्य दर्शं मित्रावरुणदेवतका पथस्यैव कार्या । तस्या अपि दधिपयसोर्विकारत्वात् अमावास्यायाः सान्नाय्यभाजनत्व मपि न व्याहन्यत इत्यर्थः । “तदेन मद्भ्य इत्यादि । ‘तत्’ तेन दर्शेऽनुष्ठितेन सान्नाय्ययागेन अप्तु ओषधिषु च प्रविष्टम् ‘एनम्’ सोमं ततः ‘सम्भृत्य’ दधिपयोरूपेण सम्पाद्य , अग्नी हुत्वा , तानि ‘आहुतिभ्यः’ सकाशात् ‘अधिजनयति’ । ‘स एषः’ चन्द्रः ( सान्नाय्याहुतिभ्यः जातः \* ) प्रतिपदि ‘पञ्चाद् दृष्टे’ कलारूपेण दृश्यते ॥ २० ॥

पयस्योत्पत्त्यनुनिष्ठादिनो वाजिनस्यापि † होमं विधित्तुः पयस्यावाजिने सम्भूय स्तौति— “मिथुनादिति । ‘एनं’ चन्द्रं ‘मिथुनात्’ एव हि खलु ‘एतत्’ ‘प्रजनयति’ उत्पादयति । किन्तर्हि मिथुनम् ? ‘पयस्या’ हि स्त्रीलिङ्गत्वाद् ‘योषा’ स्त्री , ‘वाजिनं’ हि ‘रैतः’ पुरुषस्य वीर्यस्थानीयम् ; ‘तत्’ खलु ‘अनुष्ठाय’

\* नास्वयेतत् पदद्वयं च-पुस्तके ।

† “दधिपयसोः सारभूतं यत् कठिनं सम्पद्यते, सा पयस्या ; यच्च उदकं पृथग् भवति, तद् वाजिनम्”— इति या० दे० ( का० सू० ४, ४, ६, ) ।

अनुष्ठानात् सम्यक् 'यत्' यत्र खलु स्त्रीपुंसलक्षणात् 'मिथुनात्'  
'जायते' ॥ २१ ॥

इत्थं वाजिनस्य मिथुनसम्पत्त्यर्थत्वं मुक्त्वा तस्य होमं विधत्ते—  
“अथ वाजिभ्य इति \* । विहितं वाजिनहोमं प्रजोत्पत्तिहेतुत्वेन  
स्तीति— “ऋतवो वा इति । ‘ऋतवः’ खलु वाजिशब्दाभिधेयाः,  
तेभ्यः । वाजिनहोमात् ऋतुष्वेव सर्वप्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’  
‘सिक्तं’ भवति ; तस्माच्च रेतसः सकाशात् ते ‘ऋतवः’ सर्वाः  
‘प्रजाः’ उत्पादयन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

तस्य वाजिनहोमस्य कालं विधातुं स्तीति— “स वा इति ।  
यन्नय पश्चाद्वागे प्रस्तरपरिधिप्रहरणोत्तरकालं वाजिनहोमः  
कर्त्तव्यः । अत एवोक्तं कात्यायनेन— “वाजिनं निषिञ्चोत्करे  
करोति, ०—० प्रहृत्य त्वणं तेन चरति, विमुच्य वा स्तुचौ”—  
इति † । आपस्तम्बोऽप्याह स— “परीधीन् प्रहृत्य, संस्त्रवात्तं  
कृत्वा, वाजिनपात्रं सुपस्तीर्य”—इत्यादि । होमे विशेषं  
विधत्ते— “स वा इति । ‘सः’ खलु अर्ध्वयुः ‘अग्ने’ प्रथमं  
‘प्रागेव’ प्रागपवर्गं मत्स्यं वाजिनं ‘जुहोति’ । “अग्ने वीहि”—  
‘इति’ ‡ यदा होता ‘अनुवषट् करोति’, तदा खिष्टकरस्थानीयं  
वाजिनशेषं मुत्तरपूर्वस्थां दिशि जुहोति § । “स वै प्रागेवेति,  
प्रधानहोमस्य निगमनम् ॥ २३ ॥

हुतशिष्टेन वाजिनेन दिग्ब्याघारणं विधत्ते— “अथ दिशो  
व्याघारयतीति ॥ । दीर्घधारयाम्नी प्राच्यादिदिक्षु पातनम्, व्याघा-

\* का० औ० सू० ४, ४, ६ । † का० औ० सू० ४, ४, ६—१२ ।

‡ ऐ० ब्रा० १, ४, ५ द्रष्टव्यम् । § का० औ० सू० ४, ४, १६ क ।

॥ का० औ० सू० ४, ४, १६ ख ।

रणम् । तन्मन्त्रा—“दिशः प्रदिश इत्यादयः † । अनेन वाजि-  
नेन “दिशः” ढप्ता भवन्तु । एव सुत्तरत्वापि योज्यम् । प्रधानभूताः  
‘दिशः’, दिङ्मध्यवर्तिन्यः ‘प्रदिशः’, ईषद्दिशः ‘आदिशः’, ‘विदिशः’  
आग्नेयादिकोणदिशः, ‘उद्दिशः’ ऊर्द्धा दिशः । एवं पञ्चभिर्मन्त्रैः  
स्वाहाकारान्तैः प्राचादिक्रमेण पञ्चसु दिक्षु व्याघारार्थं “दिग्भ्यः  
स्वाहा”—इति षष्ठेन पूर्वार्हे जुहुयात् । तदुक्तं सूत्रकृता—  
“वाजिनशेषेण दिशो व्याघारयति, दिश इति प्रतिमन्त्रम्; प्रदक्षिणं  
पुरस्तात् प्रथमं सुत्तमाभ्यां मध्ये पूर्वार्हे च”—इति † । तदेतद्  
व्याघारणं प्रशंसति— “पञ्च वा ऋतव इति ॥ २४ ॥

यजमानपञ्चमाना ऋत्विजां भक्षणं विधत्ते— “तद्वै पञ्चै-  
वेति ‡ । तद्भक्षणं प्रशंसति— “पञ्च वा ऋतव इति । “हेमन्त-  
शिशिरयोः समासेन”—इति § ऋतूनां पञ्चत्वम् । यदेव पञ्चाना  
ऋत्विजां भक्षणम्, एतत् पञ्चसङ्ख्याना ऋतूना मेव रूपं क्रियते ।  
“तत् तस्मात् ‘ऋतुषु’ प्राक् ‘सिक्तं रेतः’ प्रतिष्ठापयति’ प्रतिष्ठितं  
करोति ॥

यजमानस्य प्राथम्यं विधत्ते— “प्रथमो यजमान इति ॥ ।  
ऋत्विग्भ्यः ‘प्रथमः’ पूवेभावी सन् अहं ‘रेतः’ ‘परिगृह्णानि’ स्वीक-  
रवाणि ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण यजमानस्य प्रथमभक्षणं मित्यर्थः ॥

पञ्चान्तरं माह— “अथो अप्युत्तम इति ¶ । पञ्चान्तर-  
द्योतकः ‘अथो’-शब्दः । ऋत्विजाम् ‘उत्तमः’ चरमभावी सन्

\* वा० सं० ६, १६, १—५ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, १६, १७ । “स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्गत्वात्” १८ ।

‡ “होत्रध्वर्युत्रक्षाग्नीद्वजमानाः”— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, २६ ।

§ रे० ब्रा० १, १, १ द्रष्टव्यम् ।

॥ ¶ “प्रथमो वोभयतस्तु यजमानः”— इति का० श्रौ० सं० ४, ४, २७ ।



यजमानो भक्षयेत् । एव मपि विरोधो नास्तीति 'अपि'-शब्द-  
 स्यार्थः । 'उत्तमे' चरमभाविनि यजमाने ह्यत्सं 'रितः' 'प्रति-  
 तिष्ठात्' प्रतितिष्ठेत्, न मा मतिवर्त्तेत, इत्यनेनाभिप्रायेण यज-  
 मानस्य चरमभक्षणं मित्यर्थः \* ॥

अथ मन्वानुज्ञापनपूर्वकं तद्भक्षणं कर्त्तव्यमिति विधत्ते—  
 उपहृत इति । "उपहृतः"—इत्यनुज्ञामन्वः, "उपहृत्यस्व"—  
 इत्यनुज्ञापनमन्वः । एतच्च द्वादशलक्षणां तृतीये विचारितम् † ।  
 कात्यायनेनाप्युक्तम्— "उपहृत्यस्वेत्यामन्त्रं भक्षणं सुपहृत इति  
 प्रसृतः"—इति ‡ । एवञ्च सति 'एतद्' वाजिनम् ऋत्विजः सोम  
 मेव' सोमसदृशं मेव 'कुर्वन्ति'; उपहवसाधनं हि सोम-  
 धर्मः § ॥ २५ ॥ १ [४. ४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

\* "ऋतूनां त्वा वाजिनां वाजिनं भक्षयामीति"—इत्यादयश्च मन्त्रविधयः  
 का० श्रौ० ४. ४. २३-२४-२५-सूत्रेषु द्रष्टव्याः ।

† मी० जै० सू० ३. ५. १६-५३ सूत्राणि, तेषु ६-१६ अधिकरणानि च  
 द्रष्टव्यानि । विशेषतस्त्विह "वचनादनुज्ञातभक्षणम्, यदुपहृत उपहृत्यस्वेत्य-  
 नेनानुज्ञापयेत्तिष्ठात्"—इति सूत्रद्वयं विवेच्यम् (४०, ४१ सू०; १४, १५ अधि०) ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ४. १६ । "युक्तनामभिर्वा"—इति तदुत्तरम् (२०) ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ४. २१ । "दाचायणं वा दक्षिणा"—इति (का०  
 श्रौ० सू० ४. ४. २८.) चात्र दक्षिणाविधिः । "दाचायणं सुवर्णं मुच्यते"—  
 तच्च शतमानं रत्निकाशतपरिमितम् (२०, १, २५ सू०)—इत्यादि  
 च तत्र वृत्तौ याज्ञिकं देवः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।  
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम्,  
समाब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्स्रां रुक्मवाजिद्विपसहितरथीसायणिः सिङ्गणार्थी,  
व्यश्राणीद्विश्चक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजते राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,  
रत्नाव्यो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसास्त्रिङ्गणार्थः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

\* एतदीयपाठभेदाः पूर्वपूर्वत इत्यथाः ।

( अथ पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. )

प्रजापतिर्ह वा ऽइदं मय ऽएक एवास । स  
 ऐक्षत कथं नु प्रजाययेति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत  
 स प्रजा असृजत ता अख्य प्रजाः सृष्टाः परावभूवु-  
 स्तानीमानि व्यशसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टं  
 द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो व्यशसि ॥ १ ॥

स ऐक्षत प्रजापतिः । यथा न्वेव पुरैको-  
 ऽभूव मेव सु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति स द्वितीयाः  
 ससृजे ता अख्य परैव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रुं सरीसृपं  
 यदन्यत् सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृज ऽद्वित्याहुस्ता अख्य  
 परैव बभूवुस्तु ऽद्वमे सर्पा एता ह न्वेव द्वयीर्याञ्ज-  
 वल्क्य उवाच त्रयीरु तु पुनर्हृचा \* ॥ २ ॥

सोऽर्चञ्जाम्यन् प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे । कथं नु  
 मे प्रजाः † सृष्टाः पराभवन्तीति स हैतदेव ददर्शन-  
 शनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति स आत्मन एवाग्रे  
 स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे स प्रजा असृजत ता

\* 'चा'— इति घ ड ।

† 'प्रजः'— इति घ, ड ।

अस्य प्रजाः सृष्टा स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्  
बभूवुस्ता इमा अपराभूताः ॥ ३ ॥

तस्मादेतदृषिणाभ्युनूक्तम् । प्रजा ह तिस्रो <sup>Rv. VII. 90. 14</sup>  
ऽअत्याय मीयुरिति तद्याः परामृतास्ता एवैतदभ्य-  
नूक्तं न्यत्या अर्कं मभितो व्विष्यः ऽद्भ्यग्निर्व्वी  
ऽअर्कस्तद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्नि मभितो  
निविष्टास्ता एवैतदभ्युनूक्तम् ॥ ४ ॥

महद्ब्र \* तस्यौ मुवनेष्वन्तरिति । प्रजापति मेवै-  
तदभ्युनूक्तं पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै  
हरितस्ता अर्थं व्वायुः पवमान आविष्टस्ता एवैष-  
ऽर्गभ्युनूक्ता ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव  
प्रजापतिः प्रजा असृजतेदं हि यदेव स्त्रिये स्तना-  
वाप्यायेत ऽऊधः पशूना मथैव यज्जायते तज्जायते  
तास्तत स्तनावेवाभिपद्य सम्भवन्ति ॥ ५ ॥

तद्वै पय एवान्नम् । एतद्ध्यमे प्रजापतिरन्न  
मृजनयत तद्वा ऽअन्न मेव प्रजा अन्नाद्भि सम्भवन्तीद्  
हि यासाम्पयो भवति स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्भ-  
वन्त्यथ यासाम्पयो न भवति जात मेव ता अथा-

\* 'बृहद्ब्र'— इति मुद्रितसंहितापाठः ( ८. १०२. १४. ) ।

दयन्ति तद् ता अन्नादेव सम्भवन्ति तस्माद्ब्र मेव  
प्रजाः \* ॥ ६ ॥

स यः प्रजाकामः । एतेन हविषा यजत ऽआ-  
त्मानमैवैतद्यज्ञं विधत्ते प्रजापतिं भूतं † ॥ ७ ॥

स वा ऽआग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ।  
अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापति-  
स्तस्मादाग्नेयो भवति ॥ ८ ॥

अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै सोमस्तदग्नौ  
प्रजनयितुरि सोमं रेतः सिञ्चति तत् पुरस्तान्मिथुनं  
प्रजननम् ॥ ९ ॥

अथ सावित्रः ‡ । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो  
वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां  
प्रसविता प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनयिता तस्मात्  
सावित्रो भवति ॥ १० ॥

अथ सारस्वतश्चरुर्भवति । पौष्णश्चरुर्घोषा वै  
सरस्वती वृषा पूषा ततः पुनर्मिथुनं प्रजननं मेत-

\* 'प्रजाः'— इति घ, ङ ।

† 'भूतं'— इति घ, ङ ।

‡ 'त्रः'— इति घ, ङ ।

स्माद्वा ऽउभयतो मिथुनात् प्रजुननात् प्रजापतिः  
 प्रजाः सृज ऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीलुथो ऽएवैष  
 एतस्मादुभयत एव मिथुनात् प्रजुननात् प्रजाः  
 सृजत ऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीरुस्माद्वा ऽएतानि  
 पञ्च हवींषि भवन्ति ॥ ११ ॥

अथातः पयस्याया एवायतनम् । मारुतस्तु सप्त-  
 कपालो व्विशो वै मरुतो देवविशस्ता हेद्दु मनि-  
 षेध्रा \* इव चेरुस्ताः प्रजापतिं यजमान मुपेत्योचुर्व्वि  
 वै ते मथिष्यामह ऽइमाः प्रजा या एतंन हविषा  
 स्रक्ष्यस ऽइति ॥ १२ ॥

सु ऐक्षत प्रजापतिः । परा मे पृर्व्वीः प्रजा  
 अभूवन्निमा उ चेदिमे व्विमयुते न ततः किञ्चन  
 परिशेक्ष्यत ऽइति तेभ्य एतं भागु मकल्पयदेतं मारु-  
 तं सप्तकपालं पुरोडाशं सु एषु मारुतः सप्त-  
 कपालस्तद्यत् सप्तकपालो भवति सप्त-सप्त हि  
 मारुतो गणरुस्मान् मारुतः सप्तकपालः पुरोडाशो  
 भवति ॥ १३ ॥

तं वै स्वतवोभ्य इति कुर्यात् । स्वयं हि त

ऽएतं भागं मुकुर्वतीतो स्वतवोभ्यो याज्यानुवाक्ये  
 न व्विन्दन्ति स उ खलु मारुत एव स्यात् स वा  
 ऽएष प्रजाभ्य एवाहिंसायै क्रियते तस्मान्  
 मारुतः \* ॥ १४ ॥

अथातः पयस्यैव † । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता यतः सम्भवन्ति तदेवाभ्य एतत् करोति तद्याः पूर्व्वैर्हविर्भिः प्रजाः सृजन्ते ता एतस्मात् पयस एतस्यै पयस्यायै सम्भवन्ति ॥ १५ ॥

तस्यां मिथुन मस्ति । योषा पयस्या रेतो व्वाजिनं तस्मान् मिथुनादिष्व मसम्मित मनु प्राजायत तद्यदेतस्मान् मिथुनादिष्व मसम्मित मनु प्राजायत तस्माद्देवैश्च देवी भवति ॥ १६ ॥

अथ द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति । एतैर्व्वैर्हविर्भिः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पय्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथो ऽएवैष एतद्या एतैर्हविर्भिः प्रजाः

\* 'मारुतः'— इति क, घ, ङ ।

† 'व'— इति घ, ङ ।

सृजते ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति तस्माद्  
द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥ १७ ॥

अथात आवृदेव \* । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं  
व्विसृष्ट मसत् सर्व्वं मसद्वैश्वदेव मसदिति चेधा  
बर्हिः सुन्नद्धं भवति तत् पुनरेकधैतद्वि प्रजुननस्य  
रूपं प्रजुनन मु ह्रीदं पिता माता यज्जायते तत्  
तृतीयं तस्मात् चेधा सत् पुनरेकधा प्रस्र उप-  
सुन्नद्धा भवन्ति तं प्रस्तरं गृह्णाति प्रजुनन मु  
ह्रीदं प्रजुनन मु हि प्रस्वस्तस्मात् प्रसुः प्रस्तरं  
गृह्णाति ॥ १८ ॥

आसाद्य हवींष्यग्निं मन्यन्ति † । अग्निं  
ह वै जायमान मनु प्रजापतेः प्रजा जङ्गिरे ‡ तथो  
ऽएवैतस्याग्नि मेव जायमान मनु प्रजा जायन्ते  
तस्मादासाद्य हवींष्यग्निं मन्यन्ति § ॥ १९ ॥

नवप्रयाजं भवति । नवानुयाजं दृशाक्षरा वै  
व्विराडुथैता मुभयतो न्यूनां ध्विराजं करोति

\* 'व'— इति घ, ङ ।

†, § 'मन्यन्ति'— इति ग ।

‡ 'जङ्गिरे'— इति च इष्टो डा०-वैवरेण ।



प्रजुननायैतस्माद्वाऽउभयतो न्यूनात् प्रजुननात् प्रजा-  
पतिः प्रजाः समृजऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तुथो  
ऽएवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात् प्रजुननात् प्रजाः  
सृजतऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तुस्मान्नुवप्रयाजं  
भवति नवानुयाजम् ॥ २० ॥

त्रीणि समिष्टयजूषि भवन्ति । ज्याय इव  
हीदुः हविर्यज्ञायुत्र नुवप्रयाजं नवानुयाज मथो  
ऽअप्येक मेव स्याद्वविर्यज्ञो हि तस्य प्रथमजो गौर्द-  
क्षिणा ॥ २१ ॥

एतेन वै प्रजापतिः । यज्ञेनेष्टा येयं प्रजापतिः  
प्रजातिर्या श्रीरेतद् बभूवैताः ह वै प्रजातिं प्रजा-  
यतऽएताः श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन  
यजते तस्माद्वाऽएतेन यजेत ॥ २२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५, १. ] ॥

अथ चातुर्मास्थानि \* विधित्सुस्तत्र वैश्वदेवस्य प्रजासृष्टि-  
हेतुता माख्यायिकया प्रतिपादयति— “प्रजापतिर्ह वा इति ।

\* चातुर्मास्यशब्देन इतः क्रमाद् विधास्यमानानि वैश्वदेवरूपप्रघाम-  
साकमेधसुनामीरीयमञ्जानि चत्वारि पर्वाण्यभिधीयन्ते ।

इदं दृश्यमानं चराचरात्मकं जगत् तत्समग्रसृष्टेः प्रकाले प्रज-  
पतिरेक एव आसीत् ; कार्यस्य जगतः कारणभूते प्रजापतौ लीन-  
त्वात् । सः असहायः एक एव आसीदित्यर्थः ।

ततः सक्ताशात् प्रजासृष्टिं दर्शयति—“स ऐक्षतेत्यादिना ।  
“अत्रास्यदिति । प्रजोत्पत्तिकारणपर्यालोचनया श्रान्तः खिन्नो-  
भवदित्यर्थः । “अमु तपसि खेदे च” \* । “शमा मष्टा-  
नाम्”—इति † दीर्घः । स च श्रान्तः सन् प्रजोत्पत्तिकारणं  
तपस्तप्तवान् । “स प्रजा इत्यादि , निगदसिद्धम् ।

“स्तानीमानीति । या खलु सृष्टेः पराभूताः , “तानि  
इमानि” वयांसि जातानि , पक्षिरूपेणामवन्नित्यर्थः । एतदुपपा-  
दयति—“पुरुषो वा इति । ‘पुरुषः’ मनुष्यः खलु सृष्टानां  
प्रजानां मध्ये ‘प्रजापतेः’ ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमं कार्यम् । स च  
षादहयोपेतः , तत्परिणामरूपत्वात् पक्षिणोऽपि पादहयोपेता  
दृश्यन्ते । तस्माद् वयसां पुरुषसाधर्म्यात् तेषां तत्परिणामरूपत्व  
सवसेयमित्यर्थः ॥ १ ॥

पुनरन्यथा प्रजासृष्टि माह—“स ऐक्षतेति । “यथा न्वेवेति ।  
‘यथा’ खलु ‘पुरा’ प्रजासृष्टेः पूर्वम् ‘एकः’ असहायः ‘अभवम्’,  
‘अप्येतर्हि’ इदानीं प्रजासृष्ट्युत्तरकाल मपि तथैव ‘एकः एव  
अस्मि इति’ । एव मीक्षित्वा ‘सः’ पुनः अन्याः प्रजाः ‘ससृजे’,  
पूर्वसृष्टप्रजापेक्षया आसां द्वितीयत्वम् । “परेवेति । ‘अस्य’  
‘ताः’ अपि प्रजाः पराभूताः ‘एव’ अभवन् । “तत्”—इति विधेया-  
पेक्षं नपुंसकत्वम् ; ताः पराभूताः द्वितीयसृष्ट्युत्पन्नाः प्रजाः ,

\* दि० प० ६८ धा० ।

† पा० सू० ७. ३, ७४ ।

यत् 'इदं' 'सुद्रम्' अल्पशरीरं 'सरीसृपं' सर्पणशीलं सर्पव्यति-  
रिक्तं प्राणिजातं दृश्यते, तदात्मना परिणता इत्यर्थः । "तृतीयाः  
ससृज इत्याहु रिति । पुनरपि स प्रजापतिः सृष्टिदयापेक्षया  
'तृतीयाः' अन्याः प्रजाः 'ससृजे' सृष्टवान् 'इति' 'आहुः' अभिज्ञाः  
कथयन्ति । 'ताः' अपि 'अस्य' परामृताः अभवन् । 'ते इमे'  
सर्परूपेण दृश्यन्ते ॥

तृतीयसृष्टावाहुरिति यः परोक्षनिर्देशः, तदभिप्राय माह  
—“एता हेति । 'एताः' पूर्वोक्ताः 'द्वयीः' द्विविधाः 'एव' प्रजाः  
प्रजापतिना सृष्टाः इति 'यान्नवल्लभः' महर्षिः 'उवाच' उक्तवान्,  
न तृतीयानां प्रजानां सृष्टिः; 'ऋचा' ऋद्धन्तेण \* 'पुरः' 'द्वयी'  
त्रिविधा अपि 'प्रजाः' सृष्टा इति प्रतिपाद्यते ॥ २ ॥

स चोदाहरिष्यते — “सोऽर्चन्नित्यादि । त्रिवारं सृष्टानां  
प्रजानां पराभवकारणं किं मिति विचार्य 'सः' खलु 'एतत् एव'  
कारणं 'ददर्श' । एतच्छब्दनिर्दिष्टं दर्शयति— “अनशनत-  
येति । उत्पन्नानां प्रजानां मशनराहित्यं पराभवकारणं मित्यर्थः ।  
उत्पद्यमानानां प्रजानां मनशनत्वं माभूदिति प्रजापतिना कल्पित  
मशन माह— “स आत्मन एवेति । 'अग्ने' सृष्टेः प्रागेव प्रजा-  
पतिः 'आत्मनः' स्वशरीरस्य एव सम्बन्धिनोः 'स्तनयोः' 'पयः'  
'आप्याययाञ्चक्रे' आप्यायितं पूरितं कृतवान् । एव मशनं  
प्रकल्प्य अनन्तरं या प्रजाः असृजत, 'अस्य' प्रजापतेः 'ताः'  
सृष्टाः 'प्रजाः' पयसा पूर्यो 'स्तनौ' 'अभिपद्य' जीवनवत्योऽभवन् ।  
'ततः' अनन्तरं 'ताः' प्रजाः 'सम्बभूवुः' सम्यगुत्पन्ना लब्धात्मानो-  
ऽभवन् । पराभवं न प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

\* तं मिमं मन्त्रं सिद्धैवोपरिष्ठात् चतुर्थपञ्चमयोर्दृष्टव्यं व्याख्यास्यते ।

उक्तेऽर्थे ऋक्षन्त्वं संवादयति— “तस्मादिति । यस्मादग्रे एव मासीत्, तस्मात् कारणात् तदुक्तमर्थजातम् ‘ऋषिणा’ मन्वेण ‘अभ्यनूक्तम्’ प्रतिपादितम् \* । तत्र प्रथमपाद मनूद्योक्तार्थपरता माह— “प्रजा हेति । ‘तिस्रः’ त्रिविधाः ‘प्रजाः’ ‘अलायम्’ अव्ययं विनाशम् ‘इयुः’ जग्मुः । ‘हृ-’शब्द एतद्ब्राह्मणप्रसिद्धिं द्योतयति † । “तद्या इति । ‘याः’ खलु प्रजाः त्रिधा सृष्टा अन्नाभावहेतुना ‘पराभूताः’, ‘एतत्’ एतेन मन्वपादेन ता एवाभिलक्ष्य ‘अभ्यनूक्तम्’ प्रतिपादितम् ॥

द्वितीयपाद मनूद्य व्याचष्टे— “न्यन्या इति । पयोरूपमशनं प्राप्य ‘अन्याः’ प्रजाः ‘अर्कम्’ अर्चनीयमग्निम् ‘अभितः’ सर्वतः ‘निविविशे’ निविवेशिरे । “निर्विशः”—इति ‡ आत्मनेपदम्, “इरयो रे”—इति § रे-आदेशः । “तद्या इत्यादि । ‘तत्’ तत्र ‘या इमाः प्रजाः’ ‘अपरामूताः’, ‘ताः’ एव, जाठररूपेण लौकिकवेदिकभेदेन वावस्थितम् ‘अग्निं’ स्वस्वव्यापाराय पर्युपविष्टा वर्तन्ते । एतदेतेन पादेन प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

तृतीयपाद मनूद्य व्याचष्टे— “महद् तस्याविति । इयं देवमनुष्यादिरूपासु प्रजासु सतीषु तस्त्रष्टा प्रजापतिः ‘भुव-

\* ऋ० सं० द. १०२. १४ ।

† भाष्यकारस्येदं वचनमश्रद्धेयम् ; अस्य हि ब्राह्मणग्रन्थस्य ऋग्वेदीय-मन्त्रग्रन्थात् परतन्त्रत्वात् । अत एवान्न ऋद्धाल्लमानोपन्यसः सङ्गच्छते । वस्तुतः सर्वे एव ब्राह्मणग्रन्थाः सर्वेभ्य एव मन्त्रग्रन्थेभ्यः परभवा इत्यैतिहासिकसिद्धान्त एव ।

‡ पा० सू० १. ३. १७ ।

§ पा० सू० ६. ४. ७६ ।

नेषु 'अन्तः' मध्ये 'महत्' \* अधिकं 'तस्थौ' सर्वोत्कर्षेणावस्थितः । गत मन्यत् ॥

चतुर्थपाद मनुद्य व्याचष्टे— "पवमान इति । 'दिशो वै हरितः' दिशो हि हरिच्छब्दवाच्याः, अतः 'ताः' 'अयं' पुरोवर्त्ती 'पवमानः' वायुः 'आविष्टः' दृश्यते । अतस्तुरीयपादेन अयमर्थः प्रतिपाद्यत इति । "ता एवेति, उक्तार्थनिगमनम् । 'ताः' उक्ताः प्रजाः 'एव' अभिलक्ष्येत्यर्थः † ॥

प्रजापतिहतायाः सृष्टेरविच्छेदेनानुवृत्तिं दर्शयति— "ता इमा इति । 'यथैव' येन हि प्रकारेण पुरा 'प्रजापतिः प्रजाः असृजत', 'तथैव' तेनैव प्रकारेण 'ता इमाः' मनुष्याद्याः 'प्रजाः' 'प्रजायन्ते' उत्पद्यन्ते । एतदेवोपपादयति— "इदं हीति । इदानीं स हि 'यदेव' खलु लोके 'स्त्रियै' स्त्रियाः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । 'स्तनौ' 'आप्यायेत' पयसा पूरितौ भवतः । व्यव्ययेनैकवचनम् § । गवादिपशूनाम् 'जधः' च पयसा पूर्णं भवति । 'अयं' अनन्तरम् 'एव' 'यत् जायते' 'तत्' एव 'जायते', अन्यदजायमानं विपद्यत इत्यर्थः । "तास्तत इति । 'ताः' उत्पन्नाः प्रजाः

\* 'बृहत्'— इति सुद्विधायाः शाकलशाखाया आश्वलायनशाखाया वा पाठः । तदेवं शतपथब्राह्मणन्तु शाकलाभिधानां पञ्चानां आश्वलायन्यादीनां माविर्भावात् पूर्वतन मिति गम्यते । नाप्येतेन मन्त्रसंहिताभ्य इदं पुरातन मिति भ्रमितश्चम् ।

† ऐतरेयकारण्यके ल्विष मन्त्रो विशेषतो व्याख्यातः । रे० आ० २व्या० १अ० १ख० ४-८ । तत्र 'तिस्रः'-इत्यस्य 'वज्रावगधाश्चैरपादाः'—इति व्याख्या समान्नाता । सायणकृतं तद्व्याख्यानन्तु न समीचीनं मन्त्रामहे ।

‡ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

§ पा० सू० ३. १. ८५ । इह कारिका द्रष्टव्या ।

‘ततः’ जननानन्तरं पयोधरी ‘स्तनौ एव’ ‘अभिपद्य’ अभि-  
प्राप्य स्तन्यपानेन ‘सम्भवन्ति’ प्रवर्द्धन्ते, न विपद्यन्ते ॥ ५ ॥

पयसोऽन्नरूपता माह— “तत्रै पय इति । ‘तत्’ तत्र खलु  
जन्मानन्तरकाले ‘पय एव’ प्रजानाम् ‘अन्नम्’ भवति । ‘हि’  
यस्मात् ‘अग्ने’ इतरान्नष्टष्टेः प्राक् ‘एतत्’ एव ‘अन्नम्’ ‘प्रजापतिः’  
‘अजनयत’ उत्पादितवान्, तस्मादिदं मेव मुख्यं मन्त्रं मिल्यर्थः ।  
तस्य चान्नस्य कार्यकारणयोरभेदोपचारेण प्रजारूपता मुप-  
पादयति— “अन्नं मेवेति । ‘हि’ यस्मात् ‘प्रजाः’ ‘अन्नात्’  
‘सम्भवन्ति’ प्रवर्द्धन्ते, तस्मात् तदात्मिका इत्यर्थः । ‘इदं हि’  
इदानीं हीत्यर्थः । “जातं मेवेति । स्तन्याभावे जातस्य शिशो-  
जीविनासम्भवात् तज्जीवनार्थं जननानन्तरं मेव ‘ताः’ प्रजाः स्तन्य-  
मेव ‘अदयन्ति’ भोजयन्ति \* । स्पष्टं मन्यत् । इत्यं मन्त्र-  
हेतुकं प्रजापतेः प्रजासर्जनं सुपोद्घातत्वेनोपन्यस्तम् ॥ ६ ॥

अथोपोद्घातिकेषु वैश्वदेवहविरुत्यादयंस्तद् दर्शयिष्यंस्तावत्  
वैश्वदेवयागं विधत्ते— “स यः प्रजाकाम इति † । ‘यः’ यजमानः  
प्रजाकामः, ‘सः’ ‘एतेन’ वैश्वदेवाख्यपर्वरूपेण ‘हविषा’ यजेत, तस्य  
प्रजाफलसाधनत्वं मुपपादयति— “आत्मानं मेवेति । स यजमानः  
‘आत्मानं मेव’ प्रजापतिरूपं मापन्नम् ‘एतद्’ वैश्वदेवाख्यं ‘यज्ञं’  
विधत्ते” वैश्वदेवयज्ञं मात्मना करोतीत्यर्थः । अतो वैश्वदेवेनेष्टवतः  
प्रजापतेः प्रजोत्पत्तिसाधनत्वं मुन्नीतं मिल्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधाय प्रशंसति— “स वा इति ‡ ।

\* ‘आदयन्ति भाजयन्ति’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ५. १. १—२० ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १. ५ । आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः ।

‘आग्नेयः’ अग्निदेवता अस्य । “सास्य देवता”—इत्यर्थः \* “इग्ने-  
 र्दक्”—इति † ढक् । अष्टसु कपालेषु संस्कृतः ‘अष्टाकपालः’ ।  
 ‘अग्निः प्रजनयिता’ मातापितृभ्यां भुक्तप्यानस्य जाठराग्निपरि-  
 पाकवशेन शुक्रशोणित्वात्मना परिणामादग्नेः प्रजनयितृत्वम् ; अतः  
 एव प्रजापतिः सोऽग्निरित्यर्थः ॥ ८ ॥

द्वितीयं हविर्विधाय प्रशंसति— “अथ सौम्य इति ‡ । सोमो  
 देवता अस्य ‘सौम्यः’ । “सोमाट् व्यण्”—इति व्यण् । ‘प्रजनयितरि’  
 उत्पादयितरि ‘अन्नौ’ सोमात्मकं ‘रितः’ ‘सिञ्चति’, तदेव ‘तत्’  
 प्रजोत्पत्तिसाधनं ‘पुरस्तात्’ क्रियमाणं मेकं ‘मिथुनं’ सम्पन्नं  
 भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ तृतीयं हविर्विधाय प्रशंसति— “अथ सावित्र इति § ।  
 सौम्ययागानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः । सविता देवता अस्य  
 ‘सावित्रः’ । ‘प्रसविता’ प्रेरयिता । स एव ‘प्रजापतिः’ वैश्व-  
 देवादिः । आग्नेयादीनां पञ्चानां यागानां मध्ये इज्यमानः सन्  
 ‘सविता’ ‘मध्यतः’ प्रजानां ‘प्रजनयिता’ भवति ॥ १० ॥

चतुर्थपञ्चमे हविषी विधाय सम्भूय प्रशंसति— “अथ सार-  
 स्वत इति ॥ । सरस्वती देवता अस्य ‘सारस्वतः’ ¶ । “तत्  
 पुनर्मिथुनं मिथ्यादि । आदावनुष्ठितादग्रे क्रियमाणादित्यर्थः ।  
 “इतश्चोक्षा इत्यादि । ‘इतः’ अस्मात् भूलोकादारभ्योपरितन-

\* पा० सू० ४. २. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३३ ।

‡ “सौम्यश्चरुः”—इति का० श्रौ० सू० ५. १. ६ ।

§ “सावित्रो दादशकपालोऽष्टाकपालो वा”— इति का० श्रौ० सू० ५. १. ७ ।

¶ “सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः प्रपिष्टानाम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. १. ८, ९ ।

¶ “योषा वै सरस्वती” इत्यर्थवादादिह सरस्वत्या देवतात्वं, न तु सरस्वतः ।

लोकवर्तिनीः 'प्रजाः' 'उभयतः' अवस्थितात् 'मिथुनात्' प्रजा-  
पतिः सृष्टवानित्यर्थः । इदानीन्तनयजमानोऽपि एव मेव मिथुन-  
द्वयानुष्ठानेन द्विविधाः प्रजाः सृजतीत्याह— "तयो एवेति ।  
"तस्मादित्यादि , विहितानां हविषां निगमनम् ॥ ११ ॥

एवं पञ्चभिर्हविर्भिरुत्पादितानां प्रजानां स्थित्यर्थं प्रजापतिना  
कल्पितं पयस्वारूप मन्त्रं दर्शयितव्यं मिति पयस्यायागस्य स्थानं  
प्रतिजानीते— "अथात इति । 'अथ' एवं प्रजासृष्टेरनन्तरं  
यतः सृष्टानां प्रजानां मन्त्रं मपेक्षितम् , 'अतः' 'पयस्याया एव'  
पयोविकारद्रव्यसाध्यस्य यागस्य एतत् 'आयतनं' स्थानं मित्यर्थः ।  
अथैवं पयस्यायाग एव षष्ठोऽनुष्ठेय इति , नेत्याह— "मारुतस्तु  
इति । 'तु'-शब्दः पयस्यायागस्य न्यायप्राप्तं षष्ठस्थानत्वं व्यावर्त्त-  
यति ; 'मारुतः सप्तकपालः' एव षष्ठोऽनुष्ठेय इत्यर्थः \* ।

एतदाख्यायिकयोपपादयति— "विशो वे मरुत इत्यादिना ।  
वेश्यजातयो हि मरुतः ; ते च देवतारूपत्वाद् 'देवविशः' खलु  
'अनिषेद्भ्रा इव' † अनिषेधुकाः , नियन्तृरहिता इव स्वतन्त्राः  
'चेरुः' । 'ताः' स्वातन्त्र्ये वर्त्तमानाः आद्येः पञ्चभिः हविर्भिः  
प्रजा उत्पादितवन्तं 'प्रजापतिं यजमानम्' 'उपेत्य' उपगत्य 'ऊचुः'  
—'ते' त्वदीयाः 'इमाः' उत्पन्नाः 'प्रजाः' वयं 'विमथिथ्यामः'  
हिंसिथ्यामः , 'याः' प्रजाः 'एतेन' वैश्वदेवपर्वात्मना 'हविषा' त्वं  
'स्रन्त्यसे' सृष्टाः कश्चिदसि ॥ १२ ॥

एवं मरुद्भिरुक्ते सति 'सः' 'प्रजापतिः' 'ऐक्षत' पर्यालोचित-  
वान् । 'मे' मदीयाः 'पूर्वाः' पूर्वसृष्टाः 'प्रजाः' 'पराभूवन्' ।

\* का० श्रौ० सू० ५. १. १६, १७ ।

† 'अनिषेधा इव'—इति च ।



‘इमाः’ प्रजाः ‘इमे’ मरुतः ‘विमथ्नन्ते’ बाधन्ते चेत् ‘ततः’ अनन्तरं ‘किम्’ अपि सृष्टं ‘न परिशिष्यते’ परिशिषितं न भविष्यति । ‘इति’ एवं मरुद्भ्यो भीतः सन्, ‘तेभ्यः’ ‘एतं’ सप्तदश-कपालरूपं ‘भागं’ कल्पितवान् । अतः प्राप्तस्थान मपि पयस्या-घागं परित्यज्य ‘स एष मारुतः’ यागः इदानी मपि षष्ठत्वेनानुष्ठी-यते । सप्तसङ्ख्या मनूद्य प्रशंसति— “तद्यदिति । मरुतो हि सप्तगणाः, तैव्केकस्मिन् गणेषु सप्त सप्त मरुतः । ते चैकोन-पञ्चाशत्सङ्ख्याकाः अग्निस्थापनप्रकरणे “इदृङ् चान्यादृङ् च”— इत्यादिभिर्मन्त्रैस्तत्तन्नाम्ना प्रतिपादिताः \* ॥ १३ ॥

तेषां किञ्चिद् विशेषण सुपक्षिपति— ‘तं वे स्वतवोभ्य इतीति † । ‘तं’ खलु सप्तकपालं पुरोडाशं ‘स्वतवोभ्यः’ ‘इति’ विशेषणविशिष्टेभ्यो मरुद्भ्यः ‘कुर्यात्’ । ‘तवः’ इति बल-नाम ‡ । स्वायत्तं तवो बलं येषां ते स्वतवसः । अस्य विशेषणस्यान्वर्थता माह— “स्वयं हीति । ‘ते’ मरुतः ‘स्वयं हि’ स्वपौरुषेणैव हि ‘एतं भागम्’ ‘अकुर्वन्’ स्वीकृतवन्तः, अतस्ते स्वतवसः सम्पन्ना इत्यर्थः ।

प्रागुक्तं मेव पक्षं निगमयितुं कारणं सुपन्थस्यति— “अत इति । यदि तु ‘स्वतवोभ्यः’ प्रतिपादिके § ‘याज्यानुवाक्ये’ ‘न’ लभते, तदा ‘सः’ एव प्रागुक्तः केवलः ‘मारुत एव’ यागो

\* तै० सं० ४. ६. ५. १५—२१ द्रष्टव्याः । “सप्तगणा वै मरुतः”— इति च तै० ब्रा० २. ७. २ ।

† ‘स्वतवद्भ्यः’—इति का०-श्रौ०-सू०-सम्मतः पाठः । “स्वतवद्भ्य इति छान्दसं रूपम्”— इति तत्र या० दे० । ‡ निघ० २. ६. ५ ।

§ ‘स्वतवः-प्रतिपादिके’— इति वा स्यादिह पाठः ।

भवति । एतच्च पक्षद्वयं कात्यायनोऽप्यसूत्रयत्— “मरुद्भ्यः  
खतवोभ्यः सप्तकपालो भारुतो वेति \* ।

“स वा एष इति । ‘सः’ खलु ‘एषः’ भारुतो यागः  
‘प्रजाभ्यः’ प्रजानाम् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी † । ‘अहिंसायै’ मरुत्-  
क्षतबाधराहित्याय ‘एव’ ‘क्रियते’ । “तस्मादिति । भारुत-  
यागस्य निगमनम् ॥ १४ ॥

पयस्यायागं विधत्ते— “अथात इति ‡ । ‘अथ’-शब्दो  
भारुतयागानन्तर्ये । यतः सृष्टाः प्रजा भारुतयागेन तत्कृत-  
हिंसायाः परिहृतत्वात् सुखेनावस्थिताः अन्नं माकाङ्क्षन्ते , अतः  
पयोरूपं मन्त्रं तैभ्यो जनयितुं पयस्यायागः कर्तव्य इत्यर्थः ।  
तस्य प्रजावृद्धिहेतुत्वं माह— “पयसो वा इत्यादि । सृष्ट्यादौ  
प्रजापतिना सृज्यमानास्ताः ‘प्रजाः’ तदीयस्तन्यरूपात् ‘पयसः’  
सकाशात् ‘सम्भूताः’ प्रवर्द्धिताः यतः , एव मिदानीं मपि  
सर्वाः प्रजाः पयस एव ‘सम्भवन्ति’ जन्मानन्तरं तत्क्षणे एव पयो-  
लक्षणं मन्त्रं प्राप्य वर्द्धन्ते । पयोरूपस्य तस्यान्नस्य सम्भक्तिं मत्र  
दर्शयितुं मुक्तं मर्थं मनुवदति— “तद्यत एवेति । ‘तत्’ तथा  
सतीत्यर्थः । ‘एतत्’ एतेन पयस्यायागेन ‘तदेव’ प्रजावृद्धिहेतुभूतं  
पयः ‘आभ्यः’ प्रजाभ्यः ‘करोति’ सम्पादयति । अत एवेदानीं  
पूर्वसृष्टानां प्रजानां मभिवृद्धिर्दृश्यत इत्याह— “तद्या इति ।  
‘पूर्वैः’ प्रागुक्तैराग्नेयादिभिः पञ्चभिः ‘हविर्भिः’ । “एतस्मात्

\* का० श्रौ० सू० ५, १, १६, १७ ।

† पा० २, ३, ६२ सू० १ वा० ।

‡ “वैश्वदेवो पयस्या” इति का० श्रौ० सू० ५, १, १८ ।

प्रयस इति । दध्ना संस्कृतः पयोविकारः पयस्याः \* । असौ  
 चामिच्चा-शब्देनान्यत्रान्नायते— “तमे पयसि दध्नायति सा  
 वैश्वदेव्यामिच्चा, वाजिभ्यो वाजिनम्”—इति † । कात्यायनोऽपि  
 पयस्यां प्रकृत्य सूत्रयामास— “श्रुते वा दध्नायति, वाजिनं  
 निषिच्योत्करे करोति”—इति ‡ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी § । एतस्याः  
 पयस्यायाः प्रकृतिभूतं पयः ॥ ; एतस्मादुत्पन्नाः प्रजा वर्धन्त  
 इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं यामोपयुक्तं द्रव्यं प्रशस्य तस्य वैश्वदेवत्वं प्रतिपादयति—  
 “तस्या मित्वादिना । ‘तस्या’ पयस्यायां प्रजननसाधनं ‘मिश्रुने’

\* “चामिच्चापयस्येति चानर्थात्तरम्”—इति या० दे० ( का० श्रौ०  
 सू० ४. ३. १० ) । “पयस्या भवति, पयो हि वा एतस्मादपक्रामति”—  
 इति ऐ० ब्रा० २. ३. ६ । “आण्डस्य वा एतद्रूपं यदामिच्चा”— इति  
 तै० ब्रा० १. ६. २०. ४ । तथाच वज्रदेशादिप्रसिद्धा ‘क्वाना’ एव पयस्याः  
 सैवामिच्चा चेति स्फुटम् ।

† “वैश्वदेव्यामिच्चा”— इत्यादि, “वाजिनो यजति, अग्निर्वायुस्सूर्यस्ते  
 वै वाजिनः”—इत्यादि च तै० ब्रा० १. ६. २, ३; तै० स० १. ८. २ । चामि-  
 च्चाया निःकृतं यन्नोरं तदेव वाजिनशब्दाभिधेय मिति च तद्वाच्योक्ते-  
 रेवावगम्यते ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ४. ८, ९ । “अमावास्यायां पयस्या मैत्रावरुणी”—  
 इति तत्पूर्वसूत्रम् । अत एव पयस्यां प्रकृत्येत्युक्तम् ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

॥ अत्र चोपरिष्ठात् ३ का० ३ अ० ३ ब्रा० २ क० ( ३ भा० १६५,  
 १७१ पृ० ) दशविधानां गव्यानां परिचयो द्रष्टव्यः ।

विद्यते । 'पयस्या'-शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् 'योषा', तदनु-  
निष्पादि 'वाजिनं' 'रेतः' पुंसो वीर्यम् ; 'तस्मात् मिथुनात्' 'अस-  
न्मितम्' अपरिमितम् इदं 'विश्वं' देवमनुष्याद्यात्मकम् 'अनु प्राजा-  
यत' अनुक्रमेण प्रजायते, प्रजात मभूत् । "तद्यदेतस्मादिति,  
प्रतिपादितार्थस्य हेतुत्वाभिधानम् । "तस्मादिति । यस्मात्  
विश्वोत्पत्तिहेतुः पयस्या, तस्माद् विश्वदेवदेवत्या कार्ये-  
त्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्तिमं हविर्विधत्ते— "अथेति \* । द्यावापृथिव्यौ देवते  
अस्येति 'द्यावापृथिव्यः' । "द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वत्"—इति-  
सूत्रेण † यत् । तत्र हि चकारिण यदित्यनुकथ्यते । तदेतत्पुरा-  
कृति सुदाहृतदृष्टान्तेन उपपादयति— "एतैर्वा इत्यादिना ।  
"द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णादिति । अधस्तात् पृथिव्या, उप-  
रिष्ठात् द्युलोकान्, तदुभयलोकवर्तिनीः सृष्टाः प्रजाः 'पर्यगृह्णात्'  
परितो वेष्टितवान् । याश्च 'इमाः' प्रजाः आभ्यां 'द्यावापृथिवीभ्यां'  
'परिगृहीताः' परिवेष्टिता एव वर्तन्ते, न पुनः स्वतो निग-  
च्छन्ति । "तथो एवेति । यथा प्रजापतिः, 'तथो' तथैव 'एषः'  
इदानीन्तनो यजमानोऽपि 'यः एतैः हविर्भिः प्रजाः सृजते', सृष्ट्वा  
च पयस्यायागेन तासां पयोरूप मन्त्रं परिकल्प्य, द्यावापृथिव्य-  
यागेन 'द्यावापृथिवीभ्यां' 'ताः' 'परिगृह्णाति' परिवेष्टयतीत्यर्थः ॥  
एवं विश्वदेवपर्वणि अष्टौ प्रधानयागा विहितः ‡, तद्वित-

\* "द्यावापृथिवीय एककपालः"— इति का० श्रौ० सू० ५. १. १६ ।

† पा० सू० ४. २. ३२ ।

‡ "एतद् वैश्वदेवम्"— इति का० श्रौ० सू० ५. १. २० वृत्तिद्रष्टव्या ।

निर्द्देशीषधिद्रव्यत्वास्त्रिङ्गसामान्याद् दर्शपूर्णमासविधयस्तत्राति-  
दिष्टाः ; “प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या” इति \* ॥ १७ ॥

तत्र यानि वैशिष्ट्यकानि † अङ्गानि तानीदानीं विधातुं प्रति-  
जानीते— “अथात आहुदेवेति । ‘अथ’-इति आनन्तर्यं । यतः  
प्रधानाना मङ्गापेक्षा, अतः कारणात् । ‘आहुत्’ शब्दः प्रकार-  
वाची । चोदकप्रामाया मितिकर्त्तव्यतायां प्रकारविशेषः कथ्यते ;  
न त्वन्यत् किञ्चिन्नूतन मत्र प्रतिपाद्यत इति ‘एव’-कारार्थः ।  
अग्निमन्यनादेर्वैशिष्ट्यकस्याङ्गस्य विधास्यमानत्वात् सहचरित ‡  
मुत्तरवेद्यावपन मपि प्रसक्तम्, तन्निषेधति— “नोपकिरन्तीति ।  
‘उत्तरवेदिं’ ‘नोपकिरन्ति’ नोपक्षिपन्ति, नोपवपन्तीत्यर्थः ।  
ऋत्विजां बहुत्वाद् बहुवचनम् । “कृ विक्षेपे”—इति § धातुः ।  
तत्र हेतु माह—“विष्टमिति । सत्यां ह्युत्तरवेदौ तत्रानुष्ठीय-  
मानमेतत् कर्म तथा निरुद्धगति स्यात् ; तदभावे तत्कृतनिरोधा-  
भावात् क्रियमाणं कर्म ‘विष्टं’ व्यापनशीलम् ‘असत्’ भवेत् ;  
अत एव परिच्छेदाभावात् ‘सर्वे’ कर्त्स्नं सम्पूर्णम् ‘असत्’ भवेत् ।  
कार्त्त्यादेव तद् ‘वेश्वदेवम्’ विश्वदेवसम्बन्धयोग्यम् ‘असद्’  
भवेत् ; न ह्यसर्वस्य सर्वदेवसम्बन्धो घटते ; अतो विष्टत्वादिसिद्धये  
उत्तरवेदिर्न कार्येत्यभिप्रायः ॥

\* “प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या”—इत्येवंरूपेणानुमानिकवचनेन—  
इत्यादि का० श्रौ० ४, ३, ३ सूत्र्याख्यायां याज्ञिकदेवः । तच्चानुमानं  
“दर्शपूर्णमासधर्मा इष्टिप्रशुषु सामर्थ्याद् दर्शनाच्च ; वैश्वदेवधर्माच्चातुर्मा-  
स्येषु वचनप्रवृत्तिभ्याम्”—इत्येवमादिभ्यो वचनेभ्य एव बोधनीति ।

† ‘वैशिष्ट्यकानि’—इति च ।

‡ ‘सहवाचित’—इति च ।

§ तु० प्र० १२८ ब्रा० ।

बर्हिंराहरणे विशेषं विधत्ते— “त्रेधाऽबर्हिरिति \* । ‘त्रेधा’  
त्रिविधं ‘बर्हिः’ प्रथमं सन्नद्य, ‘तत्’ एव ‘पुनः’ ‘एकधा’ एकावधं  
सन्नद्यति । त्रिशब्दात् एकशब्दाच्च “सञ्ज्ञाया विधार्थे  
धा”—इति † धा-प्रत्ययः । प्रजोत्पत्त्यनुकूलत्वेनेतत् स्तीति—  
“एतञ्चीति । यदेतत् त्रिधावद्भ्यस्य बर्हिषः पुनरेकधा संहृतम्,  
‘एतत्’ खलु ‘प्रजननस्य’ प्रजोत्पत्तेः स्वरूपम् । तदेतत् त्रिविधं  
प्रजननगतं दर्शयति— “प्रजननं सु हीति । ‘पिता, माता’,  
‘यत् जायते’ यज्जायमान मपत्यम् ‘तत्’, एतत् ‘तृतीयं’ तृतयम् ;  
इदमेव हि ‘प्रजननं’ प्रजातिः ‡ ; अस्य हि मातापित्रादिरूपेण  
त्रिवृत्त्वात्, प्रजननरूपेण चैकत्वात्, तत्साधनभूतस्य बर्हिष-  
स्तधर्मभाक्त्वं सूचितमित्यर्थः । तस्मिन्नेव बर्हिषि धर्मविशेषं  
विधत्ते— “प्रस्व इति § । प्रसुवते फलानीति ‘प्रस्वः’ पुष्यिता-  
ङ्गुराः ||, ते ‘उपसन्नहाः’ भवेयुः । “षूङ् प्राणिगर्भविमोचने” ¶ ।  
प्रपूर्वादस्मात् “सत्-सू-दिष”— इति \*\* क्तिप् । “ओः सुपि”—  
इति †† यण् । प्रसृतयुक्तानां कुशानां प्रस्तरत्वेन ग्रहणं विधत्ते—  
“तं प्रस्तर मिति ‡‡ । ‘तम्’—इति प्रस्तरापेक्षयैकवचनम् ।  
प्रसृभिः कुशैः प्रस्तराख्यं मुष्टिं सम्भरेदित्यर्थः ॥

\* का० श्रौ० सू० ५. १. २५ ।

† पा० सू० ५. ३. ४२ ।

‡ तैत्तिरीयके ( ब्रा० १. ६. ३. ) हीदं स्यष्ट मासनातम्— “त्रिट् बर्हि-  
भवति, माता पिता पुत्रः”—इत्यादि ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १. २६ क ।

|| ‘पुष्यितकुशाः’— इति छ ।

¶ अदा० प्र० २० धा० ।

\*\* पा० सू० ३. २. ६१ ।

†† पा० सू० ६. ४. ८३ ।

‡‡ का० श्रौ० सू० ५. १. २६ ख ।

एतस्य प्रकृतिकर्मानुकल्पना माह — “प्रजननं सु हीद मिति ।  
‘इदं हि’ वैश्वदेवाख्यं कर्म ‘प्रजननं’ प्रजोत्पत्तिसाधनम्, ‘प्रक्षः’  
प्रसूतयुक्ताः कुशाश्च फलोत्पत्तिहेतवः ; अतः साधर्म्यात् प्रसूतकुश-  
मयं प्रस्तरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रकृतितोऽप्राप्तत्वात् तत्कालविशिष्ट \* मग्निमन्थनं विधत्ते—  
“आसाद्य हवींषीति † । प्रकृतिवद्विरासादनान्तं कृत्वा अग्नि-  
मन्थनं कुर्यादित्यर्थः । तदेतत् प्रशंसति—“अग्निः११ हेति ।  
प्रथमसृष्टौ प्रजापतिरग्निं जनयित्वा तदनन्तरं मेव अन्याः प्रजाः  
सृष्टवान् ; अत इहान्नेर्जननं प्रजोत्पत्तिकारणं भवतीत्यर्थः । अत  
एव प्रागान्नातम्—“तद् या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्नि  
मभितो निविष्टाः”—इति ‡ ॥ १९ ॥

चोदकप्राप्तानां प्रजानां सङ्ख्यानंतरं विधत्ते § — “नवप्रयाजं  
भवतीति । नव प्रयाजाः अनुयाजाश्च यस्मिन् तत् ‘नवप्रयाजं,  
नवानुयाजं’ ; तथा कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥ । नवसङ्ख्यां प्रशंसति—  
“दशाक्षरिति । “उभयत इति । प्रधानयागात् पुरस्तादुपरि-  
ष्टाच्च । “न्यूनादिति । एकाक्षरेण ‘न्यूनात्’ । “एतस्माद्वा  
इत्यादि । ‘एतस्मात्’ उभयतोऽनुष्ठीयमानात् प्रयाजानुयाज-  
रूपात् एकाक्षरन्यूनात् ‘प्रजननात्’ प्रजननसाधनादित्यर्थः । “इत-  
श्चोद्धां इति । प्रयाजरूपात् प्रथमाद् विराजो मूलोकादारभ्योर्ष-

\* ‘प्रकृतितोऽप्राप्तकालविशिष्ट’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ५, १, २७ ।

‡ पुरस्तादिहैव चतुर्थकण्डिकायां ( २५१ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ ‘सङ्ख्यानंतरं माह’— इत्येव द-मुस्तके ।

॥ का० श्रौ० सू० ५, २, ७ ।

वर्त्तिनीः प्रजाः सृष्टवान् । उपरिष्ठात् क्रियमाणादनुयाजरूपाद्  
विराजो भूलोकात् अवाचीनाः प्रजाः सृष्टवान् । स्पष्ट-  
मन्यत् ॥ २० ॥

चोदकप्राप्तस्य समिष्टयजुषोऽपि सङ्ख्यानतरं विधाय प्रशं-  
सति \* — “त्रीणीति । तानि च सूत्रकृता दर्शितानि— “त्रीणि  
समिष्टयजूषि जुहोति, देवा गातुविदो यज्ञ यज्ञ मेष त इति †” —  
इति । “ज्याय इव हीद मिति । अन्यस्माद्विवर्यज्ञाद् दर्शपूर्ण-  
मासाद् ‘इदं’ वेष्टदेवपर्वरूपं हविः ‘ज्याय इव’ प्रष्टद्ध मिव हि ।  
ज्यायस्त्वे कारण माह— “यत्नेति । ‘यत्न’ यस्मिन् कर्मणि ‘नव-  
प्रयाजं नवानुयाजं’ भवति, तद्धि प्रकृतेर्ज्यायो भवति ; प्रकृतौ  
प्रयाजानां पञ्चत्वात् अनुयाजानां त्रिष्टत्वाच्च ॥

पक्षान्तर माह— “अथो इति । ‘एक मेव’ समिष्टयजुर्मवति,  
न तु त्रीणि ‡ । तत्र कारण माह— “हविर्यज्ञ इति ।  
‘हि’-शब्दो हेतौ । दक्षिणां विधत्ते— “तस्येति । यजमानस्य  
गोष्ठे प्रथमं जातः ‘प्रथमजः’, तादृशो ‘गौः’, ‘तस्य’ वेष्टदेव-  
पर्वणो दक्षिणात्वेन देय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

विहितस्य वेष्टदेवयागस्य प्रजाश्रीफलसाधनत्वं सदृष्टान्त सुप-  
संहरति— “एतनेत्यादिना § । “एतद् बभूवेति ॥ । ‘एतत्’

\* ‘सङ्ख्यानतर माह’—इत्थं च-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० ५. २. ६ ; वा० सं० ८. २१, २२, २२ ।

‡ “एकं वा वैश्वदेवे” इति का० श्रौ० सू० ५. २. १२ ।

§ “प्रजाकामस्यापि वैश्वदेवम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. २. २० ।

॥ यानि विशेषवस्तूनि नेष्टान्मातानि तानि सर्वाण्येव प्रायः काल्याण-  
मेन सूत्रिनानि ; तत्रैव नानि द्रष्टव्यानि ( श्रौ० सू० ५. १. २. ) ।



एतर्हि 'प्रजापतेः' 'या श्रीः' बभूवेत्यर्थः । "तस्मादिति । उप-  
संहृतस्य यागविधिर्निगमनम् \* ॥ २२ ॥ २ [ ५.१. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

व्वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः । प्रजाः ससृजे ता अस्य  
प्रजाः सृष्टा व्वरुणस्य युवान् † जक्षुर्व्वरुण्यो ह वा  
ऽअग्रे युवस्तद्यन्वेव ‡ व्वरुणस्य युवान् प्रादंसस्माद्  
वरुणप्रघासा नाम ॥ १ ॥

ता व्वरुणो जग्राह । ता व्वरुणसृष्टीताः  
परिदीर्क्षा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिशियरे च निषेदुश्च  
प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचक्रमतुरथान्याः सव्वर्वा  
देवता अपचक्रमुस्तयोहैवास्य हेतोः प्रजा न परा-  
वभूवुः ॥ २ ॥

\* तै० ब्रा० १. ६. १-३, तै० स० १. ८. १. २; एष्वशुवाकेषु चैतद्  
बैश्वदेवयागविधानादिकं मान्नातम्, तत् सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यं मिति ॥

† 'यवाञ्'— इति क, ग ।

‡ 'न्वेव'— इति क ।

ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषज्यत् ।  
 तद्याश्चैवाद्य प्रजा जाता आसन् याश्चाजातास्ता  
 उभयीर्व्वरुणपाशात् प्रामुञ्चत् \* ता अस्थानमीवा  
 अकिल्बिषाः † प्रजाः प्राजायन्त ‡ ॥ ३ ॥

अथ यदेष एतैश्चतुर्थे मासि यजते । तन्नाह  
 न्वेवैतस्य तथा प्रजा व्वरुणो गृह्णातीति देवा  
 अकुर्व्वन्निति त्वेवैष § एतत्करोति याश्च त्वेवाद्य ॥  
 प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयीर्व्वरुणपाशात् प्र-  
 मुञ्चति ता अस्थानमीवा अकिल्बिषाः ¶ प्रजाः प्रजा-  
 यन्ते \*\* तस्माद्वा ऽएष एतैश्चतुर्थे मासि यजते ॥ ४ ॥

तद्वै द्वे वेदी हावग्नी भवतः । तद्यद् द्वे वेदी  
 हावग्नी भवतस्तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्माद् द्वे वेदी  
 हावग्नी भवतः ॥ ५ ॥

स उत्तरस्था मेव वेदी । उत्तरवेदिमुपकिरति न

\* 'प्रामुञ्चत्'—इति पाठश्च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'अकिल्बिषाः'—इति क, ख ।

‡ 'प्राजायन्त'—इति घ, ङ ।

§ 'न्वेवैष'—इति घ, ङ ।

॥ 'न्वेवाद्य'—इति घ, ङ ।

¶ 'अकिल्बिषाः'—इति क, ग ।

\*\* 'प्रजायन्ते'—इति घ, ङ ।

दक्षिणस्यां चक्रं वै व्वरुणो व्विशो मरुतः सत्र मेवै-  
तद्विश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं चत्रिय  
मधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादुत्तरस्या मेव  
व्वेदा ऽउत्तरवेदि मुपकिरति न दक्षिणस्याम् ॥ ६ ॥

अथैतान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति । एतैर्वै  
हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो व्वरुण-  
पाशात् प्रजाः प्रामुञ्चदितश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मा-  
द्वा ऽएतानि पञ्च हवींषि भवन्ति ॥ ७ ॥

अथैन्द्राग्नी द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ।  
प्राणोदानौ वा ऽन्द्राग्नी तद्यथा पुख्यं चक्रुषे  
पुख्यं कुर्यादेवं तत्तयोर्हैवाख्य हेतोः प्रजा न  
पुराबभूवस्तत् प्राणोदानाभ्या मेवैतत् प्रजा भिषज्यति  
प्राणोदानौ प्रजासु दधाति तस्मादैन्द्राग्नी द्वादश-  
कपालः पुरोडाशो भवति ॥ ८ ॥

उभयत्र पयुख्ये भवतः । पयसो वै प्रजाः  
सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता यतः  
सम्भवन्ति तत एवैतदुभयतो व्वरुणपाशात् प्रजाः  
प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मादुभयत्र पयुख्ये  
भवतः ॥ ९ ॥

व्वारुण्युत्तरा भवति । व्वरुणो ह वा ऽअस्य  
 प्रजा अगृह्णात्तत् प्रत्यक्षं व्वरुणपाशात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चति मारुतो दक्षिणाजामितायै न्वेव मारुतो  
 भवति जामि ह कुर्याद्यदुभे व्वारुण्यौ स्याता मतो  
 ह वा ऽअस्य दक्षिणतो मरुतः प्रजा अजि-  
 घाऽसंस्तानेतेन भागेनाशमयत् तस्मान्मारुती  
 दक्षिणा ॥ १० ॥

तयोरुभयोरेव करीराद्यावपति । कं वै  
 प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कम्बेवैष एतत्  
 प्रजाभ्यः कुरुते ॥ ११ ॥

तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति । शं व्वै  
 प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत शम्बेवैष  
 एतत् प्रजाभ्यः कुरुते ॥ १२ ॥

अथ काय एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
 कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन  
 पुरोडाशेनाकुरुत कम्बेवैष एतत् प्रजाभ्यः काये-  
 नैककपालेन पुरोडाशेन कुरुते तस्मात् काय  
 एककपालः पुरोडाशो भवति ॥ १३ ॥

अथ पूर्व्वेद्युः । अन्वाहार्यपचने ऽतुषानिव

युवान् कृत्वा तानीषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि  
कुर्वन्ति यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरि-  
क्तानि ॥ १४ ॥

तत्रापि मेषं च मेषीं च कुर्वन्ति । तयो-  
र्मेषे च मेष्यां च यदनैडकीरुणा \* विन्देत्ताः  
प्रणिज्य निश्लेषयेद्यद् अन्नैडकीर्नं विन्देद्यो  
ऽपि कुशोर्णा एव स्युः ॥ १५ ॥

तद्यन्मेषश्च मेषी च भवतः । एष वै प्रत्यक्षं  
व्वरुणस्य पशुर्यन्मेषस्तत् प्रत्यक्षं व्वरुणपाशात्  
प्रजाः प्रमुञ्चति यवमयी भवतो युवान् हि जन्तुषी-  
व्वरुणा ऽगृह्णान्मिथुनौ भवतो मिथुनादेवैतद्  
वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥ १६ ॥

स उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेषी भव दधाति ।  
दक्षिणस्यां मेष मेव भव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो  
हि स्त्री पुमांस सुपशेते ॥ १७ ॥

स सर्वाण्येव हवींष्यध्वर्युः † । उत्तरस्यां व्वेदा-

\* 'यदनैलकीरुणा'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः  
इहोत्तरत्र 'ऽन्नैलकीर्नं'— इति चैव मेव ।

† 'र्युः'— इति व्र, ड ।

वासादयत्यथैता मेव पयस्यां प्रतिप्रस्थाता  
दक्षिणस्यां वेदावासादयति ॥ १८ ॥

आसाद्य हवींष्यग्निं मन्यति । अग्निं  
मन्यित्वानुप्रहृत्याभिजुहोत्यथाध्वर्युरेवाहाग्नये समिध्य-  
मानायानुब्रूहीति ता ऽउभादेवेध्मावभ्याधत्त उभौ  
समिधौ परिशिष्टे ऽउभौ पूर्वावाधारावाधारयतो  
ऽथाध्वर्युरेवाहाग्निमग्नीत् सम्मृङ्गीत्यसम्मृष्ट मेव  
भवति सम्प्रेषितम् ॥ १९ ॥

अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति । स पत्नी मुदा-  
नेध्यन् पृच्छति केन चरसीति व्वरुण्यं व्या ऽएतत्  
स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेन्मोऽन्तः-  
शल्या \* जुहवदिति तस्मात् पृच्छति निरुक्तं व्या  
ऽएनः कुनीयो भवति सत्यं हि भवति तस्मादेव  
पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यैत-  
दहितं स्यात् ॥ २० ॥

तां व्याचयति । प्रघासिनी हवामहे मरुतश्च  
रिशादसः । करम्भेण सजोषस इति यथा पुरोऽनु-  
वाक्येव मेधैतयेवैनानेतेभ्यः पाचेभ्यो ह्वयति ॥ २१ ॥

तानि वै प्रतिपुरुषम् \* । यावन्तो गृह्याः स्यु-  
स्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तत् प्रतिपुरुषं मेवै-  
तदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता व्वरुणपाशात्  
प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तद्या एवास्य  
प्रजा अजातास्ता व्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति तस्मा-  
देकेनातिरिक्तानि भवन्ति ॥ २२ ॥

पात्राणि भवन्ति । पात्रेषु ह्यशनं मृश्यते यव-  
मयानि भवन्ति यवान् हि जक्षुषीर्व्वरुणो ऽगृह्णाच्छूर्पेण  
जुहोति शूर्पेण ह्यशनं क्रियते पत्नी जुहोति मिथुना-  
देवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥ २३ ॥

पुरा यज्ञात्पुराहुतिभ्यो जुहोति । अहुतादो  
वै व्विशो व्विशो वै मरुतो यत्र वै प्रजापतेः प्रजा  
व्वरुणगृहोताः परिदीर्क्षा अनत्यश्च प्राणत्यश्च  
शिथ्यिरे † च निषेदुश्च तद्भासां मरुतः पाप्मानं  
व्विमथिरे तयो ऽएवैतस्य प्रजानां मरुतः पाप्मानं  
व्विमथते तस्मात् पुरा यज्ञात् पुराहुतिभ्यां  
जुहोति ॥ २४ ॥

\* 'धं'— इति घ, ङ ।

† 'शिथ्यिरे'— इति च इष्टो ङा०-वेवरेण ।

स \* वै दृक्षिणेऽग्नौ जुहोति । यद् ग्रामे  
 यद्दरस्य ऽइति ग्रामे वा ह्यरस्ये वैनः क्रियते  
 यत्सभायां यदिन्द्रिय ऽइति यत्सभाया मिति युन्मा-  
 नुष ऽइति तदाह यदिन्द्रिय ऽइति यद्वेवचेति  
 तदाह यदेनश्चक्रमा व्यय मिदं तदवयजामहे स्वाहेति  
 यत् किञ्च व्यय मेनश्चक्रमेदं व्ययं तस्मात् सञ्जस्मात्  
 प्रमुच्यामह ऽइत्येवैतदाह ॥ २५ ॥

अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति । यत्र वै प्रजापतः  
 प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेषिरे तद्देवाञ्चक्र  
 ऽइमे ह मे प्रजा न विमथीरन्निति ॥ २६ ॥

स एता मैन्द्रीं मरुत्वती मजयत् । क्षत्रं वा  
 इन्द्रो विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेधा नि-  
 षिधा † असन्निति तस्मादैन्द्री ‡ ॥ २७ ॥

मो षू णः । इन्द्राव पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा  
 ते शुष्मिन्नवयाः । महश्चियुस्य मीढुषो यव्या  
 हविष्मतो मरुतो व्वन्दते गीरिति § ॥ २८ ॥

\* 'सा'—इति क, ग ।

† 'निषिद्धा'—इति च इद्यो डा०-वेवरेण ।

‡ 'क्षी'—इति घ, ङ ।

§ 'गीरिति'—इति क, घ, ङ ।



अथैनां व्वाचयति । अक्रन् कर्म कर्मकृत इत्य-  
 क्रन् हि कर्म कर्मकृतः सह व्वाचा मयोभवेति सह  
 हि व्वाचाक्रन् देवेभ्यः कर्म कृत्वेति देवेभ्यो हि कर्म  
 कृत्वास्त्वं प्रेत सचाभुव इत्यन्यतो ह्योठया सह  
 भवन्ति \* तस्मादाह सचाभुव इत्यस्त्वं प्रेतेति जघ-  
 नार्धे वा ऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी ता मेतत् प्राचीं  
 यज्ञं प्रासीषदद् गृहा वा ऽअस्त्वं गृहाः प्रतिष्ठा तद्  
 गृहेष्वेवैना मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ २६ ॥

प्रतिपराणीयोद्देति प्रतिप्रस्थाता † । सम्मृज-  
 न्यग्निं सम्मृष्टे ऽभनौ ता ऽउभावेवोत्तरावाघारावा-  
 घारयतो ऽथाध्वर्युरेवाश्राव्य होतारं प्रवृणीते प्रवृत्तो  
 होतोत्तरस्यै व्वेदेर्हीदृषदन ऽउपविशत्युपविश्य  
 प्रसूति ता ऽउभावेव प्रसूतौ स्तुच आदायाति-  
 क्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह समिधो यजेति  
 यज-यजेति चतुर्थ-चतुर्थे प्रयाजे समानयमानौ  
 नवभिः प्रयाजैश्चरतः ॥ ३० ॥

अथाध्वर्युरेवाहाग्नये ऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्य-

\* 'भवति'—इति क, ग; डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'ता'—इति क, 'ता'—इति घ, ङ ।

भागं ता उभावेव चतुराज्यस्यावदायाति-  
क्रामतो ऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निं यजेति ता  
ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३१ ॥

अथाध्वर्युरेवाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य  
माज्यभागं ता ऽउभावेव चतुराज्यस्यावदायाति-  
क्रामतो ऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह सोमं यजेति  
ता ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३२ ॥

तद्यत् किञ्च व्वाचा कर्तव्यम् । अध्वर्युरेव  
तत् करोति न प्रतिप्रस्थाता तद्यदध्वर्युरेवाश्रा-  
वयतीहैव यत्र व्षट् क्रियते ॥ ३३ ॥

कृतानुकर एव प्रतिप्रस्थाता । ज्ञानं वै चरुणो  
व्विशो मरुतस्तत् चत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरा मनु-  
वत्मानं करोति प्रत्युद्यामिनीः ह चत्राय विश्वं  
कुर्याद्यदपि प्रतिप्रस्थाताश्रावयेत्तस्मान्न प्रतिप्रस्थाता-  
श्रावयति ॥ ३४ ॥

पाणाधिव प्रतिप्रस्थाता । स्रुचौ कृत्वोपास्तौ  
ऽथाध्वर्युरेवैतैर्हविर्भिः प्रचरत्याग्नेयेनाष्टाकपालिन  
पुरोडाशेन सौम्येन चरुणा सावित्रेण द्वादशकपालिन  
वाष्टाकपालिन वा पुरोडाशेन सारस्वतेन चरुणा

पौष्णेन चरुणैर्द्राम्नेन दादधकपालेन पुरोडाशेन  
॥ ३५ ॥

अथैताभ्यां पयस्याभ्यां प्रचरिष्यन्तौ द्विपरि-  
हरतः । स यो मेषो भवति मारुत्यां तं व्वारुण्या  
मवदधाति या मेषी भवति व्वारुण्यां तां मारुत्या  
मवदधाति तद्यदेवं द्विपरिहरतः क्षत्रं वै वरुणो  
व्वीर्यं पुमान्वीर्यं मेवैतत् क्षत्रे धत्तो ऽवीर्या वै स्त्री  
द्विशो मरुतस्तदवीर्यां मेवैतद्विशं कुरुतस्तस्मादेवं द्वि-  
परिहरतः ॥ ३६ ॥

अथाध्वर्युरेवाह व्वरुणायानुब्रूहीति । स  
उषस्तृणीत ऽञ्चाज्यं मथास्यै व्वारुण्ये पयस्यायै द्विरु-  
दयति सो ऽन्यतरुणावदानेन सह मेषं मवदधात्यथो-  
परिष्ठादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्तावदाने ऽअति-  
क्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह व्वरुणं यजेति व्वषट्कृते  
जुहोति ॥ ३७ ॥

सव्ये पाणावध्वर्युः \* । स्रुचौ कृत्वा दक्षिणेन  
प्रतिप्रस्थातुर्वा सो ऽन्वारभ्याह मरुद्भ्यो ऽनुब्रूही-  
त्युपस्तृणीत ऽञ्चाज्यं प्रतिप्रस्थाताथास्यै मारुत्यै

\* 'र्युः'—इति च, ५ ।

पयस्त्रायै द्विरवद्यति सो ऽन्यतरेणावदानेन सह  
मेषी मवदधात्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
नक्तावदाने ऽश्नतिक्रामत्यथाध्वर्युरेवाश्राव्याह मरुतो  
यजेति व्षट्कृते जुहोति ॥ ३८ ॥

अथाध्वर्युरेव कायेन \* । एककपालेन पुरो-  
डाशेन प्रचरति कायेनैककपालेन पुरोडाशेन  
प्रचर्याध्वर्युरेवाहाग्नेये स्विष्टकृते ऽनुब्रूहीति स  
सुर्वेषा मेव हविषा मध्वर्युः सकृत्सकृदवद्यत्यथैतस्या  
ऽएव पयस्त्रायै प्रतिप्रस्थाता सकृदवद्यत्यथोपरिष्ठाद्  
द्विराज्यस्याभिघारयतस्ता ऽउभावेवातिक्रामतो ऽति-  
क्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति त  
ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३९ ॥

अथाध्वर्युरेव प्राशिन्न मवद्यति । इडां समव-  
दाय प्रतिप्रस्थात्ने ऽतिप्रजिहीते तत्रापि प्रतिप्रस्थाता  
मारुत्यै पयस्त्रायै द्विरभ्यवद्यत्यथोपरिष्ठाद् द्विराज्यस्या-  
भिघारयत्युपहृत्य मार्जयन्ते ॥ ४० ॥

अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि । समिध  
माधायान्नि मग्नौत्संमृष्टीति स सुचोरेवाध्वर्युः पृष-

दाज्यं व्यानयते ऽथ यदि प्रतिप्रस्थातुः पृषदाज्यं  
 भवति तस्मै देधा व्यानयत ऽउतो तत्र पृषदाज्यं  
 न भवति स यदेवोपभृत्याज्यं तत् स देधा व्यानयते  
 ता ऽउभावेवातिक्रामतो ऽतिक्रम्याश्चाव्याध्वर्युरेवाह  
 देवान्यजेति यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थेऽनुयाजे समा-  
 नयमानौ नवभिरनुयाजैश्चरतस्तद्यन्मवप्रयाजं भवति  
 नवानुयाजं तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा ब्रतश्चावाचीस्तस्मान्नवप्रयाजं भवति  
 नवानुयाजम् ॥ ४१ ॥

ता ऽउभावेव सादयित्वा स्रुचो व्यूहतः । स्रुचो  
 व्युह्य परिधीन्त्समज्य परिधि मभिपद्याश्चाव्या-  
 ध्वर्युरेवाहेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो  
 मानुषः सूक्तवाकायेति सूक्तवाक् होता प्रतिपद्यते  
 ऽथैता ऽउभावेव प्रस्तारौ समुल्लुम्यत ऽउभावनुप्रहरत  
 उभौ तृणे ऽअपगृह्योपासाते यदा होता सूक्तवाक्  
 माह \* ॥ ४२ ॥

अथाग्नीदाहानुप्रहरति । ता ऽउभावेवानुप्रह-  
 रत ऽउभावात्माना ऽउपस्पृशेते ॥ ४३ ॥

पयस्त्रायै द्विरवद्यति सो ऽन्यतरेणावदानेन सह  
मेषी मवदधात्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
नक्तावदाने ऽश्नतिक्रामत्यथाध्वर्युरेवाश्राव्याह मरुतो  
यजेति व्षट्कृते जुहोति ॥ ३८ ॥

अथाध्वर्युरेव कायेन \* । एककपालेन पुरो-  
डाशेन प्रचरति कायेनैककपालेन पुरोडाशेन  
प्रचर्याध्वर्युरेवाहाग्नेये स्विष्टकृते ऽनुब्रूहीति स  
सुर्वेषा मेव हविषा मध्वर्युः सकृत्सकृदवद्यत्यथैतस्या  
ऽएव पयस्त्रायै प्रतिप्रस्थाता सकृदवद्यत्यथोपरिष्ठाद्  
द्विराज्यस्याभिघारयतस्ता ऽउभावेवातिक्रामतो ऽति-  
क्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति त  
ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३९ ॥

अथाध्वर्युरेव प्राशिन्न मवद्यति । इडां समव-  
दाय प्रतिप्रस्थात्ने ऽतिप्रजिहीते तत्रापि प्रतिप्रस्थाता  
मारुत्यै पयस्त्रायै द्विरभ्यवद्यत्यथोपरिष्ठाद् द्विराज्यस्या-  
भिघारयत्युपहृत्य मार्जयन्ते ॥ ४० ॥

अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि । समिध  
माधायान्नि मग्नौत्थंमृष्टीति स सुचोरेवाध्वर्युः पृष-

कामयेत तस्मै दद्यान्न हि दीक्षितवसने भवतः स  
यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवः सर्वस्मात् पाप्मनो  
निर्मुच्यते ॥ ४७ ॥

अथ केशश्मश्रूत्वा । समारोह्याग्नी ऽउदव-  
सायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तरवेदा-  
वग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवसति गृह्णानित्वा निर्मु-  
ध्याग्नी पौर्णमासेन यजत ऽउत्सन्नयज्ञ इव वा ऽएष  
युञ्जातुर्मान्ययेषु क्लृप्तः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्  
पौर्णमासं तत् क्लृप्तेनैवैतद्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति  
तस्मादुदवसति ॥ ४८ ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [ ५. २. ] ॥

विधिक्षितस्य वरुणप्रघासाख्यस्य \* द्वितीयस्य पर्वणो वरुण-  
पाशविमोचनहेतुत्व माख्यायिकया प्रतिपादयंस्तद्विधिं मुन्नयति †  
— “वैश्वदेवेन वा इत्यादिना । पुरा वैश्वदेवयागिन प्रजापतिना  
सृष्टाः ‘प्रजाः’ वरुणसम्बन्धिनी, ‘यवान्’ ‘जहुः’ [ भक्षयामासुः ।  
यवस्य वरुणदेवत्वत् माह— “वरुणो हेति । ‘अग्ने’ सृष्टिसमवे  
सृज्यमानः ‘यवः’ वरुणसम्बन्धी ‘एव’ अभवत् । अतो यवो  
वरुणस्य स्वभूतः । तत्रसङ्गात् वरुणप्रघासोऽस्य नाम निर्वृत्तम्

\* पुरस्तात् २५६ ए० \* टीप्पनी द्रष्टव्या ।

† ‘मुन्नयति’—इति च ।

“तद्यदिति । ‘तत्’ तथा सति ‘यत्’ यस्मात् ‘एव’ कारणात्  
 ‘वरुणस्य’ स्वभूतान् ‘यवान्’ ‘प्राट्’ प्रकर्षेणाभक्षयन्, ‘तस्माद्’  
 वरुणसम्बन्धियवप्रघासनात् ‘प्रजाः’ ‘वरुणप्रघासाः’ । तत्पाश-  
 ष्टहीतानां तासां पाशविमोचनाय क्रियमाणा यागा अग्न्युपचारेण  
 वरुणप्रयासाख्याः सञ्जाता इत्यर्थः । ‘जक्षुः’-इति, अदेर्लिटि  
 लुङि च ‘लुङ्सनोर्घञ्’-“लिव्यन्यतरस्याम्”-इति \* घञ्ज्ञादेशे  
 रूपम् ॥ १ ॥

यवादनानन्तरं वरुणकृत्य माह— “ता इति । ‘परिदीर्घाः’  
 परितो दीर्घाः, परितो दीर्यभाणावयवाः । “दृ विदारणे”-  
 इति, † अस्मात् निष्ठायां “श्रुप्रकः किति”-इति ‡ इट्-प्रतिषेधः,  
 “ऋत इक्षातोः”-इतीत्वम् §, ; “ल्वादिभ्यः”-इति ॥ निष्ठातका-  
 रस्य नकारः । “अनत्यश्चेत्यादि । वरुणपाशप्रहणादेव हेतोः  
 ‘अनत्यः’ चेष्टमानाः, हस्तपादादिधूननं कुर्वाणाः, ‘प्राणत्यश्च’  
 प्राणनव्यापारं प्रवृत्तौच्छ्वासादिलक्षणं कुर्वत्यः, ‘शिश्यिरे च,  
 निषेदुश्च’ शयनासनाभ्या मेव कालं नीतवत्यः, न पुनर्व्यापारा-  
 न्तरक्षमा बभूवुरित्यर्थः । “प्राणोदानौ हेत्यादि । ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्यः सकाशात् केवलं प्राणोदानावेव ‘नापचक्रमतुः’ ; ‘अन्याः’  
 तु ‘सर्वाः’ वाक्चक्षुरादौन्द्रियाधिष्ठाहदेवता अन्याद्याः ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्योऽपक्रान्ताः ; आसा मिन्द्रियपाटव मपि प्रमृष्ट मित्यर्थः ।  
 “तयोर्हेवेति । ‘तयोः’ प्राणापानयोरेवानपक्रमणाहेतोः ‘अस्य’  
 प्रजापतेः ‘प्रजाः’ ‘न पराबभूवुः’ न विनष्टाः ॥ २ ॥

\* अदा० प० १ घा० । पा० सू० २. ४. ३७, ४० ।

† कदा० प० २० घा० ।

‡ पा० सू० ७. २. ११ ।

§ पा० सू० ७. १. १०० ।

॥ पा० सू० ८. २. १४७ ।



“ता एतेनेत्यादि । वरुणपाशग्रहणजनित मुक्तविधं प्रकार  
मालोक्य ‘प्रजापतिः’ ‘एतेन’ वरुणप्रघासाख्येन ‘हविषा’ ‘ताः’  
प्रजाः ‘अभिषज्यत्’ अचिकित्सत् । “भिषज् चिकित्सायाम्”—  
इति धातुः \* । तेन च भेषजेन ‘जाताः’ ‘अजाताः’ जनिष्यमाणा-  
खोभयविधाः ‘प्रजाः’ ‘वरुणपाशात्’ ‘प्रामुञ्चत्’ । तस्य बिमोचने  
सति ‘अस्य’ प्रजापतेः प्रजाः ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः, ‘अकिञ्चि-  
षाः’ रोगनिदानभूतपापरहिताश्च अभवन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

विधत्ते— “अथ यदिति । ‘अथ’-शब्दो वैश्वदेवानन्तर्यं ।  
‘एषः’ यजमानः वैश्वदेवानन्तरं ‘चतुर्थे मासि’ ( सम्पूर्णं सति † )  
‘एतेः’ वस्यमाणैर्हविर्भिः ‘यजते’ ‡ । अप्रामार्थत्वाद् वर्त्तमान-  
निर्देशः । विधिरुन्नेतव्यः । यच्छब्दो हेतौ ; यस्माद्वरुणप्रघासैर्यजते,  
‘तत्’ तस्मात् । ‘अह’, ‘गु’, ‘एव’— इति निपाताः । ‘नव’  
खलु ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘प्रजाः’ तथा ‘वरुणो गृह्णाति इति’ ।

“देवा इत्यादि । पुरा खलु ‘देवाः’ एव मेव वरुणप्रघासम्  
‘अकुर्वन्’ । ‘तु’-शब्दोऽप्यर्थः । ‘एषः’ अपि यजमानः ‘इति’  
एवम् ‘एव’ ‘एतत्’ एतर्हि ‘करोति’ ।

इत्थं मनुष्यकर्तृकयागस्य देवकर्तृकेन योगिन साम्यात् तादृक्-  
फलसाधनत्व माह— “याञ्चेति । उक्तार्थं मेतत् । “तस्माद्वा  
इति, वरुणप्रघासविधेर्निगमनम् ॥ ४ ॥

\* भिषज्यतिः कण्ठादिः ।

† एते पदे च-पुस्तकादप्यत्र न दृश्येते ।

‡ “अथ यच्चतुर्षु चतुर्षु मासेषु स चातुर्यास्तयाजी । वसन्ते वैश्वदेवेन  
यजेत, प्राट्षि वरुणप्रघासैः, शरदि शाकमेधैः”—इति व्याप० औ० सू०  
८, ४, १३ । का० औ० ५, ९, १६, २० सूत्रे ऋह विवेक्तव्ये ।

तेषु वरुणप्रघासेषु चोदकतो वेदेराहवनीयस्य चैकत्वे प्राप्ते  
द्वित्वं विधत्ते— “तद्वै द्वे इति \* । ‘तत्’ तत्र वरुणप्रघासेषु ।  
वेद्याहवनीययोर्द्वित्वं मनूद्य प्रयोजनकथनेन स्तौति— “तद्य-  
दिति । दक्षिणत उत्तरतश्च स्थिताभ्यां वेदिभ्या मग्निभ्याम् ,  
‘तदुभयतः’ दक्षिणत उत्तरतश्च पार्श्वद्वयादेव ‘वरुणपाशात्’  
‘प्रजाः’ ‘प्रमुञ्चति’ । “इतयोर्द्वा इति प्रागुक्तार्थम् † ॥ ५ ॥

उत्तरवेदिनिवपनं विधत्ते— “स इति । हयोर्वेद्योर्या ‘उत्तरा’  
उत्तरदिगवस्थिता तस्या भेव वेद्या माहवनीयायतने ‘उत्तरवेदिम्’  
‘उपकिरति’ उपस्त्रिपति । एवकारयोर्व्यावर्त्यं दर्शयति— “न  
दक्षिणस्या मिति । ‘दक्षिणस्यां’ वेदी उत्तरवेदिः ‘न’ कार्येत्यर्थः ।  
तत्रोत्तरवेदिनिर्माणं सूत्रकृतापि दर्शितम्— “उत्तरवेदिं निव-  
पति उत्तरस्यां, शम्या मादाय चात्वालं मिमीते”—इति ‡ ॥

तदेतत् स्तौति— “क्षत्रं वा इति । “यान्येतानि देवत्रा  
क्षत्राणीन्द्रो वरुणः”—इति अग्रे समान्नास्यते § ; अतो वरुणो देवेषु  
मध्ये क्षत्रियः, भरुतो देवविशः । तत्रोत्तरस्या मादी वरुण इज्यते  
दक्षिणस्यां भरुतः । अत एवेदानीं लोके तथा दृश्यत इति  
प्रसिद्धि मुदाहरति— “तस्मादिति ॥ ६ ॥

वेश्मदेवे पर्वणि आदितो यान्याग्नेयादीनि पञ्च हवींषि ॥ ,  
तान्यत्रापि विधत्ते— “अथैतानीति । अयोगव्यवच्छेदार्थं

\* का० श्रौ० सू० ५. ३. ६—१८ ।

† पुरस्तादिहैव २७०८० १८ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ३. १६, २० । तत्रान्यथापि द्रष्टव्यम् ( ३३ सू० ) ।

§ अत० ब्रा० १४. ४, २, २३ ।

॥ पुरस्तादिहैवाध्याये १ ब्रा० अष्टमकण्ठीतो द्रष्टव्यानि ।

एवकारः । तदेतत् स्तूति— “एतैर्वा इति । एतानि वरुण-  
पाशविमोचने विहितानि हवींषि प्रजापतिः साधनत्वेन यतः  
प्रागुक्तवान् , अतोऽत्रापि तेषा मनुष्ठान मुपपन्न मित्यर्थः । “इत-  
श्चोक्षा इति, व्याख्यातम् \* ॥ ७ ॥

षष्ठं भागं विधत्ते † — “अथेन्द्राग्न इति । तत् प्रशंसति—  
“प्राणोदानावित्यादिना । “तद्यथेति । तत्र लोके यथा ‘पुण्यं’  
शोभन मुपकारं कृतवते प्रत्युपकाररूपं ‘पुण्यं’ शोभनं ‘कुर्यात्’,  
‘एवम्’ एव तदिन्द्राग्न्योर्हविर्निर्वयणम् । ताभ्यां कृत मुपकारं  
दर्शयति— “तयोरिति । प्राणोदानात्मकयोस्तयोरवस्थानादेव कार-  
णात् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘प्रजा न पराबभूवुः’ । प्रामान्नातम्—  
“प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचकमतुः”—इति ‡ । “तत् प्राणो-  
दानाभ्या मित्यादि । ‘तत्’ तस्मात् प्राणोदानरूपयोरिन्द्राग्न्यो-  
र्यागाभ्याम् ‘एव’ ‘एतत्’ ‘प्रजाः’ वरुणपाशशृङ्गीताः चिकिषति,  
तौ ‘प्राणोदानौ’ एव तासु ‘प्रजासु’ स्थापयति । “तस्मादिति,  
प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ८ ॥

वेदिह्वयेऽपि पयस्यां विधत्ते— “उभयत्वेति § । ‘उभयत्र’  
अध्वर्युकर्तृकाया मुत्तरस्यां वेद्यां प्रतिप्रस्थात्कर्तृकायां दक्षि-  
णस्यां च । ( द्वे ॥ ) ‘पयस्ये’ हविषी ‘भवतः’ । वरुणपाश-

\* पुरस्तादिहैव २७० पृ० १८ पं० द्रष्टव्यम् ।

† ‘षष्ठं’ हविरैन्द्राग्नौ द्वादशकपालः पुरोडाशी भवति—इति का०  
श्रौ० ५. ४. २३६० ।

‡ अत्रैव २७२ पृ० १४ पं० ।

§ ‘अवरोक्त मुत्तरम्’—इति का० श्रौ० स० १. १०. ५ । “दक्षिण  
प्रतिप्रस्थातुः”—इति च का० श्रौ० सू० ५. ४. २५ ।

॥ च-पुस्तकादन्वय नैतत् पद मस्ति ।

विमोचनानुकूलं पयस्यायाः प्रतिपादयति — “पयसो वा इति । पुरा प्रजापतिना सृष्टाः ‘प्रजाः’ तदीयस्तन्यरूपात् ‘पयसः’ ‘सम्भू-  
ताः’ वर्द्धिताः, इदानीं मपि मानुषाः स्तन्यरूपात् पयस इव ‘सम्भ-  
वन्ति’ वर्द्धन्ति । “तद्यत एवेति, अस्यार्थस्यानुवादः । ‘तत एव’  
सम्भूतिहेतोः ‘पयसः’ कारणात् ‘उभयतः’ दक्षिणत उत्तरतश्च  
पार्श्वद्वयात्, प्रजानां वरुणपाशविमोचनं कृतवान् भवति ॥ ८ ॥

अध्वर्युकर्तृकायाः पयस्याया देवतां विधाय स्तौति — “वारु-  
णीति \* । उत्तरस्यां वेद्यां या पयस्या, सा वरुणदेवताका कार्या ।  
“तत् प्रत्यक्ष मिति । देवतान्तरयागेन वरुणपाशविमोचनं  
परोक्षम्, वरुणदेवताकेन तु यागेन ‘तत्’ पाशविमोचनं ‘प्रत्य-  
क्षम्’ एवेति वरुणदेवताकत्वं युक्ततर मित्यर्थः ।

प्रतिप्रस्थानकर्तृकायाः पयस्याया देवतां विधाय स्तौति —  
“मारुती † दक्षिणेति । दक्षिणस्यां वेदौ क्रियमाणा पयस्या मरु-  
देवताका भवेत् । “अजामिताया इति । वरुणदेवतां परित्यज्य  
‘अस्याः’ पयस्याया यत् मरुत्क्षणादेवतान्तरकरणम्, तत् जामिता  
दोषराहिलाय भवति । व्यतिरेकेण तदेवाह — “जामीति ।  
‘यद्’ यदि ‘उभे’ अपि दक्षिणोत्तरपयस्ये वरुणदेवताके ‘स्याताम्’,  
तदा प्रयुक्तस्या एव देवतायाः पुनःप्रयोगो नवीकरणाभावात् अल-  
सतारूपजामितादोषः स्यादित्यर्थः ।

मारुतत्वे कारणान्तर माह — “अतो ह वा इति । ‘अतः’  
अस्मद्दृष्ट्याणादपि हेतोः दक्षिणा पयस्या मारुती कार्या । अस्य  
हि प्रजापतेः सम्बन्धिनी प्रजा पुरा दक्षिणतः स्थितानां मरुता

\* ‘वारुणी अध्वर्याः’—इति का० श्रौ० ५. ४. २३ सू० या० दे० ।

† ‘मारुती महात्र्यां प्रतिप्रस्थाना दक्षिणस्याम्’—इति का० श्रौ० ५. ५. ५ ।

सुपशमनाय दक्षिणतः क्रियमाणेषा पयस्या मारुती कार्य-  
त्यर्थः ॥ १० ॥

करीराणा मावपनं विधाय स्तौति - “तयोरिति । तयो-  
रुभयोः पयस्ययोः करीराणि प्रक्षिपत् \* । मधुराः फलविशेषाः  
करीराणि ; तानि चोत्तरापथे प्रसिद्धानि † । “कं वा इत्यादि ।  
‘करीरैः’ एतैः करीरफलैः ‘प्रजापतिः’ ‘प्रजाभ्यः’ अस्माकं ‘कं’  
सुखम् ‘अकुरुत्’ तस्मादिदानी मध्येष यजमानस्तदावपनेन सुख  
मेव प्रजाभ्यः कुरुते ॥ ११ ॥

शमीपर्णाना मावपनं विधत्ते — “तयोरिति । ‘शमीपला-  
शानि’ शम्याः पर्णानीत्यर्थः । “शं वा इत्यादि । ‘शम्’ उपद्र-  
वाणां शमनमित्यर्थः । स्पष्टमन्यत् । अत एवोक्तं कात्यायनेन —  
“उभयोः करीराण्यावपति शमीपलाशमिश्राणि”—इति ‡ ॥ १२ ॥

अथान्तिमह विधत्ते — “अथ काय इति । कः प्रजापति-  
देवता अस्य , ‘सास्यदेवता’—इत्यणि § “कस्येत्”—इति ॥ ‘क’-

\* “वाजिने निषिच्योभयोः करीराण्यावपति”—इति का० श्रौ० सू०  
५. ५. १ । “यतीना मवद्यमानानां शोर्षाणि परापतन् ते खर्जूरा अभ-  
वन् तेषां रसजर्होऽपतत्तानि करीराण्यभवनसौम्यानि वै करीराणि  
सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टिं च्यावयति यत् करीराणि भवन्ति”—  
इति तै० सं० २. ४. ६. ४ ।

† राजस्थान प्रदेशीय जयपुर पत्तनादावपि बहु जायन्त इमानि सुमिष्ट  
क्षुद्रफलानि ; अवह्वयन्ते चैतदामानि शाकार्यं मपीति दृष्टम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १ । “शमी नाम कण्टकी वृक्षः, तस्य पर्णानि  
शमीपलाशानि । करीरोऽपि अपरुषः कण्टकीवृक्षः, तस्य फलानि करी-  
राणि । शमीपर्णानां करीरफलानाञ्च तुल्यत्वम्”— इत्यादि च तत्र था० दे० ।

§ , ॥ पा० सू० ४. २. २४, २५ ।

शब्दस्यकारान्तादेशः । एतस्य हविषः प्रयोजनमाह— “कं वा इति । सुखात्मको हि प्रजापतिः ‘क’-शब्दवाच्यः । अतस्तद्देवताकेन यागेन सुखकारणमुपपन्नमिति भावः ॥ १३ ॥

करम्भपात्राणां निर्माणं विधत्ते— “अथ पूर्वद्युरिति । यस्मिन् दिवसे वरुणप्रघासयागः, ततः ‘पूर्वेद्युः’ पूर्वं दिवसे । “अन्वाहार्यपचने इति । अन्वाहार्यी नामिष्टिः । दक्षिणदिग्भागे मरुतो ‘जिघांसन्’ हन्तुमैच्छन्; तान् प्रजापतिरेतेन पयस्यारूपेण भागेन ‘अशमयत्’ शमितवानिति यावत्, तस्माद् । दक्षिणात्वेन देयं ओदनो यस्मिन् पच्यते स तथोक्तः । तस्मिन् दक्षिणाग्नी ‘अतुषान्’ तुषरहितान् ‘कृत्वा’, सम्पूर्य ‘तान्’ ईषदिव’ अत्यल्पमिव ‘उपतप्य’ अपयित्वोदकेनालोढ्य, तैः ‘करम्भपात्राणि’ अष्टयवचूर्णाः \* करम्भाः, तन्मयानि पात्राणि ‘कुर्वन्ति’ अध्वर्युयजमानादयः † । कियन्ति तानि पात्राणीत्यपेक्षायामाह— “यावन्त इति । यावत्सङ्ख्याका यजमानस्य ‘गृह्याः’ स्वगृहे वर्त्तमानाः पुत्रपौत्रादिरूपा ज्ञातयो भवेयुः, ‘तावन्ति’ तावत्सङ्ख्याकानि करम्भपात्राणि कार्याणि । तानि च जनिष्यमाणापत्यार्थम् ‘एकेन’ ‘अतिरिक्तानि’ अधिकानि कार्याणि ‡ ॥ १४ ॥

करम्भपात्रावशिष्टाद् यवपिष्टादेव मेषमेधीलक्षणमिथुनस्य

\* ‘पिष्टचूर्णाः’— इति च ।

† करम्भो दध्ना संयुताः सक्तवः, तन्मयानि पात्राणि करम्भपात्राणीति का० श्रौ० ५. ५. २ सू० या० दे० ।

‡ “यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकानि”— इति का० श्रौ० सू० ५. ३. ३ । तत्र इतोऽतिरिक्ते चेमे मृचे— “प्रजायां वा जातश्रुतेः, त्रीणि वा नित्यवान्”— इति ४. ५ ।

निर्माणं विधत्ते— “तत्रापीति । ‘अपि’-शब्द एवकारार्थः । ‘तत्र’ करम्भपात्रनिर्माणसमये एव , तेनैव पिष्टेन मेषमेथ्यौ कर्त्तव्ये \* । “तयोरिति । सम्भूयानुदितयोः । ‘मेषे च मेष्याञ्च’ इति षृथगुपादानं विश्वष्टार्थम् । “यद्यनैडकीः †” इति । एङ्को ‡ मेषः, तत्-सम्बन्धुरहिता अनेङ्कः, ‘जर्णाः’ कम्बलोपादानभूतानि तज्जातीयानि रोममयानि § सूत्राणि । यदि तास्तथाविधा जर्णाः ‘विन्देत्’ लभेत, तदा ‘ताः’ ‘प्रणिज्य’ प्रक्षाल्य, तयोः मेषमेथ्योः ‘निस्लेषयेत्’ संस्लेषयेत् ॥ । ‘यद्यु’ यदि खलु “अनेङ्कीः” जर्णाः “न विन्देत्” न लभेत, तर्हि “कुशोर्णा एव स्युः” कुशमया एवोर्णाः , तयोः संस्लेषणीयाः भवेयुः ¶ ॥ १५ ॥

मेषमेथ्योः करण मनुद्य स्तीति— “तद्यदिति । “वरुणस्य पशुयन्मेष इति । ‘यद्’ ‘एषः’ खलु ‘प्रत्यक्षं’ ‘वरुणस्य’ हविर्भूतः ‘पशुः’ । अत एव पश्वेकादशिन्याम् “अधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्ण एकश्रितिपात् पितृः”—इत्याम्नायते \* \* । पेलो विगतपुंस्को मेष इति हि तत्रार्थः । “यवान् हीति । ‘हि’ यस्माद् ‘यवान्’ ‘जञ्जुषीः’ भक्षितवतीः प्रजाः ‘वरुणः’ “अग्रह्णात्”, अतस्तद्यवप्रत्यर्पणाय मेषमेथ्योर्यवत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० ५. ३. ६ । निस्तुषा मभृष्टयवकरम्भस्यैव मेष मेषाकारं प्रतिरूपकम् मेषीं मेषाकारां प्रतिहृतिञ्च करोति”—इति या० दे० ।

†, ‡ ‘नैलकीः’, ‘एङ्को’ च ।

§ तज्जातीयरोममयाणि—इति च ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ३. ७ ।

¶ का० श्रौ० सू० ५. ३. ८

\* \* वा० सं० २६. ५८

तयोः स्त्रीपुंसरूपता मनूय स्तौति— “मिथुनौ भवत इति ।  
‘मिथुनाद्’—इत्येतद् ‘वरुणपाशाद्’—इत्यस्य विशेषणम् । द्वैरूप्याधि-  
करणाद् दक्षिणस्यां मिषो न मोचनहेतुः \* ॥ १६ ॥

अथ तयोः प्रक्षेपं विधत्ते— “स इति । अध्वर्युकर्तृकायाम्  
‘उत्तरस्याम् पयस्यायां’ ‘मिषीम्’ ‘अवदधाति’ प्रक्षिपति । प्रति-  
प्रस्थात्कर्तृकायां ‘दक्षिणस्यां’ ‘मिषं’ प्रक्षिपति । अनयोर्दक्षिणो-  
त्तरभावं लोकन्यायेनोपपादयति— “एव मिवेति † ॥ १७ ॥

हविषा मामादनं विधत्ते— “स सर्वाण्येवेति । आग्नेयादीनि  
‘सर्वाण्येव हवींषि’ ‘उत्तरस्यां’ ‘वेदौ’ वेद्यां ‘सः अध्वर्युः’ ‘आसा-  
दयेत्’, ‘प्रतिप्रस्थाता’ तु ‘एताम्’ मारुतीं ‘पयस्या मेव’ ‘दक्षि-  
णस्यां’ वेद्या मामादये दित्यर्थः ‡ ॥ १८ ॥

हविरासादनोत्तरकाल मग्निमन्यनं विधत्ते— “आसाद्येति ।  
‘अग्निं मथित्वेत्यादि । अग्निमन्यनानन्तरजातम् ‘अग्निम्’ आह-  
वनीये “भवतन्नः”—इति § मन्त्रेण ‘अनुप्रहृत्य’ प्रक्षिप्य, “अग्ना-  
वग्निः”—इति ॥ मन्त्रेणाभिजुहुयात् । एतच्चाग्निमन्यनादिकम् ¶  
‘अध्वर्युः’ एकः ‘एव’ कुर्यात् ; न प्रतिप्रस्थातेत्यभिप्रायः । दक्षि-  
णोत्तरयोरुभयोरप्याहवनीययोरहुत्यधिकरणत्वेनेधादीनां समि-  
न्धनीयत्वात् तद्हेतुभूतः सामिधेनीप्रैषोऽपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्प्रस्था  
सुभाभ्यां प्रयोक्तव्य इत्याशङ्क्याह— “अथाध्वर्युरेवेति । ‘एव’-कारः

\* का० श्रौ० सू० ५. ५. २. ३ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. ५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. ४ ।

§ वा० सं० ५. ३ ।

॥ वा० सं० ५. ४ ।

¶ “अग्नये मथ्यमानायानुवाचयति, मन्यति गायत्रेणेति ( का० श्रौ०  
५. २. )”—इत्यादीनि मृचाणीहालोच्चारानि ।



प्रतिप्रस्थाद्व्याहृत्यर्थः । एकस्याहवनीयस्य देशभेदेन द्विधावस्थानात् , प्रतिप्रस्थातुराहवनीयान्तराभावात् , प्रेष्यस्य च हेतुरुभयत्रैकत्वाद् , अध्वर्युणोच्यमान एव प्रेष उभयत्रोपकरोति, ता उभौ समिधावित्यभिप्रायः । इध्माधानादिकन्तु ताभ्यां समनुष्ठेय मित्याह— “ता उभाविति । ‘तौ’ अध्वर्युप्रतिस्थातारौ ‘उभौ’ । अथाध्वर्युरेव कर्तव्य माह— अथाध्वर्युरेवेति । हे ‘अग्नीत् !’ ‘अग्निम्’ आहवनीयं ‘सम्सृष्टि’ सम्भार्जनेन संस्कुरु । “असंसृष्ट मेवेति । करभ्रपात्राणां होमस्य कालविधिः । अग्नि मग्निदिति सम्प्रेषे कृते तदर्थत्वात् आग्नीध्रेणानुतिष्ठत इत्यर्थः \* ॥ १८ ॥

तस्य च करभ्रपात्राणां होमस्य पत्नीकर्तृकत्वं विधिलुस्तस्यासम्भावितस्य पुरुषान्तरसम्प्रतिजनितस्यैनसः प्रश्नं दर्शयति— “अथ प्रतिप्रस्थातेति । अग्नि मग्नीदिति सम्प्रेषानन्तरं ‘प्रतिपरैति’ निवर्त्तते , पत्नी यत्रास्ते तं देशं प्रतिगच्छेदित्यर्थः । ‘सः’ च प्रतिप्रस्थाता ‘पत्नीम्’ ‘उदानेष्वन्’ उदागमयिष्वन् । तां पत्नीं ‘पृच्छन्ति’,— त्वं ‘केन’ जायेण ‘चरसि’ वर्त्तसे ‘इति’ † । पुरुषान्तरसङ्गतेर्दीधान्तरता माह— “वरुण्य मिति । येन पापेन हेतुना वरुणपाशबन्धो भवति, तत् पापं ‘वरुण्यम्’ । ‘अन्यस्य’ पुरुषस्य पत्नी ‘सती’, ‘अन्येन’ पुरुषान्तरेण सह ‘चरति’ वर्त्तते यत् , एतत् वरुण्य मेव ‘स्वीकरोति’ । प्रष्टुः प्रतिप्रस्थातुरभिप्राय माह— “अथो इति । ‘अथो’ अपि च एषा पत्नी ‘अन्तःशल्या ‡’ शरीरमध्ये दुश्चरितजनितेन पापरूपेण शल्येन § युक्ता सती ‘न इत्’ नैव ‘मि’ मदीयेऽग्नी ‘लुहवत्’ ‘इति’ । ‘तस्मात्’ कृतस्य

\* का० श्रौ० सू० ५, ५, ६ क ।

† का० श्रौ० सू० ५, ५, ६ ख ।

‡, § ‘शल्या’, ‘प्ल्येन’ च ।

पापस्य कनीयस्त्वम् । 'तस्माद् वेवेति । 'उ'-शब्दोऽपीत्यर्थे ,  
'एव'-कारो भिन्नक्रमः । तस्मादपि कारणात् पृच्छत्येवेत्यर्थः \* ।

विपक्षे बाधोपन्यासेन परन्या अपि यथार्थभाषणं कर्तव्य  
मिति विधत्ते— "सेति । 'यत्' यदि 'सा' पत्नी पृष्ट मर्थं 'न  
प्रतिजानीत' न प्रतिब्रूयात् , 'तत्' तदा, 'अस्यै' षडर्थे चतुर्थी,  
अस्याः पत्न्याः 'ज्ञातिभ्यः' 'अहितम्' अनिष्टं स्यात् , तस्माद्  
वस्तुतो विद्यमानं वृत्तान्तं माचक्षीतेत्यर्थः । तैत्तिरीयकेऽप्या-  
न्नायते— "यज्जारं सन्तं न प्रब्रूयात् , प्रियं ज्ञातिं रुभ्यात् ,  
असौ मे जार इति निर्द्दिशेदिति † । तदुक्तं कात्यायनेन — "प्रति-  
प्रस्थाता पत्नी मानिष्यन्नाह केन चरसीति संस्तुतानाचष्टे"—इति ‡ ।  
संस्तुताः परिजाता जारा इत्यर्थः ॥ २० ॥

तस्या वाचनं विधत्ते — "तां वाचयतीति । "प्रघासिनः"  
-इत्यादिर्वाचनीयो मन्त्रः § । तस्याय मर्थः— 'प्रघासिनः'  
प्रघासः प्रघमनीयं भोज्यं हविः , तद्वतो 'मरुतः' "शुक्रज्योतिश्च  
चित्त्रज्योतिश्च"—इत्यादिना प्रतिपादितनामधेयान् एकोनपञ्चा-  
शत्सङ्ख्याकान् देवान् 'हवामहे' आह्वयामः । यतो 'रिशदसः'  
रिशाः हिंसकाः शत्रवः , तेषां निरसितारः । 'करम्भेण' करम्भ-

\* पत्नी एतावन्तो मे जारा इति नामग्राहं कथयति , वस्तुना  
वस्तुना जारेण सह चरामीति वा ; नो चेन्नान्येनेति । यदि लज्जादि-  
वशात् न कथयति, प्रति जारं लक्षणानि उद्गृह्णाति । का० श्रौ० ५. ५.  
७-१० सू० इत्यादिषु द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० १. ६. ५. २ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. ६. ७ ।

§ वा० सं० ३. ४४. १ ।

पात्ररूपेण हविषा 'सजोषसः' समानप्रीतयश्च भवन्ति, तान् मरुत इति ।

एतन्मन्त्रं पुरोऽनुवाक्यानुवचनसादृश्येन स्तौति — “यद्येति । ‘पुरोऽनुवाक्या’ हि यच्चमाणदेवताह्वानार्था, ‘एवम् एव’ ‘एषा’ प्रधासिन इत्यृक् । अतः ‘एतया एव’ ‘एतान्’ मरुतः ‘एतेभ्यः’ ‘पात्रेभ्यः’ करम्भपात्रेभ्यः ‘ह्वयति’ होष्यमाणं करम्भपात्रलक्षणं हविर्भोक्तुं माह्वयतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

“करम्भपात्राणि कुर्वन्ति यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्ति”—इति वाक्येन प्राग्विहितम् \*, तदनु स्तौति — “तानि वा इति । ‘प्रतिपुरुषं’ पुरुषं पुरुषं प्रत्येकैकं करम्भपात्रं भवति । यावन्त इत्याद्युक्तार्थम् । पुरुषसङ्ख्याया पात्रनिर्माणस्य प्रयोजन माह—“तत् प्रतिपुरुष मिति । ‘अस्य’ यजमानस्य ‘याः प्रजाः जाताः’, ‘ताः’ ‘प्रतिपुरुषं’ प्रत्येकम् ‘एकैकेन’ पात्रेण ‘वरुणपाश्र्वात्’ ‘प्रमुञ्चति’ । एतदतिरिक्ततामनूद्य स्तौति—“एकेनेति । जनिष्यमाणानां प्रजानां वरुणपाश्र्वविमोचनार्थं मेक मतिरिक्तं कर्त्तव्यं भित्यर्थः ॥ २२ ॥

पुरोडाशादिरूपतां विहाय पात्ररूपेण निर्माणं सुपपादयति— “पात्राणीति । ‘हि’ यस्मात् ‘पात्रेषु’ कांस्यादिनिर्मितेषु ‘अशनम्’ अन्नम् ‘अश्नते’ भुज्यते, अतो मरुतां पयस्यारूपस्यान्नस्य भोजनीयपात्ररूपेणैव निर्मातव्यानीत्यर्थः । यवमयत्वं मनूद्य स्तौति—“यवमयानीति । ‘जक्षुषीः’ भक्षितवतीरित्यर्थः । अथ तेषां करम्भपात्राणां होमं विधत्ते — “शूपंगेति † । जुह्वादि

\* पुरस्तात् पृ० २७६ पं० १ द्रष्टव्यम् ।

† “करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्ध्नि कृत्वा दक्षिणे ऽग्नौ प्रत्यङ्मुखो ज्ञायापतौ वा”—इत्यादि का० श्रौ० सू० ५. ५. ११ ।

पात्रं विहाय शूर्पेणैव तानि जुहुयात् । तेन हि 'शूर्पेण' तुषनिर्व-  
पनद्वारा \* 'अशनम्' अन्नं 'क्रियते', अतः न चात्र शूर्पी हेत्वर्थः  
शङ्कनीयः ; "हेतुर्वास्यादर्थवत्तोपपत्तिभ्याम्, सुतिसु शब्दपूर्व-  
त्वात्"—इत्यधिकरणे † सुतित्वेनान्वयस्य प्रतिपादितत्वात् । "पत्नी  
जुहोतीति कर्तृविधिः ‡, मिथुनदेवेत्यादि तत्प्रशंसा । स्त्रिया  
अपि कर्तृत्वेन होमोऽन्वयात् मिथुनं सम्पद्यते । तथाच यजमान-  
पत्नीरूपात् मिथुनादेवेत्यय मर्थः सिध्यति ॥ २३ ॥

स्रुवाधारहोमादेः पूर्वभावित्वं करभपात्रहोमस्य विधत्ते—  
"पुरेति । यज्ञो वषट्कारप्रदानो यजतिचोदित आग्नेयः, आहु-  
तयः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतिचोदिताः । एतत्पूर्वभावित्वं सुप-  
पादयति— "अहुताद इति । अहुतं होमसंस्काररहितम् अदन्ति  
भक्षयन्त्यहुतादः । मरुतां वैश्यजातित्वेन अहुतादानधर्मवत्त्वात्  
सर्वहोमात् पूर्वं तेभ्यो हविःप्रदानं युक्तं मिति भावः । इतोऽपि  
करभपात्राणां पूर्वहोम इत्याह— "यत्नेति । 'परिदीर्क्षाः'—इत्या-  
दिकं व्याख्यातम् § । 'यत्' यदा खलु 'प्रजापतेः प्रजाः' 'वरुण-  
गृहीताः' परिदीर्क्षत्वादि-रोगग्रस्ता अभवन्, 'तत्' तदा 'आसां'  
प्रजानां प्रधानं 'मरुतः' 'विमेथिरे' विलोपयन्ति ॥ स्म, संश्ले-

\* 'सुरापवनद्वारा'—इति च ।

† मी० जै० सू० १, २, २६—३० ; अधि ३ ।

‡ 'करभपात्राणि पत्नी जुहोति, जुहुस्थानापत्नेन शूर्पेण ; मस्तक-  
स्योपरि शूर्पं कृत्वा । यद्वा पत्नीयजमानौ जुहुतो नैकाकिनौ पत्नी'  
—इति तत्र वृत्तौ या० दे० ।

§ २८७ पृ० ८ पङ्क्तिं द्रष्टव्यम् ।

¶ 'विलोपयन्ति'—इति च ।

धितवन्त इत्यर्थः । 'तयो एव' 'एतस्य' यजमानस्य 'प्रजानां' वरुणपाशगृहीतानां 'पाप्मानं' पाशविमोचनात् प्रागेव मरुतः 'विमयन्ते' संविश्लेषयन्ति । 'तस्माद्' वरुणपाशविमोचनार्थाद् यज्ञात्, 'आहुतिभ्यः' च पूर्वं मेव करम्भपात्राणां होमेन मरुतां शंसनं \* युक्तमित्यर्थः ॥ २४ ॥

अग्निविशेषं विधत्ते— "सा वा इति । 'सा' खलु पत्नी 'दक्षिणे' दक्षिणस्यां वेद्या मवस्थिते आहवनीये 'अग्नी' 'जुहोति' । "यद् ग्राम इति † । तं पदशोऽनूद्य व्याचष्टे— "यद् ग्रामे इत्यादिना ‡ । 'यत् एनः क्रियते', 'तत्' ग्रामे वा अरण्ये वा भवति । "यत् सभाया मिति, द्वितीयपादस्य कात्स्न्येनानुवादः । तत्र प्रथमाह मनूद्य सभाशब्दं व्याचष्टे— "यत्सभाया मिति । यत्सनुष्यसङ्घैः एनः क्रियत इति योऽर्थः, अयं मेव यत्सभाया मिति मन्त्रभागः प्रतिपादयतीत्यर्थः । यदिन्द्रियपदस्य देवसङ्घ-परत्वमाह— "यदिन्द्रिय इति । 'इन्द्रिये' इन्द्रसम्बन्धिनि देव-समूहे । तदुत्तरभागमनूद्य व्याचष्टे— "यदेन इति । ग्रामादि-स्थानेषु यत् पापचयं 'चक्रम' कृतवन्तः, 'तत्' पापम् 'इदम्' इदानो करम्भपात्रलक्षणेन हविषा 'अवयजामहे' समर्पयामः । 'स्वाहा'—इति निपातो दानार्थे, स्वाहुतमिदमस्त्विति मन्त्रभाग-स्यार्थः । "तस्मात् सर्वस्मादित्यादि । कृतस्वैनसोऽवयजनं नाम 'तस्मात् सर्वस्मात्' 'प्रमोचनं' विश्लेषः । ग्रामारण्यादिस्थानभेदेन बहुविधस्वैनसः सङ्गहाय सर्वस्मादिति विशेषणम् ॥ २५ ॥

\* 'शंसनं'—इति च ।

† वा० सं ३. ४५. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. ११ ।

यजमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते— “अथिति । ‘अथ’-शब्दो होमानन्तर्ये, ‘ऐन्दीम्’ इन्द्रदेवताकाम्, ‘मरुत्वती’ मरुत्त्वच्छब्द-युक्ताम्, “मो षू ण इन्द्र”-इत्यादिका मृचं \* यजमानो जपेदित्यर्थः । उक्तं हि सूत्रकृता— “मो षू ण इति यजमानो जपति”—इति † । मरुत्वदिन्द्रदेवताका मृचं प्रशंसति— “यत्रेति । ‘मरुतः पाप्मान मित्यादि । यदा खलु वरुणपाशेन बद्धाः प्रजाः, तासां यद् बन्धनकारिणं पापं ‘मरुतः’ ‘विमथिरे’ विलोपितवन्तः, ‘तत्’ तदानां प्रजापतिः खलु ‘ईचाञ्चक्रे’ पर्यालोचितवान्— ‘इमे’ खलु ‘मरुतः’ मदीयाः ‘प्रजाः’ न विमथीरन्’ न विबाधेरन् ‘इति’ ॥ २६ ॥

“स एता मिति । ‘मः’ प्रजापतिः पूर्वोक्तरूपं पर्यालोच्य ‘एताम् ऐन्दीं मरुत्वतीम् ऋचम् ‘अजपत्’ । अत्रेन्द्रस्य प्रसङ्गमाह— “क्षत्रं वा इति । ‘इन्द्रः’ खलु क्षत्रियजातिः, तस्येन्द्रस्य ‘विशो मरुतः’; क्षत्रियो हि प्रजानां ‘निषेधा’ निरोधकः, तेनेन्द्रेण ‘निषेधाः’ निवारिता भवेयुः । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेन्द्रदेवताकाया ऋचो जप इत्यर्थः ॥ २७ ॥

ता मृचं पठति— “मो षू ण इति । अस्य चाय मर्थः । हे ‘इन्द्र !’ ‘अत्र’ एषु ‘पुत्सु’ । सङ्ग्रामनाभैतत् । अस्मदीयाः प्रजाः ‘मा उ सु हिंसीः’ । ‘हि शुष्मिन्’ बलवन्निन्द्र ! ‘देवैः’ मरुद्भिः सहितः ‘ते’ तव ‘अवयाः’ । अवपूर्वाद् “अवयाः श्वेतवाः”—इति ‡ निपात्यते । अवयजमानरूपकरश्मपात्रहोमः ‘अस्ति’ खलु । ‘महश्चित्’ महतोऽपि ‘मीढुषः’ सेक्तुः ‘यव्याः’ । “सुपां सुलुक्”—

\* वा० सं० ३. ४६. १ ।

† का० औ० सू० ५. ५. १२ ।

‡ पा० सू० ८. २. ६७ ।

इति \* भिस आडादेशः । यवमयेर्हविभिः 'हविष्मतः' 'यस्य'  
इन्द्रस्य 'मरुतः' देवाः अनुचराः 'गीः' स्तुतिरूपा वाक् 'वन्दते'  
स्तौति । "वदि अभिवादनस्तुत्योः"—इति † धातुः । 'इति  
इत्यस्य पूर्वत्वान्वयः ॥ २८ ॥

पत्न्या वाचनं विधत्ते— "अथैना मिति । तं वाचनीयं  
मन्त्रं पदशोऽनूय व्याचष्टे— "अक्रन् कर्मेति ‡ कर्म कुर्वन्तीति  
'कर्मकृतः' यजमानाः ; ते हि इदानीं करभ्रपात्रहोमरूपं 'कर्म'  
'अक्रन्' अकार्षुः । अतोऽक्रन् कर्मेति मन्त्रभागवाचनं युक्तम् ।  
द्वितीयपादस्यार्थः प्रसिद्ध इत्याह— "सह हीति । 'मयोभुवः'  
मयसः सुखस्य भावयित्रा मन्त्ररूपया वाचा सह एतत् कर्म  
'अक्रन्' अकार्षुः । "दिवेभ्य इत्यादि । हे यजमानस्यामात्या  
ऋत्विजश्च यूयं वरुणप्रघासाख्यकरभ्रपात्रहोमरूपं च कर्म देवार्थं  
'कृत्वा' । 'अस्तं' गृहनामैतत् ; यजमानस्य गृहान् 'सचा भुवः'  
पत्न्या सह भवन्तः , सह वर्त्तमानाः 'एत' आगच्छतेति मन्त्रभाग-  
स्यार्थः । स चा भुव इत्येतद् व्याचष्टे— "अन्यत इति । अन्य-  
स्माद् देशाद् पत्न्यासनलक्षणात् 'ऊढया' आहवनीयसमीपं प्रापि-  
तया पत्न्या सह खल्विदानीं वर्त्तन्ते, तस्मात् सचाभुव इत्येतद् यथा-  
र्थम् । अस्तं प्रेत्यत्याभिप्राय माह— "जघनार्द्धं वा इति ।  
ता मेतत् प्राची मिति । यज्ञस्यापरभागेऽवस्थितां 'ताम्' 'एतत्'  
एतर्हि 'प्राचीं' प्राग् गच्छन्तीम् , पूर्वभागसम्बन्धिनीं 'यज्ञं' 'प्रासी-  
षदत्' प्रापीपत् प्रतिप्रस्थाता । सदर्शङ्गि चङ्गि रूपम् । "गृहा  
वा अस्त मिति । अस्यते क्षिप्यते सर्वं वस्तुजात मस्मिन्निति 'अस्तं

\* पा० सू० ७, १, ३६ ।

† भा० आ० ११ ।

‡ वा० मं० ४, ४७, १ ।

गृहाः । “त्तोऽधिकरणे च”—इति \* क्ष-प्रत्ययः । ‘एतत्’ एतेन  
 “अस्त्वं प्रेत”—इति मन्त्रभागवचनेन गृहरूपाया मेव ‘प्रतिष्ठायां’  
 पुनः ‘एनां’ स्थापितवान् भवति † ॥ २८ ॥

अक्रन् कर्म्मति मन्त्रवाचनानन्तरं कर्त्तव्यं सुपदिशति—  
 “प्रतिपराणीयोर्देतीति । पतिं प्रतिनिवर्त्य स्वस्थानं प्रापयितुं  
 ‘प्रतिप्रस्थाता’ ‘उदैति’ उद्गच्छेत् ‡ । “अग्निं मग्नीत्”—इति  
 प्रैषसम्भार्जनयोर्मध्ये कर्त्तव्यं मुक्ता, तत्सम्भार्जनप्रभृति प्रकृतिव-  
 देवानुष्ठेय मिति दर्शयति— “सम्भृजन्तीत्यादिना । एकस्मिन्न-  
 प्याग्नीध्रे पूजार्थं बहुवचनम् । एव माहवनीये ‘अग्नी’ ‘सम्भृष्टे’,  
 ‘उभाविव’ । एवकारोऽप्यर्थे । उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ  
 ‘उत्तरौ आघारौ आघारयतः’ दीर्घधारया जुहुतः । हविर्वेद्य-  
 म्नीनां भेदः प्रतिप्रस्थातुः अपि दक्षिणेऽग्नौ आघारादिकं सर्वं प्रयोम-  
 जात मध्वर्युवदनुष्ठेयम् । अत एव तैत्तिरीयकम्— “यदेवाध्वर्युः  
 करोति, तत् प्रतिप्रस्थाता करोतीति § ।

“अध्वर्युरेवाश्रावयेदित्यादि । प्रवरप्रयाजाज्यभामादिसम्प्रैषस्य  
 प्रेषस्य हातुरेकत्वात् कालभेदाच्च अध्वर्युर्णैव कृतः प्रैष उभयत्रापि  
 तन्त्रेणोपकरोतीत्येवकाराभिप्रायः । प्रवरादीनां चोदकप्राप्तानां  
 मनुवादः । तेषां स्वरूपं प्रथमकाण्डे व्याख्यात मिति ॥ नेह  
 पठ्यते । प्रतिप्रस्थातुरपि कर्त्तव्यं प्रतिपादयति— “उत्तरस्यै वेदे-

\* पा० सू० ३. ४. ७६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. १३ क । ‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १४ ।

§ “ऽसिद्ध मेवाध्वर्युर्दक्षिणेन प्रपद्यते, ऽसिद्धम् प्रतिप्रस्थातोत्तरम्”  
 —इति विशेषविधिश्च तै० सं० ६. ५. ३. ६ द्रष्टव्यम् ।

॥ ४१० २ ब्रा० ( १ भा० ३२७—३४४ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।



रित्यादि । होता सोदत्यस्मिन्निति होलषदनम् । उत्तरस्या वेद्याः सम्बन्धिनि 'होलषदने' स्थानि ; न दक्षिणस्या इत्यर्थः । 'प्रसौति' अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ; प्रयाजान् कर्तुं युगादाने प्रेरयति । "पु प्रसर्वश्वर्ययोः"—इति \* धातुः । 'प्रसूती' प्रेरितौ , अनुज्ञाता-वित्यर्थः । "सूच आदायेति । अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारुभयोरपि प्रत्येकं जुह्वपश्रुतौ स्तः †, तदभिप्रायेण सूच इति बहुवचनम् । "समिधो यज"—इति प्रथमप्रयाजसम्प्रैषः । द्वितीयादिषु "यज"—इत्येव सम्प्रैषः ‡ । वीष्मा द्वितीयादिषु सर्वत्र सम्बन्धार्था । "चतुर्थे-चतुर्थे"—इति वीष्मा द्वित्वापेक्षया । उभावपि 'चतुर्थे चतुर्थे प्रयाजे' अपि हुत माज्यं जुह्वं 'समानयमानौ' प्रतिनयन्तौ 'नवभिः' नवसङ्घातैः 'प्रयाजैः चरतः § ॥ ३० ॥

आज्यभागयोरपि प्रतिप्रस्थात्साहित्यं विधातु माह— "अथाध्वर्युरिति । उभावेवेति । उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ध्रौवस्य 'आज्यस्य' सकाशात् 'चतुरवदाय' जुह्वां चतुर्गृहीत्वैत्यर्थः । "वषट् कृते जुहुत इति । एकस्मिन्नेव वषट्कारे उभावपि स्वस्वाहवनीये जुहुत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

"अथाध्वर्युरेवाह सोमायेत्यादि । एतेन ! द्वितीयाज्यभाग-स्थानुष्ठानप्रकारः प्रतिपादितः । सामिधेनिप्रेषादौ 'आश्राव्य' आश्रावणेन अध्वर्युरेवेति ॥ ३२ ॥

\* अदा० प० ३१ घा० ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. १५ ।

‡ "यजयजेत्युत्तरौ"—इति का० श्रौ० सू० ३. ५. ७ । "उत्तरौ-इवानुयाजौ यजयजेत्येव प्रेष्यति, प्रथम एव देवान् यजेति"—इति तत्र या० दे० । आप० श्रौ० सू० ३. ५. १ च द्रष्टव्यम् ।

§ "नवप्रयाजं नवानुयाजम्"—इति का० श्रौ० सू० ५. २. ७ ।

तत्र तत्र यत् प्रसङ्गत उक्तम्, तदिदानीं विधत्ते— “तद्य-  
दिति । ‘यत्’ किमपि आश्रावणादिकं ‘वाचा कर्त्तव्यं’ वागि-  
न्द्रियसाध्य मिति, ‘तत्’ ‘अध्वर्युरेव’ कुर्यात् । ‘प्रतिप्रस्थाता’  
तूष्णीं क्रियमाण मनुतिष्ठेत्, आश्रावणादिकं वाचा न प्रयुञ्जीत ।  
इमा मेव श्रुति मभिप्रेत्य सूत्रित मापस्तम्बेन— “यत् किञ्च वाचा-  
कर्मीण मध्वर्युरेव तत् कुर्यात्”—इति \* । अस्य नियमस्य प्रयोजन  
माह— “तद्यदिति । ‘यत्र’ उत्तरस्यां वेद्यां ‘वषट् क्रियते’  
होत्रा वषट्कारः प्रयुज्यते, ‘इहैव’ अस्मिन्नेव स्थाने ‘अध्वर्युरेव  
आश्रावयति’ † ॥ ३३ ॥

“कृतानुकर एवेति । ‘प्रतिप्रस्थाता’ ‘कृतानुकरां’ कृतानु-  
कुर्वाणाम् ‘अनुवर्त्मानम्’ अनुगमनशीलां ‘करोति’ । विपक्षे बाध  
माह— “प्रत्युद्यामिनो मिति । ‘यद्’ यदि हि अध्वर्युवत् प्रति-  
प्रस्थातापि पृथगाश्रावणं कुर्यात्, तदा ‘क्षत्राय’ वैश्यजातिं  
‘प्रत्युद्यामिनीं’ प्रत्युद्यमनशीलां ‘कुर्यात्’ । “तस्मादिति, उक्ता-  
र्यानुगमनम् ‡ ॥ ३४ ॥

“पाणावेवेति । एव मुभौ अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ आज्यभागाभ्यां  
प्रचर्य, ‘प्रतिप्रस्थाता’ हस्ते एव जुहूपभृती धारयन् ‘उपास्ते’  
उपविशति, आ पयस्याप्रचरणकालात् । ‘अध्वर्युः’ तु ‘एतैः’

\* आप० श्रौ० सू० द. ५. १७ । ‘वागिति वागिन्द्रिय मुच्यते, तज्जन्यो  
शापारो वाचाकर्म, तत्कार्यं कर्म वाचाकर्मीणम्’—इति तद्वृत्तिः ।

† “प्रणीतापत्नीसमह्वनाग्निमन्थनाश्रुतप्रत्याश्रुतप्रेषयजमानवाचन-  
शोषधनवरणप्राग्नित्राङ्गुलिपर्वाङ्गनावान्तरेडाभागापराम्नावभृथाम् प्रतिप्र-  
स्थाता”—इति का० श्रौ० सू० ५. ४. ३३ ।

‡ “कृतानुकरोऽन्यत्र दक्षिणस्थाम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. ४. ३४ ।

आग्नेयादिभिः स्ववेद्या मासादितैः 'हविर्भिः' 'प्रचरति' । तानि हवींषि परिगणयति— "आग्नेयेनेत्यादिना ॥ ३५ ॥

"अथैताभ्यामित्यादि । एव मैन्द्रान्पर्यन्तैः षड्भिर्हविर्भिरिष्ट्वा 'अथैताभ्यां' वारुणीमारुतीभ्यां 'पयस्याभ्यां' 'प्रचरिष्यन्ती' यज्ञं तावध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ मेघमेष्यौ 'विपरिहरतः' । तदेव विपरिहरणं दर्शयति— "स य इति । "सः उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेषीम्"—इत्यादिना \* विधानात् 'वारुण्यां मेषी' स्यात्, 'मारुत्यां मेघः' । तत्र यो मारुत्यां मेघो भवति, तं तत आह्वय वारुण्यां स्थापयेत् ; या च मेषी वारुण्याम्, तां तत आह्वय मारुत्यां स्थापयेत् † । तदेतद् विपरिहरणं मनूय स्तौति— "तद्यदेव मिति । मेघो हि पुंरूपत्वाद् वीर्यरूपः ; वरुणश्च चत्रियजातिः ; तस्मिन् चत्रियमेघस्य निधानात् 'वीर्यं मेव एतत् धत्तः' । 'अवीर्या' वीर्यं सामर्थ्यम्, तद्रहिता खलु 'स्त्री' ; मरुतश्च वैश्यजातिः ; मारुते हविषि स्त्रीपशीमेंस्था निधानात् तां वैश्यजातिम् अवीर्यां वीर्यरहिता मेव कुरुतः ॥ ३६ ॥

विपरिहरणानन्तरं वारुण्या पयस्यायाः प्रचरणं विधत्ते— "अथाध्वर्युरिति । "वरुणायानुब्रूहीति । होतारं प्रत्यनुवाक्यार्थं सम्मेष मुक्त्वा, जुह्वा मुपस्तीर्य, 'अस्यै वारुण्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । वारुण्या पयस्यायाः 'द्विरवद्यति' । 'सः' अवद्यन्नध्वर्युः 'अन्यतरेण' पूर्वेण उत्तरेण वा 'अवदानेन' 'सह' कृत्स्नं 'मेषं' स्तुचि 'अवदधाति', पुनरभिघार्य अवसप्रदेशे हविःप्रत्यञ्जनं कुर्यात् । स ततो ऽतिक्रमणादीनि प्रकृतिवत् कुर्यादित्यर्थः ‡ ॥ ३७ ॥

\* पुरस्तात् २७६४० १३पं० द्रष्टव्यम् । † का० श्रौ० सू० ५. ५. १७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १८ ।

प्रतिप्रस्थातुर्माख्या पयस्यायाः प्रचरणे विशेष माह— “सव्ये पाणाविति । स्वकीये ‘सुची’ जुह्वपभृतौ अध्वर्युः आत्मीये ‘सव्ये पाणौ’ क्त्वा , ‘दक्षिणेन प्रतिप्रस्थातुः’ ‘वासोऽन्वारभ्य’, “मरुद्भ्यो-ऽनुब्रूहि”—इति होतारं प्रतिप्रेष्य, उपस्तरणादिकं प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् ।

स प्रतिप्रस्थाता पूर्वेषोत्तरेण वावदानेन सह कर्त्स्नं मेघं सुचि अवदध्यात् । ततो मेघीं वारुण्या प्रत्यञ्जनेनेति । ततः प्रति-प्रस्थाता वेदी मन्तिक्रामति । अनन्तर अध्वर्युरेव तदीयं वासोऽन्वारभ्य मरुतो यजेति ब्रूयात् । होतुर्याज्यान्ते वषट्कृते सति केवलं प्रतिप्रस्थाता दक्षिणे आहवनीये हविर्जुहोति, त मनु किञ्चिद् वाचाप्याहरेत् । एतत् सर्वं सङ्गृह्य कात्यायनेन सूत्रितम्— “पयस्याप्रचरणकाले मेघौ व्यतिहरतो ऽन्यतरिणावदानेन सह मेघं सव्येन सुची गृहीत्वा प्रतिप्रस्थातुर्वासो दक्षिणेन मरुद्भ्योऽनुवाच-यति वारुणीषदवदानम्”—इति \* ॥ ३८ ॥

कायेन हविषा प्रचरणं विधत्ते— “अथेति । प्रधानयागानन्तर मनुष्ठेयं खिष्टकृदादिप्रयोगजातं सर्वं मनुक्रामति— “अध्वर्युरेवाहा-ग्नये खिष्टकृत इत्यादिना † । “अनुब्रूहि”—इति खिष्टकृद-यागस्य पुरोऽनुवाक्याप्रेषः । अनुष्ठितं प्रधानयामं न्यूनातिरेकदोष-परिहारेण खिष्टं शोभनं यज्ञं करोतीति खिष्टकृत् ।

“सर्वेषा मेवेति । आग्नेशादि-कायान्तानाम् ‡ । “सकृदिति । प्रधानयागस्य । द्विरवदानप्रसक्तिं वारयति— “एतस्या एवेति । ‘एतस्याः’ माख्याः पयस्यायाः ‘एव’ हविषः सकाशात् खिष्टकृदर्थं

\* का० श्रौ० सू० ५. ५. १७—२० ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. २१ । ‡ ३५ ३६—कण्डिकासु दृश्यम् ।

‘सक्त’ एव अवद्येत्, नान्यस्मादित्येवकारार्थः । चतुरवदानसम्पन्नये अभिघारणस्य द्वित्वं विधत्ते— “अथोपरिष्ठादिति । ‘द्विः’ क्रियाभ्याद्वृत्तिगणनेऽर्थे, “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्”—इति \* द्विशब्दात् सुच् ॥ ३८ ॥

“अथाध्वर्युरेव प्राशित्र मिति । प्रतिप्रस्थातुः प्राशित्रावदानं नास्तीत्येवकारार्थः । तस्य पयस्यारूपहविषः सान्नाय्यविक्रतित्वात् प्रकृतौ सान्नाय्यात् प्राशित्रावदानस्यादर्शनादित्यभिप्रायः । “इडां समवदायेति । सर्वेभ्यो हविर्भ्यः सम्भूय एकस्मिन्निडापात्रे अवद्यादित्यर्थः । “अति प्रजिहीत इति । उत्तरां वेदि मतिक्रमय्य तदिडापात्रं प्रगमयेदित्यर्थः † । “ओ हाङ् गती”—इत्यस्मात् ‡ अन्तर्णीतख्यर्थास्त्रिंशति रूपम्, “भृजा मित्”—इति § अभ्यासस्येत्त्वम् । “मारुत्यै पयस्याया इति, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । “द्विरःस्यस्याभिघारयतीति । अध्वर्युरेव, न प्रतिप्रस्थाता ॥ ४० ॥

“अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामीति । इडोपह्वानादिकं प्रकृतिवदेव कृत्वा, अनुयाजार्थं मभ्यनुज्ञापकं मिमं प्रैषं अध्वर्युरेव ब्रूयात् । “यत् किञ्च वाचा कर्त्तव्यं मध्वर्युरेव तत् करोति”—इति प्राक् प्रतिपादितस्यायं प्रपञ्चः ॥, प्रैषार्थः प्रकृतिवर्णितः । “स सुचोरेवेत्यादि । ‘सः’ अध्वर्युः ‘सुचोः’ जुहूपभृतोः ‘एव’ ‘पृषदाज्यं’ दधिभिन्नं माज्यं ‘व्यानयते’ विविधं मासिञ्चति । पृषदाज्यधानीगतं पृषदाज्यं जुह्वा मर्हं मासिञ्च, शिष्टं माज्यं सुपभृति

\* पा० सू० ५. ४. १८ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. २२ ।

‡ जु० प० ७ घा० ।

§ पा० सू० ७. ४. ७६ ।

॥ पुरस्तात् २८२ पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् ।

आनयेदित्यर्थः । प्रतिप्रस्थातुः पक्षद्वय माह— “अथ यदीति \* ।  
 आज्यग्रहणकाले यदि प्रतिप्रस्थाता पृषदाज्यं गृह्णीयात्, तत्  
 पृषदाज्यम्, इदानीं स प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युवत् जुहूपभृतोः द्विधा  
 व्यासिञ्चेत् । “उतो इति, पक्षान्तरद्योतने । यदि तु तत्र ग्रहण-  
 समये पृषदाज्यं न गृह्णीतं भवति, तदा स प्रतिप्रस्थाता उपभृति  
 स्थितं यदेवाज्यं विद्यते, तस्यैपभृतस्याज्यस्य अर्घं प्रथमं जुहा  
 मासिच्य, शिष्ट माज्यं चतुर्थे प्रयाजे आसिञ्चेदित्यर्थः ।

आसेचनानन्तरं कर्त्तव्य मतिक्रमणादिक मुपदिशति— “ता  
 उभावेवेत्यादिना । ‘देवान् यज’—इति प्रथमोऽनुयाजप्रैषः । ‘यज यज’  
 —इत्यादि सर्वत्र । “नित्यवीप्सयोः”—इति † यजेत्यस्य द्विवचनम् ।  
 जीह्वेन पृषदाज्येन त्रिरिद्धा, ‘चतुर्थे-चतुर्थे’ अनुयाजे औपभृतम् ।  
 ‘समानयमानौ’ उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ‘नवभिः अनुयाजैः’  
 ‘चरतः’ प्रचरत इत्यर्थः । उभयापेक्षया ‘चतुर्थे-चतुर्थे’ इति वीप्सा ।  
 प्रयाजानुयाजानां तत्कङ्क्षाकत्वं सम्भूय प्रशंसति— “तद्यदिति ।  
 “प्रयाजानुयाजौ यन्नाङ्गे”—इति ‡ निपातनात् कुत्वाभावः ।  
 नव प्रयाजा अनुयाजाश्च यस्मिन् इत्युभयत्र बहुव्रीहिः, शिष्ट  
 मुक्तार्थम् ॥ ४१ ॥

अनुयाजानन्तरभावि सुगव्यहनादिक मपि चोदकप्राप्त मुभा-  
 भ्यां कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति— “ता उभावेवेत्यादिना § । “परिधि  
 मभिपद्येति । मध्यमं परिधि मन्वारभ्येत्यर्थः । उक्तं हि कात्या-

\* “प्रतिप्रस्थाता च, न वा (गृह्णाति)”—इति का० श्रौ० ५. ४. ३१, ३२ ।

† पा० सू० ८. १. ४ ।

‡ पा० सू० ७. ३. ६२ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ५. २४ ।

यनेन— “प्रथमं परिधिं गृहीत्वात्राव्याहृषिता देव्या”-इति \* ।  
 “इषिता देव्या”-इति सूक्तवाकप्रैषः प्रकृतावेव व्याख्यातः † ।  
 “समुत्सृज्यत इति । “लुपृ छेदने” ‡ । समुच्छिनत्तः, समुद्गृहीत  
 इति यावत् । “उभावनुप्रहरत इति । सूक्तवाक्नेऽनूच्यमाने ‘उभौ’  
 अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ‘अनुप्रहरतः’ स्वं स्वं प्रस्तर मग्नी प्रक्षिपत  
 इत्यर्थः । “यदा होतेति । ‘यदा’ खलु होता सूक्तवाकं परिसमापयति  
 (४२), ‘अथ’ अनन्तरम् ‘आग्नीत्’ आग्नीध्रः ‘अनु प्रहर’-‘इति’  
 अध्वर्युं प्रति ‘आह’ । “उभावेवेति । यद्यप्यनुप्रहरेत्येकवचने-  
 नाध्वर्युरेव प्रेर्यते, तथापि कृतानुकरत्वात् § प्रतिप्रस्थातुरपि  
 तृणानुप्रहरणं विद्यत इत्यर्थः । “आत्माना उपस्थयेति इति ।  
 “चक्षुष्या”-इति ॥ मन्त्रेण । तथा च सूत्रितम्— “चक्षुष्या इत्या-  
 त्मान मालभते”-इति ¶ ॥ ४२, ४३ ॥

संवदस्वागानग्नीदित्यादीना मुक्तिप्रत्युक्तिरूपं यदस्ति, तद-  
 प्याग्नीध्रस्य अध्वर्युणोक्तेनैवेत्यभिप्रेत्याह— “अथाहृति । ‘अथ’  
 अनन्तरं “संवदस्व”-‘इत्याह’ आग्नीध्रः । तच्च संवदन मुक्ति-  
 प्रत्युक्तिरूप मनुक्रामति— “अगानिति । ते च मन्त्राः प्रकृतौ  
 व्याख्याताः \*\* । तेषु च विभागः सूत्रकृता दर्शितः— “एतेषां

\* का० श्रौ० सू० ३. ६. १ ।

† १. द. ३. १०. ८- १ भा० ५६०, ५७१ पृ० ।

‡ तु० उ० १५१ धा० ।

§ इतः पूर्व मेवोक्तम्, टौकितञ्च तत् द्रष्टव्यम् (३०५ पृ०) ।

॥ वा० सं० २. १६. १० ।

¶ का० श्रौ० सू० ३. ६. १५ ।

\*\* १. द. ३. २. १- १ भा० ५६३, ५७४ पृ० ।

संवदस्वागाच्छ्रीषडित्यग्नीच्छेष मितरो व्यत्यासं ब्रूतः”-इति \* ।  
 “स्वगा दैव्या”-इति शंयुवाकप्रैष मध्वर्युरेव ब्रूयात् । परिधि-  
 प्रहरणादिकं तूभाभ्या मेवानुष्ठेयम् । “उभौ सुच इत्यादि । ‘सम्प्र-  
 गृह्य’ सम्यग् गृह्णीत्वा विमोचनार्थं ‘स्फोर सादयतः’ ॥ ४४ ॥

“अथाध्वर्युरेवेति । “प्रतिपरेत्येति । आहवनीयदेशात् प्रति-  
 निवृत्य, गार्हपत्यसमीपं गत्वैत्यर्थः । “उपास्त इति । पत्नी-  
 संयाजसमये तूष्णीं सुपविशेत् प्रतिप्रस्थाता । न तु तस्य तदानीं  
 कृतानुकरत्व मपेक्षित मित्यर्थः । “पत्नीः संयान्योदैत्यध्वर्युरिति ।  
 पत्नीसंयाजानन्तर माहवनीयदेशं गत्वैत्यर्थः ॥ ४५ ॥

“त्रीणि समिष्टयजूषीति । तानि च पूर्वस्मिन् वैश्वदेव-  
 ब्राह्मणे व्याख्यातानि † । “तूष्णीं मेवेति । प्रतिप्रस्थातुः समिष्ट-  
 यजूर्होमसमये आत्मीयं सुचं तूष्णीं मेव दक्षिणाग्नीं प्रगृह्णीयात् ।  
 सुगाप्त माज्यं धारयेत्, तन्मन्त्रः स्वाहाकारी वा न विद्यते  
 इत्यर्थः ‡ । “तद् ये वैश्वदेवेनेत्यादि । वैश्वदेवयाजमाने समाप्ते  
 ‘यजमानयोः’ यजमानपत्नोर्ये ‘वाससी’, ते परिहिते भवतः ।

वरुणप्रघासाङ्गत्वेनावभृथगमनं विधत्ते—“अथास्या इत्यादि ।  
 या वरुणदेवताका पयस्या तस्याः । ‘क्षामकर्षमिश्रम्’ क्षामोऽति-  
 पाकेन दग्धः पात्रे संसक्तः, “क्षप विलेखने” क्षथते इति कर्षः ।  
 क्षामश्चासौ कर्षश्चेति क्षामकर्षः, तेन मिश्रं हविः ‘आदाय’,  
 ‘अवभृथम्’ उदकं प्रति ‘यन्ति’ ऋत्विग्यजमानाः, उदकसमीपं  
 गच्छेयुरित्यर्थः । गमनस्य प्रयोजन माह— “वरुण्यं वेति ।

\* का० श्रौ० सू० ३. ६. १६ ।

† पुरस्तात् २७१. ८० ४४० द्रष्टव्यानि ।

‡ का० श्रौ० म० ५. ५. २८ ।



‘एतत्’ ज्ञामकर्षमिन्द्रं हविः ‘वरुण्यम्’ वरुणसम्बन्धि, पापदेवतया सम्बद्ध मित्यर्थः ; “यो विदग्धः स नैर्ऋतः”— इतिश्रुतेः \* । यद्वा पयस्याया वरुणदेवताकत्वात् तद्यागशिष्टं सर्वं मपि वरुण्यम् । अतः ‘निर्वरुणतायै’ वरुणसम्बन्धराहित्याय अवभृथगमनं युक्त मित्यर्थः ।

सौमिकावभृथवत् प्रसक्तं सामगानं निषेधति— “तत्र न सामेति । अवभृथगमनसमये हि “अग्निष्टपति”—इति साम † प्रस्तोत्रा गीयम् ‡, ‘तत्र’ तस्मिन् वरुणप्रघासाङ्गावभृथगमने तन्न गातव्यम् । तदुपपादयति— “न हीति । सोमयागे हि स्तोत्रादिरूपेण साम्नां प्रयोगात्, तदङ्गावभृथगमनेऽपि सामगानं मयुक्तम् । ‘न’ खलु ‘अत्र’ वरुणप्रघासे ‘साम्ना’ ‘किम्’ अपि प्रयोजनं ‘क्रियते’, अतोऽप्रयुज्यमानस्य साम्नोऽवभृथेऽप्यप्रयोग एव युक्त इत्यर्थः । अतः ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकम् ‘एव’ अवभृथसमीपम् ‘अभ्यवेत्य’ “अवभृथ निचुम्पुण”—इति मन्त्रेण § ज्ञामकर्षमिन्द्रं हविः ‘उपमारयति’ अप्सु प्रक्षिपति । सूत्रितञ्चेह— “वारुणीनिष्काषेणावभृथं तूष्णीं मित्याभ्यवेत्य मज्जयत्यवभृथेति”—इति ॥ ४६ ॥

\* तै० सं० २. ६. ३. ४ ।

† “स गायति, अग्निष्टपति प्रतिदृष्ट्यद्वावोऽहाव इति”—इत्याम्नास्यति चेहोपरिष्ठात् ( ४का० ४अ० ५ब्रा० ८क० ) ।

‡ षड्विंश-ब्राह्मणस्य तृतीयप्रपाठके प्रथमखण्डे एतद्विवरणं स्फुटम् । तस्मान्स्वरूपम्नो योनिगाने १२. १. ४० द्रष्टव्यम् । आर्षेयनामब्राह्मणे त्वेतिदवभृथसामेत्येवान्नातम् । एतदङ्गमूलकं मेवाग्निष्टोमसामं मूले ६. २. ४ अतम् ।

§ मन्त्र एष वा० सं० ३. ४८ । ॥ का० श्रौ० सू० ५. ५. २६, ३० ।

“अवभृथेति । मन्त्रस्याय मर्थः— सोमलिप्तानि पात्राणि  
 अवाचीनान्यस्मिन् क्रियन्त इत्यवभृथः । अवपूर्वात् भृजः श्रौणादिकः  
 थक् प्रत्ययः । हे ‘अवभृथ !’ ‘निचुम्पुण’ नितरां पुण्यहेतुर्मव ।  
 “पुण्य कर्मणि शुभे \*”—इत्यस्मात्तोऽटि व्यत्ययेन द्विवचन मभ्यासस्य  
 पुगागमश्चकारादेशश्च । यद्वा, “चुप मन्दायां गतौ †”—इत्यस्मा-  
 ल्लोटि वर्णव्यत्यये रूपं ज्ञेयम् । नीचीनं गच्छेत्यर्थः । यतश्च  
 ‘निचेरुः’ नितरां चरणशीलः ‘असि’, अतो ‘निचुम्पुण’ नीचीनं  
 गच्छ । ‘देवैः’ इन्द्रियैः, तदधिष्ठातृदेवैः ‘देवकृतम् एनः’ देव-  
 विषयं यदेनः कृत मस्ति, अहं तत् ‘अवायासिषम्’ अवाचीनं प्राप-  
 यामि, अस्मि प्रक्षिपामीत्यर्थः । “या प्रापणे ‡”—इत्यस्मात्कुडि  
 “यमरमनमाताम्”—इति सगिटौ § । तथा “मर्त्तः” मनुष्यैः  
 ऋत्विग्भिः ‘मर्त्यकृतं’ मनुष्यविषये यत् कृत मेनः, तदपि  
 ‘अवायासिषम्’ । हे ‘देव’ स्वामिन् ! अवभृथ ! ‘पुरुरावणः’ पुरु-  
 रावणशीलान् बहुविधाक्रोशकारणान् । रीतेरीणादिको ऽसि-  
 प्रत्ययः ॥ । यद्वा, “रा दाने ¶”—इत्यस्मात् “आतो मनिन्क्वनिक्-  
 वनिपश्च”—इति \*\* क्वनिप् । पुरु बहुलं संसारदुःखं राति ददा-  
 तीति पुरुरावा, तस्मात् इन्द्रियहिंसकात् वरुणपाशग्रहणलक्ष-  
 णात् पापात् अस्मान् पाहीति । एव मनेन मन्त्रेण क्षामकर्षमिथं  
 हविःशेषं जायापती जुहुतः । तदुक्तं सूत्रकारेण—“जायापती  
 क्षातोऽमञ्जन्तावन्योन्यस्य पृष्ठे धावतः”—इति †† । पूर्वयोर्वासो-

\* तु० प० ५३ धा० ।

† स्मा० प० ४०३ धा० ।

‡ अदा० प० ३६ धा० ।

§ पा० सू० ७. २. ७३ ।

॥ उ० ४ पा० २४२ सू० ।

¶ अदा० प० ४७ धा० ।

\*\* पा० सू० ३. ४. ७४ ।

†† का० श्रौ० सू० ५. ५. ३१, ३२ ।

दीनं विधत्ते— “काम मिति † । स्नानानन्तर मन्थे वाससी परि-  
धाय ‡ । पूर्वपरिधानं निषिद्धम् ; “न दीक्षितवसनं परिदधीत”  
—इति श्रुतेः § । एतद्दानं प्रशंसति— “स यथेति । ‘यथा’  
खलु ‘अहिस्त्वचो निर्मुच्येत’, ‘एवम्’ पूर्वपरिहितवाससं सर्वस्मात्  
पापादेव यजमानो निर्मुच्यते ॥ ४७ ॥

अवभृथानन्तरं केशश्मश्रुवपनं विधत्ते— “अथेति । केशश्च  
श्मश्रूणि च ‘केशश्मश्रू’, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । ‘उप्वा’ वापयित्वे-  
त्यर्थः । समारोहणपुरस्सरं गृहे प्रत्यागमनं विधत्ते— “समारो-  
ह्येति § । ‘अग्नी’ गार्हपत्याहवनीयौ । “एतेन यजत इति ।  
वरुणप्रघासाख्येन यागिनेत्यर्थः । “न हि तदिति । वरुणप्रघास-  
निमित्ताया सुत्तरवेद्यां ‘यत्’ अग्निहोत्रहवनम् , न तद् युज्यत  
इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् कारणात् वरुणप्रघासस्थानादुदव-  
सानं ॥ कर्त्तव्य मिति निगमयति— “तस्मादिति । समारोपणा-  
नन्तरं तस्मात् स्थानात् निष्क्रम्य ‘गृहान्’ ‘इत्वा’ गत्वा, ‘निर्मथ्य’,  
तत्र ‘पौर्णमासेन’ यागिन ‘यजेत’ । एतत्प्रतिष्ठाहेतुना स्तीति—  
“उत्सन्नयज्ञ इत्यादिना । दर्शपूर्णमासवशात्तुर्मास्थाना मनुष्ठान  
बाहुल्याभावात् उत्सन्नयज्ञत्वम् । अतस्तेषा मप्रतिष्ठाहेतु-  
त्वेन ¶ तदनुष्ठाने यजमानस्यापि अप्रतिष्ठा सम्भाव्येत ; अतः

\* “पूर्वे दद्यादधिष्ठितेभ्यो यस्मा इच्छेत्”—इतीह का० श्रौ० ५. ५. ३४ ।

† ‘परिधापयेत्’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १३ अपि ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ५. ३५, ३६ ।

॥ इतोऽनन्तरं [ निष्क्रमणं ]—इति च ।

¶ ‘मप्रतिष्ठत्वेन’—इति च ।

तस्य प्रतिष्ठायै स्वयं प्रतिष्ठितः पौर्णमासयागः सम्यद्यत इत्यर्थः । “तस्माद्दुदवस्यतीति, वरुणप्रघासदेशान्निष्क्रमणविधिर्निगमनम् \* ॥ ४८ ॥ ३ [ ५. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् . )

वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः । प्रजा वरुणपाशात् प्रा-  
मुञ्चत्ता अस्थानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्राजायन्ता-  
थैतैः साकमेधुरैतैर्वै देवा वृत्र मघ्नन्नेतैर्वैव † व्यजयन्त  
येय मेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं  
भ्रातृव्यं हन्ति तथोऽएव विजयते तस्मादाऽएष एतै-  
श्चतुर्थे मासि यजते स वै द्राहु मनूचीनाहुं यजते ॥ १ ॥  
स पूर्वदुः । अग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपालं पुरो-  
डाशं निर्वपत्यग्निं ह वै देवा अनीकं कृत्वोपमेयुर्वृत्रं

\* ‘धेनुर्दक्षिणा, अश्वो वा ; षट्, दादश वा’—इति का० श्रौ० सू० ३७-  
४० । आप० श्रौ० सू० ८ अध्या० ५-८ क० १२६ सूत्राणि चेह द्रष्टव्यानि ।

† ‘तैर्वैव’—इत्यपि डा०-वेत्तर-दृष्ट ।

हनिष्यन्तः स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तथोऽएवैष एतत्  
पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्मग्नि मेवानीकं  
कृत्वोपमैति स तेजोऽग्निर्न व्यथते तस्मादग्नये-  
ऽनीकवते ॥ २ ॥

अथ मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः । मध्यन्दिने चरुं  
निवपति मरुतो ह वै सान्तपना मध्यन्दिने वृत्रं  
सन्तेषुः स सन्तप्तोऽनन्नेव प्राणान् \* परिदीर्णः शिश्ये  
तथोऽएवैतस्य पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं मरुतः सान्त-  
पनाः सन्तपन्ति तस्मान्मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः † ॥ ३ ॥

अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः । शाखया वत्मान-  
पाकृत्य पवित्रवति सन्टोह्य तं चरुं श्रपयति चरु-  
ह्येव स युञ्ज क्व च तण्डुलानावपन्ति तन्मेधो देवा  
दधिरे प्रातर्वृत्रं हनिष्यन्तस्तथोऽएवैष एतत्पाप्मा-  
नं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्मेधो धत्ते तद्यत्क्षीरौ-  
दनो भवति मेधो वै पयो मेधस्तण्डुलास्तु मुभयं मेध-  
मात्मन्धत्ते तस्मात्क्षीरौदनो भवति ॥ ४ ॥

\* 'प्राणान्'—इति क ।

† 'मे'—इति ग, घ ।

तस्यावृत् \* । सैव स्त्रीणां वेदिर्भवति यां मरुद्भ्यः  
सान्तपनेभ्यस्तस्यामेव स्त्रीणांयां वेदौ परिधींश्च शुक्-  
लांश्चोपनिदधति तथा सन्दोह्य चक्षुः अपयति अपयि-  
त्वाभिघार्योद्वासयति ॥ ५ ॥

अथ हे पिशीले वा पात्रौ वा निर्णेनिजन्ति ।  
तयोरनं हेधोद्धरन्ति तयोर्मध्ये सर्पिरासेचने कृत्वा  
सर्पिरासिञ्चति । सुवं च सुचं च सम्मार्ष्ट्यैता-  
ऽओदनावादायोदैति सुवं च सुचं चादायोदैति सु-  
दमा मेव स्त्रीणां वेदि मभिमृश्य परिधीन्परिधाय  
यावतः शुकलान् कामयते तावतोऽभ्यादधात्यथैता  
ऽओदनावासादयति सुवं च सुचं चासादयत्युपवि-  
शति होता होतृषुदने सुवं च सुचं चाददान  
आह ॥ ६ ॥

अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्यभाग् स दक्षिण-  
स्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रा-  
मत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं यजेति 'वृषट्कृते जु-  
होति ॥ ७ ॥

\* 'वृत्'—इति ग, थ ।

अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य माज्यभागः  
स उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदाया-  
तिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह सोमं यजेति व्षट्कृते  
जुहोति ॥ ८ ॥

अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहीति । स  
दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्य मुपस्तृणीते  
तस्य द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्राम-  
त्यतिक्रम्याश्राव्याह मरुतो गृहमेधिनी यजेति व्षट्-  
कृते जुहोति ॥ ९ ॥

अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहोति । स उत्तरस्यौ-  
दनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्य मुपस्तृणीते तस्य  
द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्रामत्यति-  
क्रम्याश्राव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति व्षट्कृते  
जुहोत्यथेडा मेवावद्यति न प्राशित्र मुपह्वय मार्जयन्त  
ऽएतन्वेक मयनम् ॥ १० ॥

अथेदं द्वितीयं \* । सैव स्तीर्णां वेदिर्भवति या  
मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यस्तस्या मेव स्तीर्णायां वेदौ परि

धींश्च शकलांश्चोपनिदधति तथा सन्दोह्य चरुं प्रप-  
यति नेदेव \* प्रतिवेश माज्य मधिश्चयति अपयित्वा-  
भिघार्योद्वाख्यानक्ति स्थाल्या माज्य मुहासयति स्रुवं च  
स्रुचं च सम्मार्ष्ट्यैतत् सोख † मेव चरु मादायोद्वैति  
स्थाल्या माज्य मदायोद्वैति स्रुवं च स्रुचं चादायो-  
द्वैति सद्भमा मेव स्तोत्रां व्वेदि मभिसृश्य परिधीन्परि-  
धाय यावतः शकलान् कामयते ‡ तावतोभ्या § दधा-  
त्यथैतत् सोख ॥ मेव चरु मासादयति स्थाल्या माज्य  
मासादयति स्रुवं च स्रुचं चासादयत्युपविशति होता  
होतृषदने स्रुवं च स्रुचं चाद्दान आह ॥ ११ ॥

अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्यभागत् सु  
स्थाल्यै चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्रम्याश्चा-  
व्याहामि यजेति व्यषट्कृते जुहोति ॥ १२ ॥

\* 'नेदेव'—इति क, ड ।

† 'सोष'—इत्यपि डा०-वेवर-दृष्टः ।

‡ 'वामयते'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

§ 'न्या'—इति च डा०-वेवर-दृष्टः ।

॥ अत्रापि 'सोष'—इत्येव पाठो दृष्टः कस्मिंश्चित् पुस्तके डा०-वेवरेण ।



अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य माज्यभाग्  
सु ख्यात्याऽ एव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्र-  
म्याश्राव्याह सोमं यजेति व्यषट्कृते जुहोति ॥ १३ ॥

अथाह मरुद्गो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहीति । स उप-  
सृणीत ऽआज्य मथास्य चरोर्द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्य-  
स्याभिघारयति प्रत्यनक्तावदाने ऽअतिक्रामत्यतिक्रम्या-  
श्राव्याह मरुतो गृहमेधिनी यजेति व्यषट्कृते  
जुहोति ॥ १४ ॥

अथाहाग्नये ख्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उप-  
सृणीत ऽआज्य मथास्य चरोः सकृदवद्यत्यथोपरिष्ठाद्  
द्विराज्यस्याभिघारयति न प्रत्यनक्तावदान मतिक्राम-  
त्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं ख्विष्टकृतं यजेति व्यषट्-  
कृते जुहोति ॥ १५ ॥

अथेडा मेवावदति न प्राश्निचम् । उपह्वय  
प्राश्नन्ति यावन्तो गृह्णा हविरुच्छिष्टाशाः स्युस्ता-  
वन्तः प्राश्नीयुरथो ऽअप्यृत्विजः प्राश्नीयुरथो ऽअप्यन्ये  
ब्राह्मणाः प्राश्नीयुर्यदि बहुरोदनः स्यादथैता मनिर-  
शितां कुम्भी मपिधाय निदधति पूर्णदब्वाय मातृ-  
भिर्ब्रह्मान्त्संभवाज्जन्ति तदु पशवो मेध मात्मन्दधते

यवाग्वैतां रात्रिं मग्निहोत्रं जुहोति निवान्यां प्रातु-  
दुहन्ति पितृयज्ञाय \* ॥ १६ ॥

अथ प्रातर्हुते वाहुते वर । यतरथा कामयेत्  
सोऽस्या ऽअनिरशितायै कुम्भ्यै दृश्यापहन्ति पूर्णां दर्वि  
परापत सुपूर्णा पुनरापत । व्वस्तेव व्विक्रौणावहा  
ऽइष मूर्जं शतक्रतविति यथा पुरोऽनुवाक्यैव मेषैत-  
यैवैन मेतस्मै भागाय ह्वयति ॥ १७ ॥

अथऽर्षभ माह्वयितवै ब्रूयात् । स यदि रुयात्स  
व्वषट्कार इत्यु हैक ऽआहुस्तास्मिन्वषट्कारे जुहु-  
यादित्यथो ऽइन्द्र मेवैतत् स्वेन रूपेण ह्वयति व्वृत्रस्य  
बधायैतद्वा † ऽइन्द्रस्य रूपं यदृषभस्तस्वेनैवैन मेतद्रू-  
पेण ह्वयति व्वृत्रस्य बधाय ‡ स यदि रुयादा म  
ऽइन्द्रो यज्ञ मगन्त्सेन्द्रो मे यज्ञ इति ह व्विगायद्यु  
न रुयाद्भाह्वण एव दक्षिणत आसौनो ब्रूयाज्जुहु-  
वोति सैवैन्द्रो वाक् § ॥ १८ ॥

स जुहोति । देहि मे ददामि ते नि मे धेहि

\* 'ज्ञाय'—इति ग, घ ।

† 'बधायैतद्वा'—इति क, ङ ।

‡ 'व्वधाय'—इति क, ङ ।

§ 'वाक्'—इति ग, घ ।

नि ते दधे । निहुरं च हुरासि मे निहुरं निहुराणि ते स्वाहेति \* ॥ १६ ॥

अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः । सप्तकपालं पुरो-  
डाशं निर्व्वपति मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनि-  
ष्यन्त मिन्द्र मागतं तु मभितः परिचिक्रीडुर्महयन्त-  
स्तथो ऽएवैतं पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्त  
मभितः परिक्रीडन्ति महयन्तस्तस्मान्मरुद्भ्यः क्रीडि-  
भ्यो ऽथातो महाहविष एव तद्यथा महाहविष-  
स्तथो तस्य ॥ २० ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [पृ. ३.] ॥

अथ शाकमेधाख्यस्य विधिक्षितस्य तृतीयस्य पर्वणः † पाप-  
रूपशत्रुजयहेतुत्वं वक्तुं हन्तान्तं सङ्कीर्त्तयति— “वरुणप्रघासे-  
गिति । ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः अकिल्बिषाः, तन्निदानभूत-  
पापपरिहीनाः । “अथेतैरिति । वरुणप्रघासानन्तरं मनुष्यैः  
‘एतैः साकमेधैः’ प्रजापतिः ता एव प्रज्ज विजितपापा अक-  
रोत् । एतेषां विजयहेतुत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयति—  
“एतैर्वा इति । ‘वृत्रम्’ आवरणशीलम्, एतन्नामानं मसुरं मित्यर्थः ।

\* ‘स्वाहेति’—इति ग, घ ।

† “कार्त्तिक्यां साकमेधा द्वाहम्”—इत्यादिस्मृत्यन्वयो द्रष्टव्यः (पृ. ६. १)

“येय मेषा मिति । ‘एषां’ देवानां वृत्रहनन-कर्मणा ‘येयं’  
‘विजितिः’ विजयो विद्यते, व्यजयन्तेति सम्बन्धः । अथाप्येषां  
तत्फलसाधनत्व माह— “तथो एषैष इति । ‘द्विषन्तं’ द्वेषण-  
शील मनर्थकारणं पापरूपं ‘भ्रातृव्यं’ शत्रु मिति सामा-  
नाधिकरण्येन सम्बन्धः । “तथो एव विजयत इति । तथा  
हतः पापशत्रुः, तत्सजातीयस्यापि निवृत्त्या सर्वत्र साकमेध-  
याजिनो विजय एव, न कुत्रचित् प्रतिहतितिरित्यर्थः ।

उक्त मर्थं हेतुतया इदानीं विधत्ते— “तस्मादिति । यस्मात्  
उक्तफलहेतवः साकमेधाः, ‘तस्मात्’ ‘एषः’ वरुणप्रघामैरिष्टवान् ।  
पुनः ‘चतुर्थे मासि’ ‘एतैः’ साकमेधेर्यजित । अनीकवत्यादीनां साक-  
मेधगताना मिष्टीनां बहुत्वादेतैरिति बहुवचनम् । अहर्द्वयसाध्यत्वं  
विधत्ते— “स वा इति । दयोरङ्गोः समाहारो दाहः । “तद्वि-  
तार्थः”— इति \* समासः । “सञ्छादिः समाहारे”—इति †  
अङ्गादेशस्य प्रतिषेधः । “अनूचीनाह मिति । अनु सम्यगञ्च-  
तीत्यन्वक्, अन्वगवानुचीनम् ; “विभाषाञ्चैरदिक्स्त्रियाम्”—  
इति ‡ स्वार्थिकः खच् प्रत्ययः । अनूचीनं नैरन्तर्येण वर्त्त-  
मान महः अनूचीनाहम् । “राजाहःसखिभ्यः”—इति § टच्-  
समासान्तः ॥ १ ॥

तत्र पूर्वदिवसे प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु तिस्र इष्टयोऽनुष्ठेयाः,  
तत्र प्रथमं विधाय स्तीति— “स पूर्वद्युरित्यादिना ॥ । “सद्यः-

\* पा० सू० २. १. ५१ ।

† पा० सू० ५. ४. ८६ ।

‡ पा० सू० ५. ४. ८ ।

§ पा० सू० ५. ४. ६१ ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. २ ।

परुत्”—इत्यादिसूत्रेण \* पूर्वदिनशब्दस्य पूर्वेषु रिति निपातः । साकमेधेषु प्रधानभूता महाहविराख्या इष्टिर्यस्मिन् दिवसेऽनुष्ठीयते, ततः पूर्वदिवसे चतुर्दश्यां प्रातरनीकवद्गुणविशिष्टायाम्नयेऽष्टकपालेषु संस्कृतं पुरोडाशं निर्वपेदित्यर्थः । “अनोकं कृत्वेति । प्रमुखं कृत्वेत्यर्थः । “स तेज इति । स च तेजीरूपोऽग्निः इत्युक्तात् उपद्रवात् न ‘अव्ययत’ व्यथां न प्राप्तवान् । दृष्टान्तिकेन योज्यते— “तथो एवैष इति । उक्तहेतोरनीकवद्गुणवैशिष्ट्यं पुरोडाश-देवताया अर्ग्येण मित्याह— “तस्मादिति ॥ २ ॥

मध्यन्दिनेऽनुष्ठेया मिष्टिं विधाय प्रशंसति— “अथेति । देवता-विशेषणं सुपपादयति— “मरुतो ह वा इति † । ‘मरुतो’ हि सन्तपनकारिणः ‘सान्तपनाः’ । तथाविधाः मरुतो मध्यन्दिनसमये ‘इत्रम्’ असुरं ‘सन्तेपुः’ सन्तप्तं कृतवन्तः । स च सन्तप्तः सन् श्वासप्रश्वासी कुर्वन् ‘परिदीर्णः’ विदारितसर्वावयवः ‘शिश्ये’ शयनं कृतवान् । “तथो एवेति , फलकथनम् ॥ ३ ॥

सायाङ्गे कर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते— “अथेति । गृहमेधित्वगुण-विशिष्टेभ्यो ‘मरुद्गाः’ “चरु’ अपयन्ति”—इत्युपरितनेन सम्बन्धः । अणप्रकारं माह— “शाखयेति ‡ । दर्शयागवत् शाखा-हरण-वत्सापाकरणे कृत्वा , शाखापवित्रं निर्माय , तद्वति पात्रे गाः ‘सन्दोह्य’ दुग्ध्वा , ‘तम्’ इति निर्देशः । ‘तं’ दुग्धं पयः ‘चरु’ ‘अपयति’ । “चरुरु ह्येवेति § । ‘सः’ वै मरुद्गो

\* पा० सू० ५. ३. २२ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. ६ ख ।

§ ‘चरुरु ह्येवेति पायसत्वाशङ्कां निवर्त्तयति’—इति या० दे० ।

“येय मेषा मिति । ‘एषां’ देवानां वृत्रहनन-कर्मणा ‘येयं’  
‘विजितिः’ विजयो विद्यते, व्यजयन्तेति सम्बन्धः । अथाप्येषां  
तत्फलसाधनत्व माह— “तथो एषैष इति । ‘द्विषन्तं’ द्वेषण-  
शील मनर्थकारणं पापरूपं ‘भ्रातृव्यं’ शत्रु मिति सामा-  
नाधिकरण्येन सम्बन्धः । “तथो एव विजयत इति । तथा  
हतः पापशत्रुः, तत्सजातीयस्यापि निवृत्त्या सर्वत्र साकमेध-  
याजिनो विजय एव, न कुत्रचित् प्रतिहतिरित्यर्थः ।

उक्त मर्थं हेतुतया इदानीं विधत्ते— “तस्मादिति । यस्मात्  
उक्तफलहेतवः साकमेधाः, ‘तस्मात्’ ‘एषः’ वरुणप्रघामैरिष्टवान् ।  
पुनः ‘चतुर्थे मासि’ ‘एतैः’ साकमेधेर्यजित । अनीकवत्यादीनां साक-  
मेधगताना मिष्टीनां बहुत्वादेतैरिति बहुवचनम् । अहर्द्वयसाध्यत्वं  
विधत्ते— “स वा इति । दयोरङ्गोः समाहारो दाहः । “तद्वि-  
तार्थः”— इति \* समासः । “सञ्छादिः समाहारे”—इति †  
अङ्गादेशस्य प्रतिषेधः । “अनूचीनाह मिति । अनु सम्यगञ्च-  
तीत्यन्वक्, अन्वगवानुचीनम् ; “विभाषाञ्चैरदिक्स्त्रियाम्”—  
इति ‡ स्वार्थिकः खच् प्रत्ययः । अनूचीनं नैरन्तर्येण वर्त्त-  
मान महः अनूचीनाहम् । “राजाहःसखिभ्यः”—इति § टच्-  
समासान्तः ॥ १ ॥

तत्र पूर्वदिवसे प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु तिस्र इष्टयोऽनुष्ठेयाः,  
तत्र प्रथमं विधाय स्तीति— “स पूर्वद्युरित्यादिना ॥ । “सद्यः-

\* पा० सू० २. १. ५१ ।

† पा० सू० ५. ४. ८६ ।

‡ पा० सू० ५. ४. ८ ।

§ पा० सू० ५. ४. ६१ ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. २ ।

स्यापि 'सैव' उपकरोति । "तस्या मेवेत्यादि, निगदसिद्धम् ; अतः सन्दिग्धपदविवरणमात्र मेव क्रियते । "शाकलाञ्चेति । इक्षस्य स्थाने शाकलानेव सम्मृज्य परिधिभिः सह तान् सादयेदित्यर्थः \* । "सन्दोह्य चरु मिति । विहितस्यानुवादः क्रमार्थः ॥ ५ ॥

"अथ द्वे इति । "पिशिले वेति । पिशिलशब्दः † सराववाची । अत एवोक्तं सूत्रकृता — "अपयित्वाभिघार्योहास्य शरावयोरुद्धरति ‡ । "निर्णेनिजतीति । प्रक्षालयतीत्यर्थः । "पिजिर् शीचपोषणयोः"—इति § धातुः । "द्वेधोद्धरन्तीति । "एनं चरुं द्वेधा विभज्य तयोः शरावयोः पात्रयोर्वा ॥ निदध्यादित्यर्थः । "सर्पिरासेचने इति । सर्पिः सर्पणशील माज्यम्, आसिच्यते आनीयतेऽस्मिन्निति सर्पिरासेचनम् । अधिकरणे ल्युट् । पात्रस्थयोस्तयोरोदनयोर्मध्ये सर्पिः पूरणायावटौ कृत्वेत्यर्थः ¶ । "सुवञ्चेति । एकत्व मविवक्षितम् । प्रयाजानुयाजि \* \* \* अवभृतः प्रयोगाभावात् ता मेव संसृज्यादित्यर्थः । "ओदनावासादयतीति । पात्र द्वये स्थापितौ तावेवोदनौ गृहीत्वा वेद्या मासादयितुं गच्छेदिति \*\* । ओदनमध्यस्थितेनैवाज्येन कृत्स्नाज्यकार्यनिष्पत्तेः ध्रुवाया अप्यप्रयोग इति जुहुम इत्यर्थः । "इमा मेवेति । सान्तपन्था मिधौ या वेदिः बर्हिषा स्तीर्णास्ति, ता मेव वेदिम् गृहमेधीयाङ्गत्वेनास्तरणमन्त्रेण तूष्णी मेवावमृशेति । यदाह कात्यायनः— "स्तरणयजुषा

\* का० श्रौ० सू० ५. ६. ६ क । † 'पिशिलशब्दः'—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. १० । § जु० उ० १० धा० ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. ११ । ¶ का० श्रौ० सू० ५. ६. १२ ।

\*\* का० श्रौ० सू० ५. ६. १३ ।

वेदि मभिमृश्य तूष्णीं वा कृतत्वात्”—इति \* । न पुनर्बर्हिषास्तरथं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

इध्वत्तत्कार्यशकलानां सङ्हरानियमप्रसक्तावाह— “यावत् इति । यावद्भिः शकलैराहवनीयस्य प्राबल्यं भवति, तानयं कामयेत ; ‘तावतः’ शकलांस्तत्राभ्यादध्यादित्यर्थः । तस्यां वेद्यां हविरासादनं विधत्ते— “अथैताविति । “उपविशति ह्येतेति । सामिधेन्यनुवचनादेरभावात् । होत्वधदने तूष्णीं मेवोपविशेत् । होतुरुपवेशनानन्तरं माज्यभागमित्येव कर्त्तव्यम्, न पुनराधारादिकमित्यभिप्रेत्याह— “सुवच्च सुचञ्चेत्यादिना ॥ ६ ॥

“अग्नयेऽनुब्रूहीति । “दक्षिणस्यौदनस्येति । दक्षिणोत्तरभागेन वेद्यां मासादितयोरोदनयोः यो दक्षिणस्थितोऽौदनः, तस्य ‘सर्पिरासेचनात्’ सर्पिषा पूर्णात् पात्रात् पूर्वाज्यभागार्थं चतुरवदानम्, उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात् द्वितीयस्याज्यभागस्यावदानम् । तथा प्रधानयागस्य गृहमेधीयस्य दक्षिणोदनस्य सर्पिरासेचनात् उपस्तरणाभिधारणे, उत्तरीदनस्य सर्पिरासेचनात् खिष्टकृद्यागस्योपस्तरणाभिधारणे । अत एव सूत्रितं कात्यायनेन— “आज्यभागाभ्यां चरति, आग्नेयं दक्षिणात्, सौम्यं मुत्तरात्, गृहमेधीयस्त्रिष्टकृतौ चाज्यभागवत् समवदानौ”—इति † । निगदसिद्धं मन्यत् ॥ ७—८ ॥

“अथाहाग्नय इति । ‘न प्राशित्रमिति । प्राशित्रावदानं न कर्त्तव्यम् ; पयसि संस्कृतत्वेन सान्नाय्यविल्लतित्वात् ‡ । न हि

\* का० श्रौ० सू० ५, ६, १४ ।

† का० श्रौ० सू० ५, ६, १७—२१ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ६, २६ ।



प्रकृतौ सान्नाय्यात् प्राशित्रं भवदीयते । उक्तं सुपयोगक्रमं निगम-  
यति— “एतदिति । एतत् खलु ‘एकं मयनं’ गृहमेधीय-  
स्यानुष्ठानमार्गः ॥ १० ॥

अन्यदप्ययनं दर्शयति— “अथेदं मिति । अस्मिन् पक्षेऽपि  
पूर्ववदेव \* “सैव स्तीर्णा वेदिर्भवतीत्यादेरर्थः । एतावांस्तु  
विशेषः । अपि तस्य द्वयोर्द्वयोरुद्धरणम्, तेषां सर्पिरासेचनकरणम्,  
तदासेचनञ्चोत्पत्त्यै न भवति, किन्तु यदा चरुं अयति ‘तत्’  
तदानीं मेव ‘प्रतिवेशं’ समापनार्थं प्रतिनिधित्वेन निवे-  
शनस्थानं प्रतिवेशः, तत्स्थानीयं माज्यम्; दक्षिणाग्नावाज्यस्थाल्या  
मधिअयेदित्यर्थः । “उद्दास्यानक्तीति । उद्दासनात् पूर्वं मभि-  
घार्यं तदुत्तरकालं मपि हविरञ्जगादित्यर्थः ।

“सोखं मेवेति । यस्यां स्थाल्यां चरुः अप्यते, तत्कहितं मेव ;  
न पुनः पात्रान्तरे धारणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः । “स्थाल्या माज्य  
मिति । स्थालीसहितं मेव चरुं वेद्या मासाद्य, आज्यस्थालीतलगतं  
माज्यं मप्यासादयेदित्यर्थः । आज्यभागादिषु यदाज्यकार्यं तत्  
सर्वं स्थालीगताज्यादेव कर्त्तव्यं मिति । अयं मेव पूर्वस्मादस्य पक्षस्य  
विशेषः, शिष्टं समानं पूर्वेण ॥ ११ ॥ ॥ १२—१५ ॥

“अथेडा मेवावद्यतीति । इडापह्नानानन्तरं यत् प्राशनम्,  
तत्र विशेषं माह— “यावन्त इति । गृहे भवा ‘गृह्याः’ यजमान-  
गृहे वर्त्तमानाः पुत्रपौत्रभ्रात्रादिरूपाः ‘यावन्तः’ सन्ति, ‘तावन्तः’  
‘हविरुच्छिष्टाशाः’ भवेयुः ; अस्यैव विवरणं ‘प्राश्नीयुः’-इति,  
हविःशेषं सर्वं प्राप्नुयुरित्यर्थः । ‘अथो’ अपि च ‘ऋत्विजः अपि’

‘प्राञ्चीयुः’ । ‘अपि’ च ‘अन्धे’ ‘ये ब्राह्मणाः’ आगताः, तेषु  
 ‘प्राञ्चीयुः’ । ‘यदि’ ‘ओदनः’ ‘बहुः’ अधिकः ‘स्यात्’, तदा  
 अन्धेषां प्राशनमित्यर्थः । कुम्भीनिधानं विधत्ते— “अधैता  
 मिति । निःशेषेण अशिता निरशिता, तद्विपरीता अनिरशिता  
 ताम्, शेषसहिता मित्यर्थः । तादृशीं कुम्भीं पात्रान्तरेण  
 विधाय \* , ‘पूर्णद्वाय’ । हविषा पूर्णां दर्वीं यस्मिन् कर्मणि,  
 तत् पूर्णदर्वम् † , तस्मै पूर्णद्वाय कर्मणे, तदर्थं स्थापयेत् ॥

अस्यां रात्रौ वत्सानां मातृभिः सह वासं विधत्ते— “मातृ-  
 भिरिति । ‘समवार्जन्ति’ “अर्ज गतिस्थानार्जनेषु” ‡, संसृष्टां कुर्यु-  
 रित्यर्थः § । “तदु पशव इति । ‘तत्’ तेन वत्ससङ्गमेन पशवां-  
 ऽपि ते ‘आत्मन्’ स्वात्मनि अस्यां रात्रौ ‘दधते’ धारयन्ति । अग्नि-  
 होत्रार्थं मपि तस्यां रात्रौ पयो न दोग्धव्यः] मिति द्रव्यान्तरं  
 विधत्ते— “यवाग्नेता मिति । एवं यजमानगृहवर्तिनां सर्वेषां  
 वत्सानां मातृसमवार्जनप्रसक्तौ प्रातः पिढ्यज्ञार्थं दोह्याया निवा-  
 न्याया गोवत्सस्य बन्धनं कर्त्तव्यमित्यभिप्रेत्याह— “निवान्या  
 मिति । स्वयं नष्टवत्सा अन्यदीयेन वत्सेन या गौर्दुह्यते सा निवान्या,  
 ताम् ‘प्रातः’ पिढ्यज्ञार्थं यतो ‘दुहन्ति’, अतस्तस्य, वत्सस्य  
 बन्धनं कर्त्तव्यमित्यध्याहृत्य योजनीयम् ॥ १६ ॥

पूर्णद्वायस्य कर्मणः कालं विधत्ते— “अथेति । ‘प्रातः’  
 अग्निहोत्रे ‘हुते वा अहुते वा’ अनयोः पक्षयोः ‘यतरथा’ येन

\* ‘अनिरशितां शेषरहितां कुम्भीं पात्रान्तरेणापिधाय’—इति च ।

† का० अ० ५, ६, ३१ मू० या० दे० द्र० ।

‡ स्वा० प० २२४ धा० ।

§ का० अ० ५, ६, ३४ मू० ।

प्रकारेण 'कामयेत' तथैवानुष्ठेयमित्यर्थः \* । होमाय सम-  
न्त्रकं हविर्ग्रहणं विधत्ते — "सोऽस्या इति । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।  
सोषायाः गृहमेधीयकुम्भ्याः सकाशात् "पूर्णा दर्वी"—इतिमन्त्रेण †  
दर्वा आघातेन 'उपहन्ति' गृह्णीयात् । मन्त्रस्याय मर्थः ।  
हे 'दर्वि !' प्रथमं हविषा 'पूर्णा' सती अस्याः सकाशात्  
'परापत' परागच्छ, देवान् प्राप्नुहि । पुनः कर्मफलेन 'सुपूर्णा'  
सती अमृतः सकाशात् अस्मान् पुनरागच्छ । हे 'शतक्रतो !'  
इन्द्र ! 'वस्त्रा' वसुना मूल्ह्येन 'इव' आवाम् 'इषम्' इष्यमाणम् अन्नम्  
'जर्जम्' बलकरं रसं च 'विक्रीणावहै' । त्वया दत्तं फलं स्वीकृत्य  
हविर्दास्यामि त्वयि ; मया दत्तं हविर्गृहीत्वा मद्यं फलं दास्यसि  
त्वम् ; एवं व्यतिहारेण कर्म क्रीणावहा इत्यर्थः । एतन्मन्त्रोच्चारणं  
प्रशंसति-- "यथेति । 'एनम्' इन्द्रम् 'एतस्मै' पूर्णदर्वास्थाय 'भागाय'  
पुरोमुवाक्यास्थानीयया पुरोवक्तव्यया एतया आह्वय इति ॥ १७ ॥

ऋषभध्वनौ होतव्यमिति विधिक्षुराह— "अथेति ‡ ।  
'आह्वयितवै' आह्वातुम् । "तुमर्थे से-सेनसे"—इति § तवै-प्रत्ययः ।  
"स यदीत्यादि । 'सः' आहुतः ऋषभः, 'यदि' 'रुयात्' शब्दं  
कुर्यात् । "रुशब्दे"—इति ॥ धातुः । तद्धुनिः वषट्कारात्मक  
इति केचिदाहुः । तथा च तैत्तिरीयकम्— "ऋषभमाह्वयति,  
वषट्कार एवास्य स इति कथयन्ति"—इति । अतः तस्मिन्  
वषट्कारे हविर्जुहुयादित्येकं मतम् ¶ ।

पक्षान्तरमाह— "अथो इति । योऽयं ऋषभध्वनिः, नासौ वषट्-

\* का० श्रौ० सू० ५, ६, ३६ ।

† वा० सं० ३, ४६ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ६, ३७ ।

§ पा० सू० ३, ४, ६ ।

॥ अदा० प० २४ धा० ।

¶ का० श्रौ० सू० ५, ६, ३८ ।

कारः, किन्तु इन्द्रस्य स्वभूतेन ऋषभाख्येन रूपेण तमेव 'इन्द्रम्' एतेन शब्देन 'ह्वयति'। किमर्थम् ? 'वृत्रस्य वधाय' वृत्र मसुरं हन्तुमित्यर्थः। वृत्रस्येति कर्मणि षष्ठी। "तुवर्थाच्च भाववचनात्"—इति बधशब्दाच्चतुर्थी \*। एतदेव विवृणोति-- "एतदा इति 'यदि' 'सः' ऋषभः शब्दं कुर्यात्, तदा "आ म इन्द्रो यज्ञ मगन् ॥" आगमत्, मदीयो यज्ञः इन्द्रसहितोऽभवदिति 'विव्यात्'। यज्ञे ऋषभस्य शब्दाकारणेऽनुष्ठानप्रकार माह— "यद्यु नेति। 'यदि' तु मदीयो 'यज्ञः' 'सेन्द्रः' ऋषभो 'न' शब्दं कुर्यात्, तदाह 'दक्षिणतः' उपविशेत् 'ब्राह्मणः' ब्रह्मैव, 'जुह्वधीति' अर्ध्वर्युं प्रति 'ब्रूयात्' शंसेद्, 'ऐन्द्री' इन्द्राह्वानार्था वाक् † ॥ १८ ॥

अथ समन्तकं होमं विधत्ते— "स जुहोतीति। दर्व्या गृहीतं हविः "देहि मे"—इति मन्त्रेण ‡ तथैव दर्व्या आहवनीये जुहुयात् ॥। मन्त्रस्थाय मर्थः। इन्द्रो ब्रवीति— हे यजमान ! त्वं 'मे' मङ्गं प्रथमं हविः 'देहि', अह मपि 'ते' तुभ्यम् इष्टं फलं 'ददामि'। तथा त्वं 'मे' मङ्गं हविः 'निधेहि' नितरां धारय, अह मपि तुभ्यं फलं 'निदधे' निदधामि, नियच्छामि। नियमेन हि ज्ञियत इति निहारो मूल्यद्रव्यम्। 'निहारं' हविषो मूल्यभूतम्, फलस्य मूल्यभूतं हविः; 'च'-शब्दश्चेदर्थे, त्वं चेत् प्रथमं 'हरासि' हरेः, दद्या इत्यर्थः; हरतेल्लेख्याडागमः; अनन्तर मेव 'ते' तुभ्यम् अह मपि 'निहारं' हविषो मूल्यभूतं फलं

\* पा० सू० २. ३. १५।

† इहैव ब्राह्मणे ३२१ ए० १२ पं० द्रष्टव्यम्।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. ३६।

§ वा० सं० ३. ५०।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. ४०।

‘निहराणि’ नितरां प्रापयामि । ‘स्वाहा’ इदं हविः स्वाहुत मस्य इति । एतत् सर्वं कात्यायनेन सूत्रितम् — “प्रातर्हुत्वा-हुत्वा वा स्वाह्या दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति, ऋषभ माह्वयितवै ब्रूयाद्, रुते जुहोति, अव्याहरति ब्रह्मा जुहुधीत्याह, देहि म इति जुहोति” — इति \* ॥ १९ ॥

एतदनन्तरकर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते — “अथेति । क्रीडन्तीति क्रीडिनः, एतद्गुणविशिष्टेभ्यः ‘मरुद्गाः’ समसु कपालेषु संस्कृतं पुरोडाशं निर्वपेदित्यर्थः † । क्रीडिन इति मरुतां यथार्थं विशेषणमिति प्रतिपादयति — “मरुतो ह वा इत्यादिना । वृत्तं हन्तुं मुद्युक्तमिन्द्र मभितो यस्माद् ‘परिचिक्रीडुः’ क्रीडितवन्तः, तस्मादिन्द्रव्यजमानस्य समीपे क्रीडनशीलेभ्यो मरुद्गो यागः कर्त्तव्यः ।

साकमेधेषु प्रधानभूताया महाहविराख्याया इष्टेरारम्भं प्रतिजानीते — “अथात इति ‡ । यतोऽनुष्ठानकालः प्राप्तः, अतः प्राप्तावसरत्वात् हविषः प्रयोगो क्रियत इत्यर्थः । वरुणप्रघासतन्त्रं तन्नातिदिशति — “तद्यथेति । तत्र ‘महाहविषः’ महान्ति वद्मनि हवींषि §

\* का० श्रौ० सू० ५. ५. ३६-४० । † का० श्रौ० सू० ५. ७. १ ।

‡ “महाहविरुद्वसाय निर्मथ्य” — इति का० श्रौ० सू० ५. ७. ५ । ‘निर्मथ्येत्यपदेशात् पूर्व ममी समारोह्योद्वसाय’ — इत्यादि या० दे० । “पूर्वेद्युर्वा” — इति चात्र का० श्रौ० सू० ५. ७. ५ । ‘अथवा पूर्वेद्युरेव अनीकवत्वाः पूर्व मेव समारोपोद्वसानमन्यनानि कृत्वा पर्वारम्भणीयम् ; एतेनेति शब्दस्य शाकमेधस्थलकलपर्ववाचित्वात्’ — इत्यादि सप्तृत्तिज्ञान समालोच्य । ‘एतेन’ — इत्यादि त्वत्रैवोपरिष्ठादान्नातम् ( ५ प्र० ३ ब्रा० १६ क० ) ।

§ “नित्येभ्योऽधिकानि, ऐन्द्रायः, माहेन्द्रश्चरुः, वैश्वकर्मण एककपालः” — इति का० श्रौ० सू० ५. ७. ७-१० । ‘नित्येभ्यः आग्नेयादिभ्यः पञ्चभ्यः’ — इति या० दे० ।

यत्, महाहविर्वरुणप्रघासाख्यो यागः, तस्य ; वक्ष्यमाणस्य महा-  
हविराख्यस्य यागस्य 'यथा', एव मिति सम्बन्धः । तस्य पूर्वोक्तस्य  
वरुणप्रघासस्य हविषो यथानुष्ठानम्, तथैव महाहविषो वक्ष्य-  
माणस्यापीति ॥ २० ॥ ४ [ ५. ३. ] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थः प्रपाठकः \* ॥

---

\* "कण्डिकासङ्घा ११३"—इति क, "कण्डिकाः ११५"—इति ग,  
"कण्डिकासङ्घा १०५"—इति घ । तत्र १ ब्रा० २५ क०, २ ब्रा० २२ क०,  
३ ब्रा० ४८ क०, ४ ब्रा० २० क० ; सङ्कलनया ११५ सिद्धम् ॥

अथ

पञ्चमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपिवा

पञ्चमेऽध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

महाहविषा ह वै देवा वृचं जघ्नः । तेनो  
ऽएष व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्तां तथो ऽएवैष  
एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो ऽएव  
विजयते तस्माद्वा ऽएष एतेन यजते ॥ १ ॥

तस्यावृत् \* । उप किरन्त्युत्तरवेदिं गृह्णन्ति  
पृषदाज्यं मन्यन्त्यग्निं नवप्रयाजं भवति नवानुयाजं  
त्रीणि समिष्टयजूषि भवन्त्यैतान्येव पञ्च हवीं  
षि भवन्ति ॥ २ ॥

स यदाग्नेयी ऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ।

\* 'वृत्'—इति ग, घ ।

अग्निना ह वा ऽएनं तेजसाघ्नन्त्स तेजो ऽग्नि-  
र्नाव्यथत तस्मादाग्नेयो भवति \* ॥ ३ ॥

अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति । सोमेन ह वा ऽएनं  
राज्ञाघ्नन्त्वोमराजान एव तस्मात्सौम्यश्चरुर्भवति ॥ ४ ॥

अथ यत्सावित्रः † । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो  
वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता  
सवितृप्रमूता हैवैन मघ्नंस्तस्मात्सावित्रो भवति ॥ ५ ॥

अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति । व्याग्वै सुरस्वती  
व्यागु हैवानुममाद प्रहर जहीति तस्मात्सारस्वत-  
श्चरुर्भवति ॥ ६ ॥

अथ यत् पौष्णश्चरुर्भवति । इयं वै पृथिवी  
पुषेयु हैवैनं बधाय ‡ प्रतिप्रददावनया हैवैनं प्रति-  
प्रप्तं जघ्नुस्तस्मात् पौष्णश्चरुर्भवति ॥ ७ ॥

अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ।  
एतेन हैवैन मघ्नंस्तेजो वा ऽअग्निं रिन्द्रियं वीर्यं  
मिन्द्र एताभ्या मेन मुभाभ्यां वीर्याभ्या मघ्नन् ब्रह्म

\* 'भवति'—इति घ, ङ ।

† 'वः'—इति ग, घ ।

‡ 'बधाय'—इति ङ ।



वा ऽअग्निः चत्र मिन्द्रस्ते ऽउभे सर्भ्य ब्रह्म च  
 क्षत्रं च सयुजौ कृत्वा ताभ्या मेन मुभाभ्यां व्यौर्याभ्या  
 मघ्नंस्तस्मादैन्द्राग्नेो द्वादशकपालः पुरोडाशो  
 भवति ॥ ८ ॥

अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो वा ऽएष पुरा  
 व्यृत्रस्य बधाद्य \* व्यृत्रं हृत्वा यथा महाराजो ब्विजि-  
 ग्यान् एवं महेन्द्रो ऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति  
 महान्तं सु चैवैन मेतत् खलु करोति व्यृत्रस्य बधायं  
 तस्मादेव माहेन्द्रश्चरुर्भवति ॥ ९ ॥

अथ वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
 ब्विश्वं वा ऽएतत् कर्म कृतं सर्व्वं जितं देवाना मा-  
 सीत् साकमेधैरीजानानां ब्विजिग्यानानां विश्वस्वे  
 वैतस्वैतत् कर्म कृतं सर्व्वं जितं भवति साकमेधै-  
 रीजानस्य ब्विजिग्यानस्य तस्माद्वैश्वकर्मण एककपालः  
 पुरोडाशो भवति ॥ १० ॥

एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टा येयं देवानां प्रजा-

\* 'व्यधाद्य'—इति ङ ।

† 'व्यधाय'—इति ङ ।

तिर्यां श्रीरेतु बभूवुरेताः ह वै प्रजातिं प्रजायत  
ऽएताः श्रियं गच्छति यु एवं विद्वानेतेन युञ्जेन  
युजते तस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ ११ ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ५. ४. ] ॥

अथ तस्य महाहविषः प्रयोगक्रमं विधित्सुः प्राग् “एतैर्वि  
देवा इत्र मन्नन्”—इत्यादिना \* यत् साकमेधानां फलं प्रति  
पादितम्, तत्फलं महाहविष एव साक्षात् साधनत्व मिति प्रति  
पादयति— “महाहविषा ह वा इत्यादिना । उक्तगुणविशिष्ट इन्द्रो  
यस्मिन् यागे तस्माधनं हविः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥ १ ॥

तस्य प्रयोग मनुक्रामति— “तस्याहदित्यादिना । आहच्छब्दः  
क्रियावाची । उत्तरवेदीनिवपनपृषदाज्यग्रहणाग्निमन्यनादीनि  
वरुणप्रघासवदेवावापि कार्याणीत्याह— “उपकिरन्तीत्यादिना ।  
अत एव सूत्रकृतोक्तम्— “उत्तरवेदिष्वग्निप्रणयनमन्यनपृषदाज्यञ्च  
वरुणप्रघासवत्”—इति † । “अथैतान्येवेति । यानि वैश्वदेवे  
उक्तानि आग्नेयादीनि पञ्च सञ्चराणि हवींषि ‡, ‘एतानि  
एव’ अत्रापि कर्तव्यानि भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

\* एतद्वर्षतनब्राह्मणे प्रथमकण्डिकायां द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ५. ७. ११ ।

‡ पुरस्तात् २५२ पृ० ५ पङ्क्तितो द्रष्टव्यानि । का० श्रौ० सू०  
५. १. ५—६ ( आग्नेयः, सौम्यः, सावित्रः, सारस्वतः, पौष्णः ) ।

तत्रान्येय मनूय स्तौति— “स यदिति । “एनं तेजसा-  
घ्नन्निति । पुरा खलु देवाः ‘अग्निना’ अग्निलक्षणेन ‘तेजसा’  
‘एनं’ इदम् ‘अघ्नन्’ अहिंसन् । ‘सः’ तेजोरूपः ‘अग्निः’  
‘न अव्यथत’ व्यथितः पीडितो नाभवत् । तस्मादाग्नेययागस्य  
प्राथम्यं मुक्तम् ॥ ३ ॥

सौम्यं हविरनूय स्तौति— “अथ यदिति । “सोमराजान  
एवेति । सोमी राजा येषां ते तथोक्ताः । “राजाहःसखि-  
भ्यष्टच्”—इति \* टच्-समासान्तो न भवति ; तत्पुरुषाधिकारात् ।  
सोमराजिनाधिष्ठिता देवाः , तेनैव ‘राज्ञा सोमेन’ ‘एनं’ इदम्  
‘अघ्नन्’ अहिंसयन्नित्यर्थः ॥ ४ ॥

तृतीयं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् सावित् इति । “द्वादश-  
कपालोऽष्टाकपालो वेति । कपालसङ्ख्याया यागः कर्त्तव्यः † ॥ ५ ॥

चतुर्थं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् सारस्वत इति ।  
“वागु हैवेति । वागात्मिका हि सरस्वती ‡ । सा खलु वाक्  
इदं हनिष्यन्त मिन्द्रम् ‘अनु ममाद’ हृष्टा बभूव § । अनुमदन-  
प्रकार माह— हे इन्द्र ! ‘प्रहर’ वज्रेण इदं ताडय , ततस्तं  
‘जहि’ मारयेति । जहीति हन्तेर्लीटि मध्यमैकवचने “हन्तेर्जः”

\* पा० सू० ५, ४, ६१ ।

† “सावित्रो द्वादशकपालोऽष्टाकपालो वा”—इति का० श्रौ० सू०  
५, १, ७ । “उपांशु कान्यदेवता”—इति ( का० श्रौ० ४, ५, १ सू० ) चेह  
दृश्यम् ।

‡ नखिय भृगिह सरस्वद्देवताका गृह्यते ; “योषा वै सरस्वती”—  
इत्याद्यर्थवादश्रुतेः ( ५, १, ११, ) ।

§ वृत्रवधथापारेऽनुमोदनं चकारेत्यर्थः ।

—इति \* जादेशः, तस्य “असिद्धवदत्राभात्”—इति असिद्धत्वात् †  
हेर्लक् न भवति ॥ ६ ॥

पञ्चमं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् पौष्णश्चरुर्मवतीति ।  
“इयं वै पृथिवीत्यादि । इय मेव हि पृथिवी पोषयति भूतजाता-  
नीति पूषा । इय मेव खलु ‘एनं वृत्रं ‘बधाय’ हननाय ‘प्रतिप्रददौ’  
प्रत्यर्पयामास, अतः ‘अनयैव’ पृथिव्या साधनेन ‘एनं’ वृत्रं देवाः  
‘प्रतिजघ्नुः’ प्रतिहतवन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

षष्ठं हविर्विधत्ते— “अथैन्द्राग्नि इति ‡ । “एतेन हेत्वादि ।  
‘एतेन’ इन्द्राग्निदेवताकेन यागेन । इन्द्राग्नी वृत्रजननहेतुत्व  
मुपपादयति—“तेजो वा अग्निरित्यादिना । योऽयम् ‘अग्निः’ स  
दहनसमर्थः ‘तेजः’; यदिदं पुरुषे प्रविष्टम् ‘इन्द्रियम्’ इन्द्रलिङ्गम्,  
इन्द्रेण दत्तं ‘वीर्यम्’, तदात्मक इन्द्रः; तथा च ‘एताभ्याम्  
उमाभ्याम्’ ‘एनं’ वृत्रं देवाः ‘अघ्नन्’ । तस्मादैन्द्राग्नौ यागो  
युक्त इत्यर्थः ॥

प्रकारान्तरेण स्तौति— “ब्रह्म वा अग्निरिति । ‘अग्निः’, ‘ब्रह्म’  
ब्राह्मणजातिः; ब्राह्मणेन सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वात् । ‘इन्द्रः’,  
‘क्षत्रम्’ क्षत्रियजातिः; प्रजापतेरुत्सो बाहुभ्यां च सकाशात् क्षत्रि-  
येण सहोत्पत्तेः । ‘ते उमे’ ब्रह्मक्षत्रे ‘संरभ्य’ अवलम्ब्य ‘सयुजौ’  
परस्परं सहायभूते ‘कृत्वा’ ‘ताभ्या मुभाभ्या’ ब्रह्मक्षत्रसम्बन्धिभ्यां  
वीर्याभ्याम् ‘एनं’ वृत्रम् ‘अघ्नन्’ ॥ ८ ॥

सप्तमं हविर्विधत्ते— “अथ माहेन्द्रश्चरुर्मवतीति § । महं-

\* पा० सू० ६. ४. ३६ ।

† पा० सू० ६. ४. २२ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ७. ८ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ७. ६ ।

आसाविन्द्रो महेन्द्रः । “आम्नहतः”—इत्यात्वम् \* । महेन्द्रो देवता अस्य माहेन्द्रः । “महेन्द्राद् घाणौ च”—इत्याद्यण् † । अस्येन्द्रस्य महत्त्वं सुपपादयति— “इन्द्रो वा एष इति । इत्वं वधात् पूर्वं केवल इन्द्र एवासीत् , स च तं हत्वा ‘महेन्द्रोऽभवत्’ । ‘यथा’ शत्रुं ‘विजिग्यानः’ विजितवान् राजा ‘महाराजः’ इत्याख्यायते, तद्वत् । ‘विजिग्यानः’ वि-पूर्वाज्जयतेः । “विपरिभ्यां जेः” इत्यात्मनेपदम् ‡, खिटः कानच्, “सन्लिटोर्जेः §” इत्याभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् ।

“महान्तं सु चैवैन मिति । प्रकारान्तरेण सुतिः । महत्त्वेनेन्द्रस्य विशेषणात् महान्तं मेवैनं कृतवान् भवतीत्यर्थः । “तस्माद् एवेति । ‘उ’-शब्दोऽप्यर्थे । तस्मादपि महत्कर्म-करणाद्देतोः इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अष्टमं हविर्विधत्ते—“अथ वैश्वकर्मण इति ॥ । विश्वं सर्वं जगत् कर्म कार्यं यास्य, स विश्वकर्मा देवता अस्यासौ, तस्यं ‘वैश्वकर्मणः’ । ‘सास्य देवता’—त्यणि ¶, “अन्”—इति \*\* प्रकृतिवद्भावः । एतस्य हविषो विश्वकर्मदेवताकत्वं प्रशंसति— “विश्वं वा एतदित्यादिना । ‘साकमेधैः’, यागैः ‘ईजानानाम्’ इष्टवता ‘विजिग्यानानां’ इत्वं विजितवतां ‘देवानाम्’ ‘एतत्’ ‘विश्वं’ सकलं ‘कर्म’ निरवशेषं ‘कृतम्’ अनुष्ठितम्, ‘जितम्’ प्राप्तफलं च

\* पा० सू० ६. ३. ४६ ।

† पा० सू० ४. २. २६ ।

‡ पा० सू० १. ३. १६ ।

§ पा० सू० ७. ३. ५७ ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ७. १० ।

¶ पा० सू० ४. २. २४ ।

\*\* पा० सू० ६. ४. १६७ ।

‘आसीत्’ । दार्ष्टान्तिके योजयति—“विश्वमेवेति । ‘उ’-शब्दो-  
ऽप्यर्थः , शिष्टं मुक्तार्थम् \* ॥ १० ॥

उपक्रमावसरायोदीरति—“एतेन वा इति । येषां देवानां  
‘प्रजातिः’ ‘श्री’ च दृश्यते, ‘एतेन’ अनेनैव हि महाहविषा ‘यज्ञेन’  
‘इष्ट्वा’ तथा प्रजात्या श्रिया च ‘बभूवुः’ प्रवृद्धा अभवन् । यद्वा, “भू-  
प्राप्तावात्मनेपदी” † अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदी । एतदुभयं प्रापुरित्य-  
र्थः । “एतां ह वा इत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ११ ॥ १ [५. ४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्हं निवारयन् ।

पुमर्थाञ्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोस्त्रां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
व्यश्राणीद्विश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्वजम्बा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूष्यः ।

\* “ऋषभो दक्षिणा”—इति का० श्रौ० सू० ५. ७. १२ ।

† पुरादिगणसूत्रे मिदम् ३३२ ।

आन्धोत्थं प्राञ्चजम्बा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,  
रत्नाब्धो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणायः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्सक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

( अथ षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मचम् . )

महाहविषा ह वै देवा वृचं जघ्नः । तेनो  
 ऽएव व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्ता मथ याने-  
 वैषां तस्मिन्त् सङ्ग्रामे ऽघ्नस्तान् पितृयज्ञेन समै-  
 रयन्त पितरो वै त ऽआसंस्तस्मात् पितृयज्ञी  
 नाम ॥ १ ॥

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । एते ते ये व्यज-  
 यन्त शरद्धिमन्तः शिशिरस्तु ऽउ ते यान्पुनः समै-  
 रयन्त ॥ २ ॥

अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवै-  
 तस्य तथा कं चन घ्नन्तीति देवा अकुर्वन्निति  
 न्वेवैष एतत् करोति य मु चैवैभ्यो देवा भाग मकल्प-  
 यंस्तु मु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोति यानु चैव देवाः  
 समैरयन्त तानु चैवैतद्वति खानु चैवैतत्पितृञ्छ्रे-  
 यात्स' लोक मुपोन्नयति यद् चैवास्यान्नात्मनो



ऽचरणेन हन्यते वा मीयते वा तदु चैवा-  
स्येतेन पुनराप्यायते तस्माद्वा ऽएष एतेन  
यजते ॥ ३ ॥

स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः । षट्कपालं पुरो-  
डाशं निर्व्वपति सोमाय वा पितृमते षड् वा ऽऋतव  
ऋतवः पितरस्तस्मात् षट्कपालो भवति ॥ ४ ॥

अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः । अन्वाहार्यपचने  
धानाः कुर्व्वन्ति ततो ऽर्धाः पिष्पन्त्यर्धा इत्येव  
धाना अपिष्टा भवन्ति वा धानाः पितृभ्यो बर्हि  
षद्भ्यः ॥ ५ ॥

अथ पितृभ्यो ऽग्निष्वात्तेभ्यः । निवान्याथै  
दुग्धे सकृदुप मथित एकशलाकया मन्यो भवति  
सकृदु ह्यत्र पुराञ्चः पितरस्तस्मात् सकृदुप मथितो  
भवत्येतानि हवीष्पि भवन्ति ॥ ६ ॥

तद्यो सोमनेजानाः । ते पितरः सोमवन्तो  
ऽथ ये दत्तेन पक्केन लोकं जयन्ति ते पितरो  
बर्हिषद्दो ऽथ ये ततो नान्यतरञ्चन यानग्निरेव  
दृहन्त्स्वदयति ते पितरो ऽग्निष्वात्ता एत्  
ऽउ ते ये पितरः ॥ ७ ॥

सु जघनेन गार्हपत्यम् । प्राचीनावीती भूत्वा  
दक्षिणासीन एतः षट्कपालं पुरोडाशं गृह्णाति  
स तत एवोपोत्थायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा  
तिष्ठन् वहन्ति सकृत् फलीकरोति सकृदु ह्येव  
पराशः पितरस्तस्मात् सकृत् फलीकरोति ॥ ८ ॥

सु दक्षिणैव दृषदुपले ऽउपदधाति । दक्षि-  
णार्धे गार्हपत्यस्य षट्कपालान्युपदधाति तद्यदेतां  
दक्षिणां दिशः सचन्ते ऽएषा हि दिक् पितृणां  
तस्मादेतां दक्षिणां दिशः सचन्ते ॥ ९ ॥

अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं । चतुः सक्तिं  
व्येदिं करोत्यवान्तरदिशो ऽनु सक्तीः करोति चतस्री  
वा ऽअवान्तरदिशो ऽवान्तरदिशो वै पितरस्तस्मा-  
दवान्तरदिशो ऽनु सक्तीः करोति ॥ १० ॥

तन्मध्ये ऽग्निः समादधाति । पुरस्ताद्दे  
देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपाहृत्तास्तस्मात्तेभ्यः  
प्राङ् तिष्ठन् जहोति सर्व्वतः पितरो ऽवान्तर-  
दिशो वै पितरः सर्व्वत-इव हीमा अवान्तरदिश  
स्तस्मान्मध्ये ऽग्निः समादधाति ॥ ११ ॥

स तत एव प्राक् स्वयजुर्हरति । स्वय-

यजुर्हुत्वाथेत्येवाग्ने परिगृह्णात्यथेत्यथेति पूर्वेषु परि-  
 ग्रहेण परिगृह्य लिखति हरति यद्द्वयं भवति  
 स तथेवोत्तरेण परिग्रहेण परिगृह्णात्युत्तरेण  
 परिग्रहेण परिगृह्य प्रति मृज्याह प्रोक्षणीरासा-  
 द्येत्यासादयन्ति प्रोक्षणीरिधं बर्हिरुपसादयन्ति  
 स्रुचः सम्प्राष्ट्राज्येनोदैति स यज्ञपवीती भूत्वा-  
 ज्यानि गृह्णाति ॥ १२ ॥

तदाहुः । द्विरुपभृति गृह्णीयाद्द्वौ ह्यत्रानु-  
 याजौ भवत इति तद्वष्टाविव कृत्व उपभृति  
 गृह्णीयान्नेद्यज्ञस्य विधाया अयानोति तस्मादष्टा-  
 वेव कृत्व ऽउपभृति गृह्णीयादाज्यानि गृहीत्वा स  
 पुनः प्राचीनावीती भूत्वा \* ॥ १३ ॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इधमेवाग्ने प्रोक्ष-  
 त्यथ व्वेदि मथास्त्रै बर्हिः प्रयच्छन्ति तत् पुरस्ताद्  
 ग्रन्थ्यासादयति तत् प्रोक्ष्योपनिनीय व्विस्त्रुथ्य  
 ग्रन्थि न्न प्रस्तरं गृह्णाति सकृदु ह्येव पराश्वः  
 पितरस्तस्मा न्न प्रस्तरं गृह्णाति ॥ १४ ॥

अथ सन्तुह्नन् मनुविस्रुञ्च । अपसलवि  
त्रिः परिस्त्रुणन् पर्येति सो ऽपसलवि त्रिः परि-  
स्तौर्यं यावत् प्रस्तर भाजनं तावत् परिशिनष्टाय  
पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति यत् पुनः प्रसलवि  
त्रिः पर्येति तद्यानेवामुंस्त्रयान् पितृनुन्ववागात्तेभ्य  
एवैतत् पुनरुपोदेतौ म् स्वं लोक मभि तस्मात्  
पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति ॥ १५ ॥

सु दक्षिणैव परिधीन् परिदधाति । दक्षिणा  
प्रस्तरुं स्त्रुणाति नान्तर्दधाति विधति सकृदु  
द्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नान्तर्दधाति विधती ॥ १६ ॥

स तत्र जुह्व मासादयति । अथ पूर्वा  
मुपभृत मथ ध्रुवा मथ पुरोडाश मथ धाना अथ  
मथ मासाद्य हवींषि संमृशति ॥ १७ ॥

ते सर्वे ऽएधु यज्ञोपवीतिनो भूत्वा\* । इत्या-  
द्यज † मानश्च ब्रह्मा च पश्चात् परीतः पुरस्ता-  
दग्नौ ‡ ॥ १८ ॥

\* भूत्वा—इति ग ।

† इषाद्यज—इति च दृष्टं डा० वेवरेण ।

‡ पुरस्तादग्नीन्—इति ग ।

तेनोपांशु चरन्ति । तिर-इव वै पितर-  
स्तिर-इवै तद्यदुपांशु तस्मांदुपांशु चरन्ति ॥ १९ ॥  
परिवृते चरन्ति । तिर-इव वै पितर-  
स्तिर- इवैतद्यत् परिवृतं तस्मात् परिवृते  
चरन्ति \* ॥ २० ॥

अथेधु मभ्यादुधदाह । अग्नये समिधु माना-  
यानु ब्रूहीति स एका मेव होता सामिधेनीं  
त्रिरन्वाह सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मादेकां  
होता सामिधेनीं त्रिरन्वाह ॥ २१ ॥

सो ऽन्वाह । उशन्त्स्वा निधी मद्भुशन्तः  
समिधी महि । उशन्नुशत आवह पितृन्हविषे  
ऽअत्तव ऽइत्यथाग्नि मावह सोम मावह पितृन्  
त्सोमवत आवह पितृन् बर्हिषद् आवह पितृ  
नग्निध्वात्तानावह देवांश् ऽआज्यपांश् ऽआवहा-  
ग्निं होत्राय आवह स्वं महि मान मावहेत्यावाहो-  
पविशति ॥ २२ ॥

अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । पितृयज्ञो

\* चरन्ति—इति च दृष्टं उा० वेवरेण ।

वा ऽअयं नेत्रोतारं पितृषु दधानीति तस्मान्न  
 होतारं प्रवृणीते सोऽद होतरित्येवाहोपविशति होता  
 होतृषुदन ऽउपविश्य प्रसूति प्रमूतो ऽध्वर्युः  
 स्तुचावादाय प्रत्यङ्ङतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह  
 समिधो यजेति सो ऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्य-  
 जति प्रजा वै बर्हिर्नेत् प्रजाः पितृषु दधानीति  
 तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजत्यथाज्यभागाभ्यां  
 चरन्त्याज्यभागाभ्यां चरित्वा \* ॥ २३ ॥

ते सर्वे ऽएव प्राचीनावीतिनो भूत्वा † । एतैर्वै  
 हविर्भिः ‡ प्रचरिष्यन्त इत्याद्यज मानश्च ब्रह्मा च  
 पुरस्तात् परीतः पश्चादग्नोत्तदुताश्रावयन्त्योऽ० स्वधे  
 त्यस्तु स्वधेति प्रत्याश्रावणं स्वधा नम इति  
 वषट्कारः § ॥ २४ ॥

तदुहोवाचासुरिः । आश्रावयेयुरेव प्रत्याश्राव-  
 येयुर्व्वषट् कुर्युर्नेद्यज्ञस्य विधाया अयामेति ॥ ॥ २५ ॥

अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्यो ऽनुब्रूहीति । सो-

\* चरित्वा—इति ग ।

† भूत्वा—इति ग ।

‡ एतैर्हविर्भिः—इति क, ङ ।

§ वषट्कारः—इति ग ।

माय वा पितृमते स हे पुरो ऽनुवाक्ये ऽअन्वा-  
हैकया वै देवान् प्रच्यावयन्ति दाभ्यां पितृन्  
त्सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्माद्दे पुरो ऽनुवाक्ये  
ऽअन्वाह ॥ २६ ॥

स उपस्तृणीत ऽआज्यम् । अथास्य पुरो-  
डाशस्यावदति स तेनैव सह धानानां तेन  
सह मन्यस्य तत् सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्य-  
स्याभिघारयति प्रत्यनक्तावदानानि नातिक्रामतीत्  
एवोपोत्यायाश्राव्याह पितृन् त्सोमवतो यजेति व्ष-  
ट्कृते जुहोति ॥ २७ ॥

अथाह पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो ऽनुब्रूहीति । स  
उपस्तृणीत ऽआज्य मथासां धानाना मवदति स  
तेनैव सह मन्यस्य तेन सह पुरोडाशस्य \* तत्  
सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
नक्तावदानानि नातिक्रामतीत् एवोपोत्यायाश्रा-  
व्याह पितृन् बर्हिषद्दो यजेति व्षट्कृते  
जुहोति ॥ २८ ॥

\* पुरोडाशस्य - इति चं. दृष्टं डा० वेवरेण ।

अथाह पितृभ्यो ऽग्निष्वान्तेभ्यो ऽनुब्रूहीति ।  
 स उपस्तृणीत ऽआज्यमथास्य मन्यस्यावद्यति स  
 तेनैव सह पुरोडाशस्य तेन सह धानाना तत्  
 सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्द्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
 नक्तावदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्यायाश्चा-  
 व्याह पितृनग्नि ष्वान्तान्यजेति व्षट्कृते  
 जुहोति ॥ २९ ॥

अथाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति । तत्  
 स्विष्टकृते हव्यवाहनो वै देवानां कव्यवाहनः पितृणां  
 तस्मादाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति ॥ ३० ॥

स उपस्तृणीत ऽआज्यम् । अथास्य पुरो-  
 डाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन सह  
 मन्यस्य तत् सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्द्विराज्यस्याभि-  
 घारयति न प्रत्यनक्तावदानानि नातिक्रामतीत  
 एवोपोत्यायाश्चाव्याहाग्निं कव्यवाहनं यजेति व्ष-  
 ट्कृते जुहोति ॥ ३१ ॥

स यन्नातिक्रामति । इत एवोपोत्यायं जुहोति  
 सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरो ऽथ यत् सकृत् सकृत्  
 उर्व्वेषां हविषां समवद्यति सकृदु ह्येव



पराञ्चः पितरो ऽथ यद्व्यतिषङ्गं भवदानान्यवद्यु-  
त्पृतवो वै पितर ऋतूनेवैतद्व्यतिषजस्यतून् सुन्द-  
धाति तस्माद्व्यतिषङ्गं भवदानान्यवद्यति ॥ ३२ ॥

तद्भुक्ते । एतु मेव होचे मन्य मादधति तः  
होतो पद्भूयावैव जिघ्रति तं ब्रह्मणे प्रयच्छति तं  
ब्रह्मादेव जिघ्रति तमग्नीधे प्रयच्छति तमग्नीद-  
वैव \* जिघ्रत्येतनन्वेवैतत् कुर्वन्ति यथा त्वेवे-  
तरस्य यद्भुखेडाप्राशिन्नः समवद्यन्त्येव मेवैतस्यापि  
समवद्येयुस्ता मुपहूयावैव जिघ्रन्ति न प्राश्नन्ति  
प्राशितव्यं त्वेव व्ययं मन्यामह ऽहति ह स्माहामुरि-  
र्यस्य कस्य चाग्नौ जुह्वतीति † ॥ ३३ ॥

अथ यतरो दास्यन् भवति । यद्यध्वर्युर्वा  
युजमानो वा स उदपात्र मादायापसलवि त्रिः  
परिषिञ्चन्पर्येति स युजमानस्य पितर भवने-  
जयत्यसाववनेनिक्षेत्यसाववनेनिक्षेति पितामह-  
मसाववनेनिक्षेति प्रपितामह ‡ तद्यथाशिष्यत ऽभि-  
षिञ्चेदेवं तत् § ॥ ३४ ॥

\* तमग्नीद्वेव—इति च दृष्टं डा० वेवरेण । † जुह्वतीति—इति ग ।

‡ प्रपितामह—इति क , छ ।

§ तत्—इति ग ।

अथास्य पुरोडाशस्यावदाय । सव्ये पाणौ कुरु-  
रुते धानाना मवदाय सव्ये पाणौ कुरुते मन्यस्या-  
वदाय सव्ये पाणौ कुरुते ॥ ३५ ॥

सु ये मामवान्तरदिश मनु सक्तिः \* । तस्यां  
युजमानस्य पित्रे ददात्यसावेतत्त ऽइत्यथ ये मा-  
मवान्तरदिश मनु सक्ति स्तस्यां युजमानस्य पिता-  
महाय ददात्यसावेतत्त ऽइत्यथ ये मामवान्तरदिश  
मनु सक्ति स्तस्यां युजमानस्य प्रपितामहाय ददा-  
त्यसावेतत्त ऽइत्यथ ये मामवान्तरदिश मनु सक्ति  
स्तस्यां निमृष्टे ऽत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग  
माहृषायध्व मिति यथा भाग मश्नीतेत्येवैतदाह  
तद्यदेवं पितृभ्यो ददाति तेना स्वाग्निपतृनेतस्मा-  
द्यज्ञान्नान्तरिति ॥ ३६ ॥

ते सर्वे ऽएव यज्ञीपवीतिनो भूत्वा † । उदञ्च  
उपनिष्क्रम्याहवनीय मुपतिष्ठन्ते देवान्वा ऽएषु  
उपावर्त्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्ण-

\* 'सक्तिः'—इति ग, घ ।

† 'भूत्वा'—इति ग, घ ।

मासाभ्यां यजते ऽथैतत् पितृयज्ञेनेवाचारिषुस्तद्  
देवेभ्यो निष्कृवते \* ॥ ३० ॥

ऐन्द्रीभ्या माहवनीय मुपतिष्ठन्ते । इन्द्रो ह्याह-  
वनीयो ऽक्षन्ममी मदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।  
अस्तीषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा  
न्विन्द्र ते हरी ॥ सुसन्दृशं त्वा व्यथं मघवन्व-  
न्दिषी महि । प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि  
व्यशां २ ॥ ऽअनु † योजान्विन्द्र ते हरीऽ  
इति ‡ ॥ ३८ ॥

अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्य मुपतिष्ठन्ते । मनो  
न्वाहा महे नाराशंसेन स्तोमेन । पितृणां  
च मन्मभिः ॥ आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे  
दुन्नाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे \* ॥ पुनर्नः  
पितरो मनो ददातु देव्यो जनः । जीवं व्रातं

\* निष्कृते—इति सा०-सम्मत इति डा० वेबरः ।

† 'वशांश्च'—इति च इत्ये डा०-वेबरेण ।

‡ 'हरीऽइति'—इति ग ।

§ 'दृशे'—इति ग, घ ।

सचे महीति पितृयज्ञेनेव वा ऽएतदचारिषु-  
स्तदु खलु पुनर्जीवानपिपद्यन्ते तस्मादाह जीवं  
व्वातः सचेमहीति \* ॥ ३६ ॥

अथ यतरो ददाति । स पुनः प्राचीना-  
वीती भुत्वाभिप्रपद्य जपत्यमी मदन्त पितरो  
यथाभाग माहृषायिषतेति यथाभाग माशिषुरित्खे-  
वैतदाह ॥ ४० ॥

अथोदपात्र मादाय । पुनः प्रसलवि त्रिः  
परिषिञ्चन् पर्येति स यजमानस्य पितर मवने-  
जयत्यसाववनेनिख्वेत्यसाववनेख्वेति पितामह मसा-  
ववनेनिख्वेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषि ऽभिषिञ्चे-  
देवं तत्तद्यत् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्  
पर्येति प्रसलवि न इदं कर्मानु सन्तिष्ठाता  
ऽहति तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्  
पर्येति ॥ ४१ ॥

अथ नीवि मुदृच्छ नमस्करोति । पितृदेवत्या  
वै नीवित्तस्मान्नीवि मुदृच्छ नमस्करोति यज्ञो

वै नमो यच्चियानेवैनानेतत् करोति षट् कृत्वो  
 नमस्करोति षड् वा ऽऋतव ऋतवः पितरस्तुष्टु-  
 ध्वेवैतद्यज्ञं प्रतिष्ठापयति तस्मात् षट् कृत्वो नम-  
 स्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणां ह पितर  
 ईशत ऽएषो ऽएतस्त्राशीः कर्मणः ॥ ४२ ॥

ते सर्व्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । अनु-  
 याजाभ्यां प्रचरिष्यन्त इत्याद्यजमानश्च ब्रह्मा च  
 पञ्चात् परीतः पुरस्तादग्नीदुपविशति होता  
 होतृषदने ॥ ४३ ॥

अथाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि । समिधु माधा-  
 याग्नि मग्नीत् सम्मृड्ढीति स्रुचावादाय प्रथङ्ङ-  
 तिक्रामत्यतिक्रम्याश्चाव्याह देवान् यजेति सो ऽप  
 बर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति प्रजा वे बर्हिर्नेत्  
 प्रजाः पितृषु दधानीति तस्मादप बर्हिषौ द्वावनु-  
 याजौ यजति ॥ ४४ ॥

अथ सादयित्वा स्रुचौ व्यूहति । स्रुचौ  
 व्युह्य परिधीन्त्समज्य परिधि मभिपद्याश्चाव्या-  
 हेषिता द्वैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः  
 सूक्तवाकायेति सूक्तवाक् होता प्रतिपद्यते नाध्वर्युः

प्रस्तरुं समुत्सृज्यतीत्येवोपास्ते यदा होता मूक्त-  
वाक माह \* ॥ ४५ ॥

अथाग्नीदाहानु प्रहरति । स न किञ्चनानु-  
प्रहरति तूष्णीं मेवात्मान मुपस्पृशति ॥ ४६ ॥

अथाह संवदस्वेति † । अगानग्नीद्गञ्ज्रावय  
श्रीषट् स्वगा दैव्या हातभ्यः स्वस्ति मानुषेभ्यः शं  
योर्ब्रह्मीत्युपस्पृशत्येव परिधीन्नानुप्रहरत्यैतद्बर्हि-  
रनुसमस्यति परिधींश्च ॥ ४७ ॥

तद्वैके । हविरुच्छिष्टं मनु समस्यन्ति तद् तथा  
न कुर्याद्भुतोच्छिष्टं वा ऽएतन्नेद्भुतोच्छिष्टं मग्नौ जुहवा-  
मेति तस्मादपो वैवाभ्यवहरयुः प्राश्नीयुर्वा ॥ ४८ ॥ २ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [६. १.] ॥

\* 'मूक्तवाक माह'—इति ग, घ ।

† 'संवदस्वेति'—इति ग, घ ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निश्चिमे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ पिण्डपितृयज्ञं \* विधिक्षुः पितृणा मुत्पत्ति माह—  
“महाहविषा ह वा इत्यादि † । “येषां विजितिरिति । व्यज-  
यन्तेति सम्बन्धः । “अथ यानित्यादि । ‘यस्मिन्’ ह्यसुर-  
युहे येषां देवानां मध्ये ‘यान् एव’ असुराः ‘अन्नन्’ अमारयन्,  
‘तान्’ हतान् देवान् पिण्डयज्ञाख्येन वक्ष्यमाणेन कर्मणा ‘समै-  
रयन्त’ समागच्छन्त । ते मृताः पिण्डदेवता एव अभवन् ।  
पितृनुद्दिश्य कियमाणत्वात् ‘पिण्डयज्ञः’ इति अन्वर्थेयं सञ्ज्ञे-  
त्याह— “तस्मादिति ॥ १ ॥

“तदसन्त इत्यादि । ‘तत्’ तत्र ‘ये’ देवाः ‘व्यजयन्त’  
विजय मेव प्राप्ताः, न पुनरसुरेण हताः, ‘ते’ वसन्ताद्यृतु-  
द्वयात्मकाः; ‘यान्’ हतवन्तः, ‘ते’ पिण्डयज्ञेन ‘समैरयन्त’  
समागच्छन्, ‘ते’ एव शरदाद्यास्तय ऋतवः । एतेषा मनु-  
षूपत्वप्रतिपादनम् उपरिष्ठात् ‡ “ऋतवः पितरः”—इति करिष्य-  
माणस्तुत्योपोद्घातत्वेन ॥ २ ॥

\* ‘अथ पिण्डयज्ञः’—इति च ।

† आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः, सौम्यश्चरुः, सावित्री दादश-  
कपालो ऽष्टाकपालो वा उपांशुदेवतः, सरस्वत्यै चरुः, पूष्यो चरुः,  
रेन्नाग्नौ दादशकपालः, माहेन्द्रश्चरुः, वैश्वकर्मण्य एककपाल उपांशु-  
देवतः । एषा मृदानां हविषां नाम महाहविरिति ।

‡ इदमेव ब्राह्मणे चतुर्थकण्डिकायां ( ३४४ पृ० ६ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

इदानोत्तनानुष्ठानस्यापि उक्तफलसाधनत्व माह— “अथ यदिति । ‘अथ’ इदानीं मपि ‘एषः’ यजमानः ‘एतेन’ पितृयज्ञेन ‘यजते’ इति ‘यत्’, ‘तत्’ तस्मात् । ‘अह’, ‘तु’, ‘एव’ इति त्रयो निपाताः । ‘एतस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिनं ‘कश्चन’ ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थे, क मपि पुरुषं ‘न’ एव ‘नन्ति’ असुरादयो न मारयन्ति । तत्र कृतानुकरत्वे हेतु माह— “इति देवा इति । इत्थं ‘देवाः’ पुरा ‘अक्षुर्वन्’ पितृयज्ञास्य’ कर्म । देवैर्येन प्रकारेणानुष्ठितम्, तेनैव प्रकारेणानुष्ठिति, न स्वातन्त्र्येण किञ्चित् करोतीत्यर्थः । तदेव द्रव्यदेवतासङ्गं प्रतिपादयति— “य मु चैवैभ्य इत्यादिना । ‘एभ्यः’ पितृभ्यो ‘यम्’ एव पुरोडाशधानादिरूपम् ‘भागं’ ‘देवाः’ ‘अकल्पयन्’, ‘एतत्’ एतर्हि ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘तम्’ एव भागम् ‘एभ्यः’ ‘करोति’ । तथा देवाः पुरा असुरहतान् पितृभावं प्राप्तान् ‘यान्’ एव ‘समीरयन्त’ समगच्छन्, ‘तान्’ एव पितृत्वं प्राप्तान् देवान् ‘एतद्’ यजमानः ‘अवति’ हविषा तर्पयति । अवतिरत्र तृप्तार्थः\* । तेन च पितृदेवतातर्पणेन ‘स्वान्’ स्वकीयानेव ‘पितृन्’ पितृ-पितामहाद्यान् ‘श्रेयांसम्’ प्रशस्यतमं ‘लोकम्’ ‘उपोन्नयति’ उपप्रापयति । अपि च ‘अत्र’ अस्मिन् कर्मणि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘आत्मनः’ स्वस्य ‘अनुचरणेन’ अनुगमनेन च यदेव प्राणिजातं ‘हन्थते’, ‘मीयते’ ताडयते । यद्वा ‘मीयते’ “मीड् + हिंसायाम्”

\* “अव-रक्षण-गति-क्रान्ति-प्रीति-तृप्तावगम-प्रवेश-अवण-स्वाम्यर्थ-याचन-क्रियेच्छा-दीप्तावाप्राणिङ्गन-हिंसा-दान-भाग-वृद्धिषु”—इति भा० प० ६०० धा० ।

† ‘मिद्’—इति ( भा० प० ८६८ धा० ) च ।



—इति धातुः \* । ‘एतेन’ पितृयज्ञेन अस्य तदेव पुनराप्यायते, पुनः प्रवृद्धं भवतीति । “तस्मादिति । पितृयज्ञस्य विधिः । यस्मात् उदीरितफलहेतुः पितृयज्ञः, तस्मादनेन यष्टव्यमित्यर्थः । ‘यजते’—इति पञ्चमलकारेण वर्त्तमानोपदेशः † ॥ ३ ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधत्ते— “स पितृभ्य इति । सोम एषा मस्तीति सोमवन्तः कृतसोमयागः । एतद्विशेषयागविशिष्टेभ्यः ‘पितृभ्यः’ षट्सु कपालेषु संस्कृतं ‘पुरोडाशं’ ‘सः’ यजमानः निर्वपेत् । देवताविकल्पमाह— “सोमाय वेति । × × × सोमाय वा निर्वापः कर्त्तव्यः । तदुक्तं कात्यायनेनापि— “पितृभ्यः सोमवद्भ्यः षड्कपालः सोमाय वा पितृमते”—इति ‡ । इदं देवताविकल्पमाश्वलायनोऽप्याह स्म— “पितरः सोमवन्तः सोमो वा पितृमान्”—इति § । कपालसङ्ख्यां प्रशंसति— “षड् वा इति । “ऋतवः पितर इति । शरहेमन्तशिशिराः, त एते यत् पुनः समैरयन्तेत्याम्नातवान्, तत् पितृणां सृत्तुतादात्म्यम् । यद्वा ‘यस्मिन् वा ऋतौ पुरुषः प्रमीयते, सोऽस्यामुष्मिंल्लोके भवति”—इति श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धे ॥ वसन्ताद्यृत्वात्मकाः पितरः ॥ ४ ॥

द्वितीयं हविर्विधत्ते— “अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्य इति । बर्हिषि सीदन्तीति बर्हिषदोऽकृतसोमयागाः, केवलहविर्यज्ञ-

\* दि० व्या० ११३७ घा० ।

† का० श्रौ० सू० ५, ८, १ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ८, ६, १० ।

§ आश्व० श्रौ० सू० २, १६, २१ ।

॥ तै० ब्रा० १, ६, ८, ३ ।

याजिनः पितरः । पृषोदरादित्वात् वर्षलोपः \* । एतद्गुण-  
विशिष्टेभ्यः पितृभ्यो धानारूपं हविः कर्त्तव्यमिति शेषः † ।  
तत्करणप्रकारमाह — “अन्वाहार्यपचन इति । भृष्टयवतण्डुला  
धानाः ; तदर्थं दक्षिणाग्नी भर्जनकपालमधिस्थित्य, तत्र  
तत्रण्डुलानोप्य भर्जनं कुर्यादित्यर्थः । ततो भर्जनानन्तरं ता  
धाना हेधा विभज्य, अर्हाः प्रकृतिवत् समन्वकं ‘पिषन्ति’  
समन्वकं चूर्णयन्ति । “पिष्टु सञ्चूरेण”-इति धातुः ‡ । ‘अर्हा  
इत्येव’ । एवमेवापरा अर्हा ‘धानाः’ ‘अपिष्टाः’ पेषणरहिता  
अधिकृता भवन्ति । ता अपिष्टा धानाः ‘पितृभ्यो बर्हि-  
षज्ञाः’ देयाः § ॥ ५ ॥

अथ तृतीयं यागं विधत्ते — “अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्य  
इति ॥ । आधानमंस्काराभावेन त्रेताग्न्यभावात् केवलमौपा-  
सनाग्निनैवाद्यमाना (१) गौः ‘निवान्या’ । षष्ठ्यर्थं चतुर्थी । तस्याः  
पयसि प्रक्षिप्तो मथितो धानाचूर्णः ¶, ‘एकशलाकया’ एका  
चासौ शलाका च, “पूर्वकालैकसर्व०”-इत्यादिना \*\* समामः ।  
एकयैव शलाकया ‘सकृत्’ एकवारम् ‘उपमथितः’ आलोडितो  
हविः ‘मन्यः भवति’ इत्यर्थः । उपमथनस्य सकृत्त्वं प्रशंसति —  
“सकृदु ह्येवेति । एकवारमेव हि अर्घ्यं स्तस्माद् गार्हपत्यापरदेशात्  
उत्थाय अन्वाहार्यपचनस्यादूरेणोत्तरप्रदेशे × × × रागता अपुन-

\* “पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्”-इति पा० सू० ६. ३. १०६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ८. ११ ।

‡ सू० प० १५. धा० ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ८. १८, १९ द्रष्टव्य ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ८. १२ ।

¶ एष एव मन्य उच्यते ।

\*\* पा० सू० २. १. ३६ ।

राहताः सन्तः पितरो भवन्ति (?), अतस्तेषां सकृत्त्व मसाधारण-  
धर्म इति हविःसंस्कारस्यापि सकृत्त्व मुचित मिति भावः \* ।  
विहितानि त्रीणि हवींषि सम्भूय निगमयति— “एतानिति ॥६॥

एतेषां हविषां या देवताः “पितृभ्यः सोमवद्भ्यः”—इत्यादिना  
निर्दिष्टाः, तासां स्वरूपं परस्परसङ्कीर्णं मिति ब्रूते— “तद्य  
इति । ‘तत्’ तत्र ‘सोमिनेजानाः’ सोमिनेष्टवन्तः पञ्चत्वं प्राप्ताः  
‘ते पितरः’ ‘सोमवन्तः’ इत्युच्यन्ते । ‘अथ’—शब्दः त्वर्थः । ‘ये’  
तु ‘पक्वो’ पाकसंस्कृतेन, चरुपुरोडाशादिहविषा देवेभ्यो दत्तेन  
केवलं हविर्यज्ञयाजिन एव † सन्तो ‘लोकं जयन्ति’, ‘ते पितरः’  
‘बर्हिषदः’ इत्याख्यायन्ते । ‘ये’ पुनः ‘ततः’ तयोर्मध्ये ‘अन्य-  
तरत्’ अपि ‘न’ प्राप्नुवन्ति, केवलं मौपासनाग्निरेव ‘दहन’  
शरीरान्ते ‘स्वदयति’ आस्वादयति, भक्षयतीत्यर्थः । तैत्तिरीयके-  
ऽप्याम्नातम्— “ये वै यज्वानः, ते पितरो बर्हिषदः०---० ; ये वा  
अयज्वानो गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः”—इति ‡ ॥ ७ ॥

पितृयज्ञप्रयुक्तं विशेषं वक्तुं चोदकप्राप्तं मङ्गकलापं मनुक्रा-  
मति— “स जघनेनेत्यादिना । दक्षिणामुखत्वं प्राचीनावीतित्वं  
च हविर्यज्ञे विशेष इत्यर्थः । “स तत एवेत्यादि । ‘सः’  
अध्वर्युः तस्माद् गार्हपत्यापरदेशादुत्थाय अन्वाहार्यपचनस्य अदूरे-  
णोत्तरदेशे दक्षिणामुखस्तिष्ठन् अवहन्यात् § । चोदकप्राप्तं फली-

\* “यदसकृद्देवानां तत्, सकृत् पित्रा मिति पित्रात्वादत्र सकृद्-  
ग्रहणे प्राप्ते व्याह— ‘चतुर्वा ग्रहणम् ( का० श्रौ० सू० ५, ८, १३ )’—इति  
वा निर्द्धारणे”—इति या० दे० ।

† ‘हविर्यज्ञयाजिन एव’—इति च ।

‡ तै० ब्रा० १, ६, ६, ६ ।

§ का० श्रौ० सू० ५, ८, १४ क ।

करणस्य त्रिष्करण मपास्य सक्तत्वं विधत्ते— “सक्तत् फली-  
करोतीति ॥ ८ ॥

“स दक्षिणैवेति । ‘सः’ अध्वर्युः दक्षिणामुख एव सन्  
अवहननदेशे पेषणार्थं ‘दृषदुपले’ उपदध्यात् । षट्कपालस्य  
पुरोडाशस्य गार्हपत्यदक्षिणायां अपणं विधाय स्तौति— “दक्षि-  
णाहं गार्हपत्यस्येत्वादिना \* । “तद् यदेता मिति । ‘तत्’  
तत्र पितृयज्ञसम्बन्धित्वेनानुष्ठेयपदार्थेषु ‘यद्’ यस्मात् कारणात्  
‘एतां दक्षिणां दिशं सचन्ते’ ऋत्विग्यजमानाः समवयन्ति ।  
“षच समवाये”—इति † धातुः । “एषा हीति । ‘हि’-शब्दो  
दक्षिणस्या दिश इह श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं पितृसम्बन्धं द्योतयति ।  
तथा च तैत्तिरीयकम्— “देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त , प्राचीं  
देवा दक्षिणां पितरः”—इति ‡ ॥ ८ ॥

पित्राया वेदेर्निर्माणं विधत्ते— “अथ दक्षिणेनेति § । “चतुः-  
स्रक्ति मिति । चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्याः सा तथोक्ता । तासां  
चतुःस्रक्तीना माम्नेयाद्यवान्तरदिक्सम्बन्धं विधत्ते— “अवा-  
न्तरदिशोऽन्विति । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् ॥ , “कर्म-  
प्रवचनीययुक्ते”—इति द्वितीया ¶ । अवान्तरदिक्स्थाः स्रक्तीः कुर्या-  
दित्यर्थः । स्रक्तीनां चतुष्टु मुपपादयति— “चतस्रो वा इति ।  
पितृणा मवान्तरदिग्रूपता श्रुत्यन्तरप्रसिद्ध्याभवगन्तव्या ॥ १० ॥

\* का० औ० सू० ५, ८, १४ ख ।

† भा० उ० ६६७ घा० ।

‡ तै० सं० ६, १, १, १ ।

§ “दक्षिणेन दक्षिणाम्निं परिष्ठत मुदगद्वारं तन्मध्ये वेदिं करो-  
व्यवान्तरदिक् स्रक्ति माप्रान्ते”—इति का० औ० सू० ५, ८, २१ ।

॥ पा० सू० “अनुर्लक्षणे”—इति १, ४, ८४ । ¶ पा० सू० २, ३, ८ ।

अथाग्निस्थापनं विधत्ते— “तस्मध्य इति । दक्षिणाग्नि  
माहृत्य तस्या वेदेर्मध्ये स्थापयेदित्यर्थः । तथा च कात्यायनः—  
“अवान्तरदिक् स्रक्ति माप्तगन्ते दक्षिणाग्निं मध्येऽस्याः करोति”—  
इति \* । एतस्मध्ये स्थापनं सुपपादयति— “पुरस्ताद्वा इत्यादिना ।  
‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि आहवनीयसमीपे ‘प्रत्यञ्चः’ प्रत्यङ्मुखः  
सन्तो देवा ‘मनुष्यान्’ ऋत्विग्यजमानान् ‘अभि-’लक्ष्य ‘उपा-  
हृत्ताः’ उपगता भवन्ति । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘तेभ्यः’ देवेभ्यः  
‘प्राङ्’-मुखः ‘तिष्ठन्’ अध्वर्युः जुहोति । व्याप्यावस्थितानां  
तेषां सर्वतोमुखत्वं सुपपादयति— “सर्वतः पितर इति ।  
अवान्तरदिशां व्यापित्वेन तद्रूपाणां पितृणां मपि व्यापित्वात्  
प्राच्याद्यन्यतमदिङ्मुखत्वं दुर्ज्ञानं मिति सर्वतः परीत्य हवनार्थं  
मध्येऽग्नेः स्थापनं मिति निगमनवाक्यस्यार्थः ॥ ११ ॥

“स तत एवेत्यादि । अस्मिन् हि पितृयज्ञे दक्षिणा दिक्  
प्राची जाता, ततः प्राक्प्रतीचे तु दक्षिणोत्तरदिशी सम्पन्नी ;  
तत्र सव्यभागेऽवस्थिता प्राची दिक् उत्तरा , दक्षिणभागावस्थिता  
प्रतीची दिक् दक्षिणा ; तथाच प्रकृतौ उदीच्यां दिशि क्रियमाणं  
स्तम्बयजुर्हरणं मत्र प्राच्यां सम्पद्यते । अयं मर्थः,— तस्या  
वेदेः सकाशादेव सोऽध्वर्युः प्राक् प्राच्यां दिशि स्तम्बयजुर्हरेत् \* ।  
तस्या वेदेः परिग्रहं मभिनयेन दर्शयति— “अथिलेवाग्रे इति ।  
‘अग्रे’ प्रथमम् ‘इत्येव’ एवमेव पश्चाद् भागे दक्षिणापवर्गं रेखया  
परिगृह्णीयात् । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘इति’ एवम् उत्तरतः  
प्रागपवर्गं परिगृह्णीयात् । एवं पुरस्ताद् दक्षिणापवर्गं परि-

\* का० श्रौ० सू० ५. ८. २१ ख०, २२ ।

† १ भा० १५७ पृ० “१”—टीप्यमी द्रष्टव्या ।

गृहीयात् । अत्र प्रतीच्यदीचीप्राचीत्यनेन क्रमेण पूर्वोक्तरीत्या दक्षिणाप्रतीच्यदग्दिगो भवन्ति । तासु दिक्षु परिग्रहणं प्रकृतौ व्याख्यातम् \* । सूत्रितञ्च कात्यायनेन— ‘पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतश्च’—इति † ।

लेखनादीनि यानि वेदिसम्बन्धीनि कर्माणि , एतानि सर्वाणि अत्रापि तथैव कर्तव्यानि इति अभिप्रेत्य सिद्धवत् अनु-  
क्रामति— “लिखति हरति यद्धार्यं मित्यादिना ‡ । ‘यत्’ ‘हार्यं’  
हरणोयं भवति , तत् हरेत् इति सम्बन्धः । “स तथैवेति ।  
येन प्रकारेण पूर्वपरिग्रहः कृतः , तेनैव प्रकारेणोत्तरं  
परिग्रहं कुर्यात् ।

ननु “परौ यज्ञे”—इति § परिपूर्वाद् ग्रहेर्यज्ञविषये घञा  
भवितव्यम् , कथं मच्,— पूर्व-पूर्वपरिग्रहेणेति , उत्तर परिग्रहे-  
णेतिरूपसिद्धिः ? नैषः दोषः ; “व्यत्ययो बहुलम्”—इति ॥ ‘ग्रह-  
ह-ट-नि-श्चि-गमश्च’—इत्यप् \*\* भवति ।

“प्रतिगृह्येति । “पुरा क्रूरास्य”—इति प्रकृतौ यदनुमार्जनम् †††,  
तत् कृत्वेत्यर्थः । प्रकृतिवदेव ‡‡ “प्रोक्षणीरासादय”—इति  
प्रेष मग्नीध्रप्रेषितार्थानुष्ठानञ्चाह — “प्रोक्षणीरित्यादिना । “स  
यज्ञोपवीतीति । एतावत् कर्म प्राचीनावीतिनैवाध्वर्युणा कर्त-

\* १का० २अ० ४ब्रा० ८—२१ कडिका, द्रष्टव्याः ।

† का० श्रौ० सू० २. ६. २५ ।

‡ तदुक्तं कात्यायनेन — ‘पिष्टयज्ञानिचित्ययोः’—इति २. ६. २८ ।

§ पा० सू० ३. ३. ४७ ।

॥ पा० सू० ३. १. ८५ ।

\*\* पा० सू० ३. ३. ५८ ।

†† १भा० १६६ पृ० ५ पं० ।

‡‡ १भा० १५५ पृ० १२ पं० , १६८ पृ० ८ पं० द्रष्टव्ये ।

व्यम् ; 'सः' अर्ध्वर्युः इदानीं 'यज्ञोपवीती' 'भूत्वा' प्राकृतवदेव  
'आज्यानि' गृह्णीयात् \* ॥ १२ ॥

तत्रोपभृति ग्रहणे केषाञ्चित् मतं सुपन्थस्यति— “तदाहु-  
रिति । 'हौ ह्यत्र'—इति तत्र कारणाभिधानम् । 'अत्र' खलु  
पितृयज्ञे 'हि' यस्माद् 'हौ' एव 'अनुयाजौ' प्रयाजानुयाजाना  
मेव बर्हिष्टस्य विधास्यमानत्वात् प्रथमस्यानुयाजस्य बर्हिषो-  
ऽनुष्ठाने सति हावेवानुयाजौ 'भवतः', अतस्तदर्थं 'द्विरुप-  
भृति गृह्णीयात्' † । ननु प्रयाजेषु समानयनार्थं मपि अहीतु  
माज्येन भवितव्यं मिति चेत्, न ; प्रयाजेषु बर्हिर्युक्तस्य चतुर्थ-  
यागस्य प्रतिषेधेन तत्प्रयुक्तस्य समानयमानस्याप्यभावात् । अत  
एवोक्तं सूत्रकृता — “असमानयनं वा बर्हिःसंयोगात्”—इति ‡ ।

इदानीं पश्चान्तरं माह— “तदृष्टावेवेति । प्रकृतिवद् अष्ट-  
कत्वं एव 'उपभृति गृह्णीयात्' । गृह्णतोऽभिप्रायं माह— “ने-  
दिति । यज्ञसम्बन्धिभ्याः विधायाः, विधा प्रकारः संख्या ;  
तस्मात् 'न' एव 'अयानि' गच्छानि 'इति' अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ।

आज्यग्रहणानन्तरं मिध्मप्रोक्षणादिकर्मस्वध्वर्योः पुनः प्राचीना-  
वीतित्वञ्च विधत्ते — “आज्यानि गृह्णीत्वेति ॥ १२ ॥

इध्मप्रोक्षणादिकं प्रकृतिवदेव कर्मव्यं मित्यनुक्रामति—  
“प्रोक्षणीरिति । “अथास्मा इति । 'अथ' वेदिप्रोक्षणानन्तरम्  
'अस्मै' अर्ध्वर्यवे 'बर्हिः' प्रयच्छन्ति' । आदाय अर्ध्वर्युहस्ते परि-  
कर्मिणो दस्युरित्यर्थः । “तत्पुरस्ताद्ग्रन्थीति । 'तद्' बर्हिः

\* “यज्ञोपवीत्याज्यग्रहणे”—इति का० श्रौ० सू० ५, ८, २६ ।

† “द्विर्वोपभृति”—इति च का० श्रौ० सू० ५, ८, २७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ८, ३६ ।

‘पुरस्ताद्ग्रन्थि’ पूर्वस्यां दिशि यथा भवति तथा वेद्या मध्वर्य-  
रासादयेदित्यर्थः \* । तत् प्रकृतिवदेव प्रोक्षणीशेषम् ‘उपनीय’,  
बर्हिषः सन्नहनस्य ग्रन्थिं विस्रंस्य, ततः सकाशात् प्रस्तर-  
मुष्टिं पृथक् न गृह्णीयात् † । तत्र कारणं माह— “सकृद्  
ह्येवेति । बर्हिषः सकाशात् प्रस्तरस्य पृथक्करणे बर्हिषः सकृत्त्वं  
व्याह्रन्थेत्, न चैतत् पिष्टयज्ञे युक्तं मिति भावः ॥ १४ ॥

बर्हिषः स्तरणप्रकारं माह— “अथ सन्नहनं मिति । सन्न-  
हनेऽनेनेति सन्नहनं रज्जुः । ‘अपसलवि’ अप्रदक्षिणम्, अग्निं  
परितो वेद्यां ‘त्रिः परिस्तृणन्’ पर्येतीत्यर्थः । एवं परितः  
स्तरणानन्तरं ‘यावद्’ बर्हिः ‘प्रस्तरभाजनं’ प्रस्तरस्य योग्यं  
पर्याप्तं भवति, ‘तावत्’ ‘परिशिनष्टि’ अवशेषयेत् । “अथ  
पुनरिति । ‘अथ’ अप्रदक्षिणपरिगमनानन्तरम् ‘पुनः’ ‘प्रसलवि’  
प्रदक्षिणं ‘त्रिः पर्येति’ । अत एव सूत्रकृतोक्तम्— “बर्हिर्वि-  
स्रंस्य यून्श्चाये गृह्णीत्वा त्रिस्तृणन्नग्निं पर्येति प्रस्तरमात्रं शिष्टा  
तावत् प्रतिपर्येति”—इति ‡ ।

एतत् प्रतिपरिगमनं मनूय स्तीति— “तद्यानेवेति । ‘तत्’  
तत्र स्तरणसमये त्रिप्रदक्षिणगमनेन ‘यान्’ एव ‘असून्’  
विप्रकर्षेण पिष्टलोकेऽवस्थितान् त्रिविधान् “पिष्टभ्यः सोमवदभ्यः”  
—इत्यादिना हविर्देवतात्वेन प्राग्दर्शितान् ‘अन्ववागात्’ अनुप्राप्नोत्,  
‘एतत्’ एतेन पुनस्त्रिः प्रदक्षिणकरणेन ‘तेभ्यः एव’ पिष्टभ्यः

\* का० श्रौ० सू० ५. ८. २८ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ८. ३० । ‘ऊग्रपसूप्रस्तरोपसन्नहं’ चेद्वा बर्हिः  
—इति तत्पद्धतौ (५. ७) ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ८. २६, ३० । ‘यूनं = सन्नहनम्’— इति या० दे० ।



सकाशात् 'पुनः' 'अपोदेति' अपगच्छति, 'स्व' स्वकीयम् 'इमं लोकम्' 'अभि' प्राप्तुम्। "तस्मादिति, प्रतिपादितार्थ-निगमनम् \* ॥ १५ ॥

"स दक्षिणैव परिधीनिति। 'सः' स्वयं 'दक्षिणा' दक्षिणाग्रान् 'एव' 'परिधीन्' परिदध्यात्। ततः पश्चात् पुरस्ताच्च तत्र दक्षिणाग्नौ परिधीन्, उत्तरप्रागग्रं प्रस्तरं, सर्वमवशेषितं बर्हिश्च दक्षिणाग्रं स्तृणीयात्। प्रकृतितः प्राप्तं ण विष्टयन्तर्द्धानं निषेधति— "नान्तर्दधातीति। अन्तर्द्धानेऽधस्तन-बर्हिषी विभज्येयाताम् ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रस्तरजुद्धादीनामासादनस्य प्रकारविशेषं विधत्ते— "स तत्रेति। प्रस्तरस्योपरि पश्चाद्भागि प्रथमं 'जुह्वम्' आसाद्य, ततः पूर्वभागे 'उपभृतम्', ततः पुरस्तात् 'ध्रुवाम्' ‡, अन्ततो 'हवींषि', इत्यनेन क्रमेणासादयन्नासादितहविषा मभिमर्शनं कुर्यादित्यर्थः § ॥ १७ ॥

"ते सर्व एवेति। न केवलमध्वर्युरेव, ऋत्विग्यजमानाः 'सर्व एव ते' अस्मिन् समये 'यज्ञोपवीतिनः' भवेयुः ॥ 'इत्यात्'—इत्यमिनयदर्शने; अनेन प्रकारेण ब्रह्मयजमानो आहवनीयस्य पुरतो गत्वा, अप्रदक्षिणं पर्याहृत्य, पिष्टयज्ञवेदेः पश्चाद्दक्षिणं

\* का० श्रौ० सू० ५. ८. २४, २५।

† १ का० २ प्र० ६. १३, ३ प्र० १. १ द्रष्टव्ये।

‡ 'सुवो जुह्वः, उपभृतं पृषदाज्योपभृच्च ध्रुवा'—इति पठन्तौ या० दे०।

§ का० श्रौ० सू० ५. ८. ३१, ३२।

॥ "सामिधेनिषैषाद्याज्यभागाभ्यां यज्ञोपवीतिनः सर्वे"—इति का० श्रौ० सू० ५. ८. ३३।

‘परीतः’ परिक्रामत इत्यर्थः । आग्नीधस्तु तस्या वेदेः ‘पुर-  
स्तात्’ पूर्वदेशं गच्छेत् \* ; तत्र हि स्तम्बयजुर्हरणं कृतम् ॥ १८ ॥

पिठयज्ञेनोपांशुप्रचरणं विधत्ते— “तेनोपांशु चरन्तीति † ।  
“तिर इव वा इति । तिरोहिता एव पितरो ऽभवन् , तेभ्यः  
‘यद्’ ‘उपांशु’ करणम् , ‘तत्’ अपि ‘तिरः’ तिरोहित मेव  
भवति । तथाचान्तर्हिताना मुपांशुप्रचरणं युक्त मिति भावः ॥ १९ ॥

पिठयज्ञस्थानस्य परिश्रयणं विधाय स्तीति— “परिहृत  
इति । ‘परिहृते’ परिवेष्टिते स्थाने ; सिद्ध मन्यत् ॥ २० ॥

“स एका मेवेति । ‘सः’ होता “अग्नये समिध्यमानाय”  
-इति अध्वर्युणा प्रेषितः सन् ‘एका मेव’ ‘सामिधेनी’ ‘त्रिः’  
ब्रूयात् । “प्र वो वाजाः”—इत्याद्याः सामिधेन्यः पञ्चदश ‡ ।  
तत्र सामिधेन्येकत्वे कारण माह— “सक्तु ह्येवेति ॥ २१ ॥

अनुवक्तव्यां ता मेकां सामिधेनीं दर्शयति— “सोऽन्वा-  
हेति । ‘सः’ होता “उशन्तस्त्वा”—‘इति’ § एतां सामिधेनीं  
त्रिः अनुब्रूयात् । अस्याय मर्थः— हे अग्ने ! ‘उशन्तः’ काम-  
यमानाः वयं त्वां ‘निधीमहि’ वेशां स्थापयामः । तथा  
‘उशन्तः’ त्वत्साध्यं यागं कामयमाना एव सन्तः ‘समिधी-  
महि’ त्वां समिहं करवामहे । अग्ने ! त्व मपि अस्मदुक्त

\* का० श्रौ० सू० ५. ८. ३४, ३५ ।

† “पिठयज्ञ उपांशुप्रचरणम् , पुरस्तादुपचारः , ब्रह्मयजमानयोश्च,  
पूर्ववहा, अपत्नीकः, दक्षिणाग्निराहवनीयवत् , पूर्वेणाहवनीयं प्रणीताः  
परिहरति, अर्थवच्च”—इत्यथौ ( का० श्रौ० सू० ५. ८. १--८ ) सूत्राणीह  
समन्तादालोप्यानि ।

‡ ऋ० सं० ३. २७. १—१५ ।

§ ऋ० सं० १०. १६. १२ ; य० वा० सं० २० ७० ।

मर्थं 'उग्रन्' कामयमानः सन् 'उग्रतः' अस्मदीयं यज्ञं कामय-  
मानान् 'पितृन्' 'आवह' भागमय । किमर्थम् ? 'हविषे  
अत्तवे' अस्माभिर्दत्तं हविर्भोक्तुम् । "क्रियाग्रहण मपि कर्त्त-  
व्यम्"—इति \* कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । "अद भक्षणे"  
—इति †, अस्मात् "तुमर्थं सेसेन्"—इति तवेन् प्रत्ययः ‡ ।

"अथाग्नि मावहेत्यादि । सामिधेन्यनुवचनानन्तरम् "अग्नि  
मावह"—इत्याद्यावाहननिगदं ब्रूयात् । तत्रानीषोमावाच्यभाग  
देवते, पितरः सोमवन्त इत्याद्याः प्रधानदेवताः, 'देवा आज्यपाः'  
प्रयाजानुयाजदेवताः । तेषां सर्वेषां मावाहनं कर्त्तुं मग्निः  
प्रेष्यते— "अग्निं होत्राय"—इत्यादिना । शेषेण खिष्टकृद्देवताया  
आवाहनप्रतिपादनम् । 'होत्राय' होत्राय होत्रकर्मणे वा 'अग्निम्  
आवह' । अग्निश्चात्तनाम्नस्तव स्वभूतो महिमा, तम्, तद्रूप-  
स्वीकारिण मग्नि मावहेत्यर्थः । "इत्यावाञ्छेति । अनेन निग-  
देनावाञ्छ तत्रोपविशेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

प्रकृतिवत् प्राप्तं होत्रवरणं निषेधति— "अथाश्राव्य न  
होतार मिति § । आवाहनानन्तर माश्रावणप्रत्याश्रावणे कृत्वा,  
'सीद होतः !' इत्येवाध्वर्युर्ब्रूयात् ; न तु "अग्निर्देवो दैव्या  
होता"—इति निगदेन होतारं प्रहृणीतेत्यर्थः । एतदुपपादयति—  
"पिष्टयज्ञो वा अय मिति । यतोऽयं पिष्टयज्ञः, अतोऽत्र  
पितरः सन्निहिताः; तत्र यदि होतुर्वरणं कुर्यात्, तदा 'न'  
'होतारं' तेषु पिष्टेषु 'दधाति' स्थापयति, न चैतद् युक्तम्,  
'इति' अनेनाभिप्रायेण 'होतारं' 'न' प्रहृणीयात् ; किन्तर्हि

\* पा० १, ४, ३२ सू० वा० १ ।

† अद० प० १ धा० ।

‡ पा० सू० १, ४, ६ ।

§ का० श्रौ० स० ५, ८, ३६ ।

आश्रावणानन्तरं ब्रूयात् इति, तदाह— “सीदेति । हे  
‘होतः’ त्वं ‘सीद’ उपविश ‘इति’ एतत् वाक्यम् अध्वर्युर्ब्रूयात् ;  
न होतुर्वरणम् । ‘होता’ चैवं कृत्वा ‘होतृषदने’ ‘उपविशति’  
उपविशेत् ।

सुगादाननिगटेनाध्वर्युः ‘प्रसूति’ अनुजानाति । “षु  
प्रसवैश्वर्ययोः”—इति \* धातुः । स च ‘प्रसूतः’ हीना प्रेरितः  
‘अध्वर्युः’ ‘सुची’ जुह्वपश्रुती ‘आदाय’ ‘प्रत्यङ्-सुखः’ अति-  
क्रामति । ‘अतिक्रम्य’ वेदेः पश्चिमभागे स्थित्वा, आश्रावण-  
पश्रुति ‘अपवर्हिषः’ वर्हिषतुर्थः प्रयाजः, तद्वज्रं ‘चतुरः प्रया-  
जान्’ यजेत । वर्हिर्वर्जनस्याभिप्राय माह— “प्रजा वा इति ।  
श्रिष्टं निगदसिद्धम् † ॥ २३ ॥

हविर्भिः प्रचरणार्थं प्राचीनावीतित्वं पुनर्विधत्ते— “ते सर्व  
एवेति । ‘ते’ ऋत्विग्यजमानाः ‘सर्व एव’ ‘प्राचीनावीतिनः’  
भवेयुः ‡ । ब्रह्मयजमानाग्नीध्राणां पूर्वं परिक्रान्तानां प्रधान-  
यागार्थं मन्यथा परिक्रमणं विधत्ते— “इत्यादिति । ‘इत्यात्’  
अनेन प्रकारेण ब्रह्मयजमानौ चतुःस्रतोर्वेदेः ‘पुरस्तात्’ प्रति-  
गच्छतः, आग्नीध्रः ‘पश्चात्’ प्रतिगच्छेत् । प्रधानहविषो याज्याना  
माश्रावणवषट्कारानाचष्टे— “तदिति । ‘तत्’ तत्र पित्रेषु  
प्रधानहविषु ‘ॐ स्वधा’-इति अध्वर्युराश्रावयेत्, ‘अस्तु स्वधा’  
-इति आग्निध्रः प्रत्याश्रावणं कुर्यात्, ‘होता स्वधा नमः’-इति

\* अदा० प० ३० धा० ।

† का० श्रौ० सू० ५, ८, ३७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ६, १ । पित्रात्वात्पस्यं सर्वत्र प्राप्त मेव,  
सशस्यापि वाचनिकस्याज्यभागान्तस्यावधि ( ८, ३३ ) पूर्ण इति प्राचीना-  
वीतित्वं प्राप्त मेवेति कात्यायनेन नेह पुनः सूत्रित मिति ध्येयम् ।

वषट्कुर्यात् । अस्यैव मर्थः— “ॐ श्रावय”-“अस्तु श्रौषट्”-  
“घौषट्”-शब्दानां स्थाने एते प्रयोक्तव्या इत्यर्थः ॥

तत्रार्ध्वर्युप्रेषस्याय मर्थः— ॐकारोऽङ्गीकारार्थः , स्वधेति  
पितॄं हविर्नाम । हे अग्नीत् ! पितॄणां दीयमान मिदं  
हविः तवाभिमतं किं मिति । तत्तथास्त्विति अग्नीत् । नमः  
शब्दस्वागार्थः , पितॄनुद्दिश्य दीयमानैतत् ‘स्वधा’ तदीयं  
हविः ‘नमः’ त्यक्तं मत्तु, इति वषट्कारप्रतिनिधिभूतस्य  
वाक्यस्यार्थः \* ॥ २४ ॥

प्रकृतिवद्देशाश्रावणादिकं कर्तव्यं मिति पञ्चान्तरं माह—  
“तद्दु होवाचेति । ‘आश्रावयेयुः’-इत्यादिना आश्रावणादि  
कर्तृणां मध्वर्यादीनां भेकत्वेऽपि पूजार्थं बहुवचनम् । ‘यज्ञस्य’  
प्रकृतिभूतस्य दर्शपूर्णमासयागस्य ‘विधायाः’ विधा प्रकारः  
संस्थानम्, तस्मात् ‘न’ एव ‘अयाम्’ प्रच्यवामहे ‘इति’ प्रागु-  
दीरितस्यापेक्षा ; अन्यथा हि आश्रावणादीनां प्रकृतिवदप्रयोगात्  
यज्ञविधायाः प्रच्युतिः स्यादित्यभिप्रायः । अत एव सूत्रकृतं  
स्वधाकरणयज्ञस्य विकल्पं माह स्म— “ॐ स्वधेत्यस्तु स्वधेति वा-  
ऽऽश्रुतप्रत्याश्रुते”-इति † ॥ २५ ॥

अनुवाक्यार्थं प्रेषवचनं प्रथमयागस्य विधत्ते— “अथाहेति ।

\* “स्वधा नम इति वषट्कारः”-इति का० श्रौ० सू० ५. ६. १२ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ११ । ॐ स्वधेत्यादिषु स्थानापत्तया ऋतां  
भवत्येवेति पदमञ्जरीकारः, तथा चाहाश्र्वलायनः— “निव्याः ऋतयः”-इति ।  
तेन ॐ स्वधेत्यत्र ओकारः स्वध्वाद्गतोऽकारश्च ऋतौ,— ‘ओ३५ स्वा३धा’  
-इति, तथा ‘अस्तु स्वा३धा’-इति, ‘स्वा३धा नमः’-इति । एव  
‘ये यजामहे’-इत्यस्य स्थाने ‘ये३ स्वधामहे’- इत्यपि बोध्यम् ।

पितृप्रधान-सोमप्रधानयोश्चभयोरपि युक्तत्वात् तदपेक्षया पितरः सोमवन्तः पितृवन्तो वेति विकल्पः प्रागुपन्यस्तः ; तदभि- प्रायेणात्रापि सम्प्रैषस्य हेविध्यम् । होतानुवाक्यावचने प्रकृ- तितो विशेष माह— “स हे इति । अनुवाक्यादित्वं सुप- पादयति — “एकया वा इत्यादि । ‘एकया’ एव अनुवाक्याया ‘देवान्’ स्वस्थानात् ‘प्रच्यावयन्ति’ देवयजनदेशं मागन्तुम् । पितरस्तु परागमनात् अपुनराहृत्तिङ्गताः , अतो न ते एकया पुरोनुवाक्याया प्रच्यावयितुं शक्याः ; ततः प्रयत्नविशेषे कर्त्तव्ये ‘दाभ्यां’ पुरोनुवाक्याभ्यां होता तान् ‘पितृन्’ आगमयतीत्यर्थः ॥२६॥

त्रीणि हवींषि समवदाय एकैका देवता यष्टव्या , तत्र पितृणां सोमवतां यजनप्रकारं माह — “स उपस्तृणीत आज्यमिति । “द्विराज्यस्येति । आज्येनोपस्तरणं मेकं मवदानम् , पुरोडाशादिहविस्त्रयात् सकृत्सकृदवदानम् , तत् सकृदिति यदवदानं सम्पद्यते , एतेन सकृदवदधातीति वाक्यं मुक्तार्थं भवति \* । यदि अभिघारणं सुपस्तरणं च सकृदेव स्यात् , तदा चतुरवत्तसम्पत्तिर्न स्यात् ; चतुरवत्तं हि यागयोग्यं द्रव्यम् , तस्माद् द्विरभिघारणं कर्त्तव्यमित्यर्थः † । “प्रत्य- नक्तवदानानीति । अवद्यत्यस्मादित्यवदानम् , अवत्तशिष्टं हविः । “क्तव्यल्युटो बहुलम्”—इति ‡ अपादाने ल्युट् । अवत्तशिष्टानि हवींषि प्रत्यज्यादित्यर्थः । प्रकृतिवत् प्राप्तं मतिक्रमणं निषे- धति — “नातिक्रामतीति § । कथन्तर्हि कर्त्तव्यमिति तत्राह —

\* का० श्रौ० सू० ५. ६. २, ३ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ४ । ‡ पा० सू० ३. ३. ११२ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ६. ५ ।

“इत एवेति । यत्रोपविश्यावस्यति , ‘इत एव’ स्थानात् ‘उपो-  
त्याय’ तत्रैव तिष्ठता आश्रावणादिकं कुर्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

द्वितीयद्वितीययागयोरेवमेवानुप्राणनप्रकारं दर्शयति—“अथा-  
हिति । अत्रापि पूर्ववदेव पुरोनुवाक्यादित्वं भवगन्तव्यम् ।  
“उपस्तृणीत इत्यादि , पूर्ववत् ; एतावांसु विशेषः,— द्वितीय-  
यागस्य हविरादाने धानानां प्राथम्यम् , तृतीयस्य हविरादाने  
मन्यस्य प्राथम्यम् । अस्मादेव प्राथम्यात् सोमवदादियागत्रयस्य  
हविषां त्रयस्य धारणेऽपि निर्वापकाले सपितृभ्यः सोमवद्गः  
षट्कपालं पुरोडाश मिति विशेषाभिधानम् \* ॥ २८ , २९ ॥

इत्थं प्रधानयागं कृत्वा स्विष्टकृतस्थानेऽग्निः कव्यवाहनो यष्टव्य  
इत्यभिप्रेत्य तदनुवाक्याप्रैषस्य वचनं विधत्ते— “अथाहान्य  
इति । “तत् स्विष्टकृत इति । यदेतत् “अग्नये कव्यवाहना-  
यानुब्रूहि”—इति सम्प्रैषवचनम् , ‘तत्’ ‘स्विष्टकृते’ स्विष्टकृत्वा-  
गार्थम् । पितृणां कव्यवाहनसम्बन्धप्रतिपादनेनैवैतदुपपादयति—  
“कव्यवाहनो वा इति । देवेभ्यो दीयमानं हविः ‘हव्यम्’,  
पितृभ्यस्तु दीयमानं तत् ‘कव्यम्’ । तदुभयं वहतीति हव्य-  
वाहनकव्यवाहननामानौ हावेवाग्नी क्रमेण देव-पितृ-सम्बन्धिनौ ।  
“कव्यपुरीषपुरीषेषु ज्युट्”—“हव्येऽनन्तःपादम्”—इति सूत्राभ्यां †  
वहतेर्ज्युट् । एष चान्नेरवात्तरभेदः प्रागप्याम्नातः , तैत्तिरी-  
यकेऽप्याम्नायते— “त्रयो वा अग्नयः ; हव्यवाहनो देवानाम् ,

\* “सोमाय वा पितृमते . एवं बर्हिषद्भ्य उत्तरतो धानामन्य-  
पुरोडाशानाम्”—अग्निव्यक्तभ्यो दक्षिणतो मन्यपुरोडाशधानानाम्”—  
इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ६, ७, ८ ।

† पा० सू० ३. २. ६६, ६७ ।

कव्यवाहनः पितृणाम्, सहरक्षाः असुराणाम्”—इति \* ।  
यस्मादेवं कव्यवाहनः पितृणां सम्बन्धी, तस्मात् “अग्नये कव्यवाह-  
नाय”—इत्येव वक्तव्य मितिः निगमयति—“तस्मादाहेति †” ॥ ३० ॥

तस्य खिष्टकृतस्थानीयस्य कव्यवाहनयागस्य पूर्ववदुपस्तरणादि-  
होमान्तानुष्ठानप्रकार माह— “स उपस्तृणीत इत्यादिना । खिष्ट-  
कृद्यागस्य शेषद्रव्यसाध्यत्वात् हविस्तृप्तिक्रमेणैवात्वादान मित्य-  
भिप्रेत्याह— “अथास्य पुरोडाशस्येति । “न प्रत्यनक्तौति ।  
हविःप्रत्यभिघारणस्य खिष्टकृदर्थत्वात् तस्य च हविषो ग्रहणात्  
पुनः प्रत्यभिघारणं न कर्त्तव्य मित्यर्थः । अन्यदुक्तार्थम् ‡ ॥ ३१ ॥

खिष्टकृच्चतुर्थेषूक्तेषु यागेषु नातिक्रामतीति योऽतिक्रमनिषेध  
उक्तः, त मनूय स्तौति— “स यन्नातिक्रामतीति । सकृदवदानं  
प्रशंसति— “अथ यदिति । सोमवदादियागतयेऽपि यद्द्विषो  
व्यतिषजन मुक्तम्, “अथास्य पुरोडाशस्यावद्यतीत्यादिना, तद-  
नूय स्तौति— “अथ यद् व्यतिषङ्ग मिति । क्रियाविशेषणम् ;  
परस्परं संसृष्टं यथा भवति तथेत्यर्थः । “ऋतवो वै पितर  
इति । पितृणा ऋतुरूपत्वं प्रागेव दर्शितम्— “त उ ते यान्  
पुनः समैरयतेति । तथा च ‘एतत्’ एतेन, पितृदेवत्यहविषा  
व्यतिषज्जनेन ‘ऋतूनेव व्यतिषजति’ परस्परं संसर्जयति, तेन  
व्यतिषजनेन तान् ‘ऋतून्’ ‘सन्धधाति’ परस्परं मविनाभूतान्  
करोति ॥ ३२ ॥

अथेडां प्रत्यान्नायत्वेन मन्थस्याधान मेक्रीयमतेनोपन्यस्यति—  
“तद्देक इति । ‘तत्’ तत्र खलु ‘एके’ शाखिनः यागशिष्टम्

\* ते० सं० २.५.८.११ ।

† का० श्रौ० सू० ५.६.१० ।

‡ “पुरस्तादग्नये कथवाहनाय यथापूर्वम्”— इति का० श्रौ० ५.६.६ ।



“इत एवेति । यत्रोपविश्यावस्यति , ‘इत एव’ स्थानात् ‘उपो-  
त्याय’ तत्रैव तिष्ठता आश्रावणादिकं कुर्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

द्वितीयहृतीययागयोरेवमेवानुप्राणनप्रकारं दर्शयति—“अथा-  
हृति । अत्रापि पूर्ववदेव पुरोनुवाक्यादित्वं भवगन्तव्यम् ।  
“उपस्तृणीत इत्यादि , पूर्ववत् ; एतावांसु विशेषः,— द्वितीय-  
यागस्य हविरादाने धानानां प्राथम्यम् , हृतीयस्य हविरादाने  
मन्यस्य प्राथम्यम् । अस्मादेव प्राथम्यात् सोमवदादियागत्रयस्य  
हविषां त्रयस्य धारणेऽपि निर्वापकाले सपिष्टभ्यः सोमवद्गः  
षट्कपालं पुरोडाश मिति विशेषाभिधानम् \* ॥ २८ , २९ ॥

इत्थं प्रधानयागं कृत्वा स्विष्टकृतस्थानेऽग्निः कव्यवाहनो यष्टव्य  
इत्यभिप्रेत्य तदनुवाक्याप्रैषस्य वचनं विधत्ते— “अथाहान्य  
इति । “तत् स्विष्टकृत इति । यदेतत् “अग्नये कव्यवाहना-  
यानुब्रूहि”—इति सम्प्रैषवचनम् , ‘तत्’ ‘स्विष्टकृते’ स्विष्टकृत्वा-  
गार्थम् । पितृणां कव्यवाहनसम्बन्धप्रतिपादनेनैवैतदुपपादयति—  
“कव्यवाहनो वा इति । देवेभ्यो दीयमानं हविः ‘हव्यम्’,  
पिष्टभ्यस्तु दीयमानं तत् ‘कव्यम्’ । तदुभयं वहतीति हव्य-  
वाहनकव्यवाहननामानौ हावेवाग्नी क्रमेण देव-पिष्ट-सम्बन्धिनौ ।  
“कव्यपुरीषपुरीषेषु ज्युट्”—“हव्येऽनन्तःपादम्”—इति सूत्राभ्यां †  
वहतेर्ज्युट् । एष चान्नेरवात्तरभेदः प्रागप्याम्नातः , तैत्तिरी-  
यकेऽप्याम्नायते— “त्रयो वा अग्नयः ; हव्यवाहनो देवानाम् ,

\* “सोमाय वा पिष्टमते . एवं बर्हिषद्भ्य उत्तरतो धानामन्य-  
पुरोडाशानाम्”—अग्निवृत्तिभ्यो दक्षिणतो मन्यपुरोडाशधानानाम्”—  
इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ६, ७, ८ ।

† पा० सू० ३. २. ६६, ६७ ।

“अथ यतर इति । अध्वर्युयजमानयोर्मध्ये यतर इत्यर्थः ।  
 “किं यत्सदो निर्हारणे द्वयोरेकस्य उतरच्”-इति \* उतरजन्तः ।  
 ‘यदि अध्वर्युर्वा यजमानो वा’ ‘दास्यन्’ पिण्डदाता ‘भवति’,  
 ‘सः’ स्वयं यजमानः अध्वर्युर्वा ‘उदपात्रम्’ उदकपूर्णं पात्रम्  
 ‘आदाय’, ‘अपसलवि’ अप्रदक्षिणं ‘त्रिः’ परिषिञ्चन् पितॄणां  
 वेदिम् ‘पर्येति’ † । “स यजमानस्येति । ‘सः’ अध्वर्युः ‘यज-  
 मानस्य पितरम्’ “असाववनेनिष्त्वं”-इति मन्त्रेण ‡ ‘अव-  
 नेनिचेति’ अवनेजति । यजमानसु यदि स्वयं पिण्डदाता  
 भवति, तदा स्वकीय मेव पितर मवनेजयेत् । “असावव-  
 नेनिष्त्वं”-इत्यादिकं पिण्डपितृयज्ञप्रकरणे व्याख्यातम् § ॥ ३४ ॥

“अथास्य पुरोडाशस्येत्यादि । पुरोडाशादिहविःशेषान् ‘सव्ये  
 पाणौ’ ‘अवदाय’ आलोष्य, त्रीन् पिण्डान् कृत्वा, तस्मिन्नेव  
 हस्ते धारयेत् ॥ ॥ ३५ ॥

“स येमा मवान्तरदिश मिति । ‘इदं’-शब्देनोत्तरापरं  
 दिश मभिनयेन निर्दिशति ¶ । “अनुर्लक्षणे”-इति \*\* लक्षणे  
 अनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वम् । उत्तरापरस्यां दिशि येयं वेदेः  
 स्तम्भिः, ‘तस्यां’ ‘यजमानस्य पित्रे’ “असावेतत् ते”-इति

\* पा० सू० ५. ३. ६२ ।

† “वेदिं त्रिः परिषिञ्चति उदपात्रेणाध्वर्युयजमानो वा”-इति  
 का० श्रौ० सू० ५. ६. १६ ।

‡ पुरस्तादिहैव ४ अ० २. २३ कण्ठा श्रुतोऽयम् ।

§ पुरस्तादिहैव काण्डे ४ अ० २. २३ भाष्यं द्रष्टव्यम् ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. १६ ।

¶ ‘दर्शयति’-इति च ।

\*\* पा० सू० १. ४. ८४ ।

मन्त्रेण \* । पितामहस्य पिण्डदानं विधत्ते— “अथ येमा मिति । ‘इदं’-शब्देन दक्षिणापरा अवान्तरा दिग् गम्यते । अन्यत् समानं पूर्वेण । प्रपितामहस्य पिण्डदानं विधत्ते— “अथ येमा मिति । अत्रेदमा दक्षिणपूर्वा दिग्भिनयेन निर्द्दिश्यते । अत्र या वेदेः स्रक्तिः, तस्यां प्रपितामहार्थं पिण्डं दद्यात् † । इत्थंः तिसृषु स्रक्तिषु पिण्डदानं विधाय, अवशिष्टायां स्रक्तौ समन्वके लेपमार्जने विधत्ते— “अथ येमा मवान्तरदिश मिति । इमा सुत्तरपूर्वा मवान्तर दिश मनु या वेदेः स्रक्तिः, तस्याम् “अत्र पितरः”—इति मन्त्रेण ‡ हस्तगलेपं ‘निमृष्टे’ निमृजीत । तथा चोक्तं सूत्रकृता— “उत्तरापरस्यां प्रथमम्, सव्ये समवदाय सर्वेभ्यो यथावनिक्तं पिण्डान् ददात्यसावेतत् इति, उत्तरपूर्वस्यां पाणी निमृष्टेऽत्र पितर इति”—इति § । “असावेतत्ते”—इत्यादि मन्त्रार्थः पिण्डपिष्टयज्ञे एव वर्णितः ॥ । प्रपितामहादिभ्यः उक्तरीत्या पिण्डान् ददातीत्यर्थः । तथाचैवं सति ‘स्वान्’ स्वकीयान् ‘पितृन्’ ‘एतस्मात्’ पिष्टयज्ञात् ‘नान्तरिति’ अन्तरितान् न करोति, अपि तु भागिनः कृतवान् भवति ॥ ३६ ॥

आहवनीयोपस्थानं विधत्ते — “ते सर्व एवेति ¶ । “उदद्य

\* पुरस्तादिहेव ४ अ० २, १६ कण्ड्यां अतोऽयम् ।

† “स्रक्तिषु पित्रवनेजनं परिषिच्य—परिषिच्य पूर्ववत्”—इति का०  
श्रौ० सू० ५, ६, १७ ।

‡ वा० सं० २, ३१ । § का० श्रौ० सू० ५, ६, १८, १९, २० ।

॥ पुरस्तात् २०८ पृ० ७ पङ्क्तितो द्रष्टव्यः ।

¶ “यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्कृन्वोदक्षोऽन्नमीमदन्तेत्याहवनीयं  
सुपतिष्ठन्ते इाम्भाम्”—इति का० श्रौ० सू० ५, ६, २१ ।

उपनिष्क्रम्येति । उदङ्मुखाः सन्तः परिहृतात् पिण्डपितृ-  
यज्ञस्थानात् निर्गन्त्येत्यर्थः । “देवान् वा इत्यादि । ‘यः’  
खलु ‘आहिताग्निर्भवति’, ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां’ च ‘यो यजते’,  
‘एषः’ ‘देवान्’ ‘उपावर्त्तते’ उपगतो भवति , देवसम्बन्धगतस्य  
यजमानस्य देवान् परित्यज्य यत् पितृयज्ञाचरणम्, तेन देवानां  
मनसि क्रोधोऽभूत् ; पुनरावृत्त्याहवनीयोपस्थानेनातीवोदासीनता-  
जनित मपराधं ‘देवेभ्यः’ ‘निङ्गुवते’ शमयन्ति ॥ ३७ ॥

“ऐन्द्रीभ्या मिति , मन्त्रविधिः । ऐन्द्र्या ऋचः कथं मग्न्यु-  
पस्थाने सङ्गतिः , लिङ्गविरोधात् ? इत्यत आह — “इन्द्रो  
हीति । परमैश्वर्ययोगादाहवनीय एवेन्द्रः , अतस्तदीयोपस्थाने  
ऐन्द्र्या करणत्वं न विरुद्धत इत्यर्थः । त एवेन्द्र्यौ पठति—

“अक्षत्रमीमदन्तेति \* । ‘अक्षन्’ अस्माभिर्दत्तं हविः  
पितरः अक्षन् । अर्देलुङि “लुङ्-सनोर्घञ्”-इति † घञ्देशे,  
“मन्त्रे घसङ्करणशं”-इति ‡ चूर्लुकि , “गमहन०”-इति §  
उपधालोपे , अक्षन्निति रूपम् । ‘हि’ यस्मात् एवम्, अतस्ते  
पितरो हविःस्वीकारेण ‘अमीमदन्त’ तस्मा अभवन् । “मद  
दृप्तियोगे”-इति || , अस्मात्प्रान्तात् लुङि चङि रूपम् । दृप्ति-  
रपि कुतोऽवगम्यते इति तत्राह— “अवप्रिया इति । ‘प्रियाः’  
आत्मीयाः तनूः ते पितरः ‘अव अधूषत’ भुक्तस्य हविषो  
रसातिशयस्याभिव्यक्त्यर्थम् अवाकम्पयन् । “धूञ् कम्पने”-इति ¶  
धातुः । तदनन्तरं ‘स्वभानवः’ स्वायत्तदौप्तयः , ‘विप्राः’ मेधा-

\* वा० सं० ३. ५१ ।

† पा० सू० २. ४. ३७ ।

‡ पा० सू० २. ४. ८० ।

§ पा० सू० ६. ४. ६८ ।

¶ पु० आ० २२६ धा० ।

‡ पु० उ० ३०१ धा० ।

विनः ते पितरः हविषः प्रदातारं यजमानं नविष्ठया' नव-  
तरया 'मती' मत्या सुत्या 'अस्तोषत' उपभुक्तं हविः प्राशंसन्,  
सम्यगेतत् सञ्जात मिति । आहवनीयावस्थित ! हे 'इन्द्र !'  
त्व मपि 'ते' त्वदीयी 'हरी' अश्वी गमनार्थं 'तु' क्षिप्रं 'योजान्'  
योजयेति प्रथमाया ऋवोऽर्थः ।

“सुसन्दृशं त्वेति \* । हे 'मघवन् !' धनवन् ! आहवनीय-  
रूपेन्द्र ! सुष्ठु-सन्दर्शनीयं 'त्वा' त्वां 'वन्दिषीमहि' तुमः,  
अभिवादयामो वा । “वदि अभिवादनस्तुत्योः”—इति † धातुः ।  
अस्माभिः वन्दितस्त्वं 'पूर्णबन्धुरः' दत्तेन हविषा पूर्णेन रथ-  
नीडेन युक्तः, 'स्तुतः' च सन् अस्माभिः कृतं स्तोतं हविष्य  
स्वीकृत्य 'वशान् अनु' कामान् अनु यथाकामं यथेष्टं 'प्रयासि' ।  
“योजानित्यादि, पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— “अथ प्रतिपरेत्येति ‡ । 'प्रति-  
परेत्य' आहवनीयसमीपात् प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । तस्मिन् गार्ह-  
पत्योपस्थाने “मनो न्वाह्वामहे”—इत्याद्यास्त्वयो मन्वा पठिताः,  
तेषा मय मर्थः—

तत्र प्रथमा “मनो न्विति § । अस्मदीयं 'मनः' 'तु'  
क्षिप्रम् 'आह्वामहे' । केन साधनेन ? 'नाराशंसेन स्तोमेन' नरैः  
शंसनीयेन स्तोत्रेण, 'पितृणां' सम्बन्धिभिः 'मन्त्रभिः' मननैश्च ॥

“आ न एत्विति ॥ द्वितीया । पितृयज्ञकरणादप्रकान्त

\* वा० सं० ३. ५२ ।

† आ० आ० ११ धा० ।

‡ “मनो न्वाह्वामहे इति गार्हपत्यं तित्त्वभिः”—इति का० श्रौ०  
सू० ५. ६. २२ ।

§ वा० सं० ३. ५३ ।

॥ वा० सं० ३. ५४ ।

मस्मदीयं 'मनः' 'पुनः' अस्मान् 'एतु' आगच्छतु । किमर्थम् ? 'क्रत्वे' क्रतुकर्मणे , 'दद्याय' बलाय, 'जीवसे' जीवनाय, 'ज्योक्' चिरकालं 'सूर्यं च' 'दृशे' द्रष्टुम् । "दृशे विख्ये च"—इति \* तुमर्थे निपात्यते ॥

पुनर्न इति † तृतीया । हे 'पितरः !' 'देव्यः' देवसम्बन्धी 'जनः' 'नः' अस्मभ्यं 'मनः पुनः ददातु' । 'जीवं' जीवनवन्तं, 'व्रातं' गणम् पुत्रपौत्रादिसमूहम् 'सचेमहि' प्राप्नुयामेति । अन्तिमपादे जीवशब्दप्रयोगस्याभिप्राय माह— "पितृयज्ञेनेवेति । 'पितृयज्ञेन' खलु 'एतत्' इदानीम् 'अचारिषुः', अतः पितृयज्ञस्य कर्तार ऋत्विग्यजमानाः पितृसम्भक्ताः सन्तः प्रजायुक्ता भवेयुः । 'तत्' तथा सति "जीवं व्रातम्"—इति अनेन मन्त्रभागेन 'जीवान्' एव पुत्रपौत्रादीन् 'अपिपद्यन्ते' अपिगच्छन्ति । "तस्मादिति, उक्तार्थनिगमनम् ॥ ३६ ॥

पिण्डदाहजपं विधत्ते— "अथ यतर इति ‡ । 'अथ' उपस्थानानन्तरम्, अध्वर्युजमानयोर्मध्ये 'यतरः' पिण्डं 'ददाति', 'स पुनः' 'प्राचीनावीती' 'भूत्वा', पितॄं देशम् 'अभिपद्य' प्रविश्य "अमीमदन्त"—इति § मन्त्रं जपेत् । स च मन्त्रः, तद् ब्राह्मणं च पिण्डपितृयज्ञे व्याख्यातम् ॥ ४० ॥

पिण्डदानस्योदीच्याङ्ग मुदकावनेजनं पूर्ववद् विधत्ते— "अथोदपात्र मिति । "तद्यथा जक्षुषे इति, अवनेजनस्य

\* पा० सू० ३. ४. ११ ।

† वा० सं० ३. ५५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. २३ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ पुरस्तात् ११० पृ० ७ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

प्रयोजनकथनम् । एतत् सर्वं पिण्डपितृयज्ञे एव व्याख्यातम् \* ।

विहितं परिषेचनं पुनः श्रुतम् , तस्य यत् प्रादक्षिण्यम् , तत् स्तौति— “यत् पुनरित्यादिना । “प्रसलविन इति । अपसल मप्रादक्षिण्यम् , तद्विपरीतं प्रसलं प्रादक्षिण्यम् ; मत्वर्थीयो विनिः । प्रादक्षिण्यवतो मम ‘इदं’ पितृय मपि ‘कर्म’ ‘अनुसन्तिष्ठतै’ संस्थितं भवेत् । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण भवसाने ‘प्रसलवि’ सव्येन परिषेचनं क्रियत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

“अथ नीवि मित्यादि † । पिण्डपितृयज्ञप्रकरणे व्याख्यातम् ‡ ॥ ४२ ॥

चोदकप्राप्त मनुयाजाद्युदीच्याङ्गकलापं सविशेष मतःपर मनुक्रामति— “ते सर्व एवेति । “इत्याद्यजमानश्चेति । प्रयाजाद्युदीच्याङ्गानुष्ठानसमये एव ब्रह्मयजमानाद्याः तत्र तत्र स्थाने परीत्योपविशेयुः § ॥ ४३ ॥

“अथाहेति । “प्रत्यङ्ङतिक्रामतीति । प्राचो दक्षिणदिक्तस्य प्रागुपपादितत्वात् दक्षिणातिक्रमणस्थाने पत्यङ्ङमुखोऽध्वर्युरतिक्रामेदित्यर्थः । ‘अपबर्हिषी’ बर्हिः प्रथमानुयाजः , तद्वर्जितौ ‘द्वावनुयाजौ’ यज-यजेति । बर्हिर्वर्जने कारण माह— “प्रजा वा इति ॥ ४४ ॥

सुग्व्यूहनादिकं प्रकृतिवत् कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति—

\* पुरस्तात् २१० पृ० १८ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

† “अवनेष्य पूर्ववत् प्रदक्षिणं नीविं विसंस्थ नमो व इत्यञ्जलिं करोति षड् वा नमस्कारान् गृह्णान् नः पितरो दत्त”—इति का० श्रौ० सू० ८. ६. २४, २५, २६ ।

‡ पुरस्तात् २११ पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् । § का० श्रौ० सू० ५. ६. २७ ।

“अथ सादयित्वेत्यादिना । सूक्तवाकानुवचनं प्रकृतिवत् प्रामम् । प्रस्तरप्रहरणं निषेधति— “नाध्वर्युरिति \* । ‘न समुल्लुम्पति’ न गृह्णाति, न प्रहरेत्, तूष्णीं मेवोपासीत प्रस्तर मा प्रहरणम् † ॥ ४५, ४६ ॥

अग्नीत्प्रैषस्यानिवृत्ति माह— “अथाहेति । “स्वगा दैव्या होतव्यः”—इति सत्प्रैषेऽध्वर्युणोक्ते होता शंयुवाकं ब्रूयात् ; न च तदानीं मध्वर्युः परिधीननुप्रहरेत्, केवलं मुपसृशेदेव ‡ । बर्हिषः परिधीनाञ्च तूष्णीं मग्नीं प्रहरणं विधत्ते— “अथैतदिति । ‘एतत्’ चतुःस्रक्त्यां वेद्यां स्तीर्णं ‘बर्हिः’ ‘परिधीञ्च’ आदाय युगपदग्नीं ‘अनुसमस्यति’ प्रक्षिपति § ॥ ४७ ॥

अथाग्नीं प्रक्षेप मेकीयमतेनोपन्यस्यति— “तद्वैक इति । तदेतन्निषिध्योपपादयति— “तद् तथेति । हुतशेषस्य पुनर्हीमयोग्यत्वाभावात् नैष पक्षो युक्त इत्यर्थः । का तर्हि हविः-शेषस्य प्रतिपत्तिरिति, ता माह— “तस्मादिति । ‘हुतोच्छिष्टम् अपोऽध्वर्युहरेयुः’ । अग्नीं प्रासनपक्षस्य व्युदासार्थं ‘एव’-कारः । ऋत्विजो ‘वा प्राग्नीयुः’ इति पञ्चान्तरम् ॥ । सूत्रकारोऽप्येतत् सर्वं

\* “न प्रस्तर भादत्ते”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. २८ ।

† “अनुप्रहरेत्युक्ते किञ्चनापि नानुप्रहरति, तूष्णीं मात्मानं संसृशति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. २६, २७ ।

‡ उपसृश्य परिधीन् नानुप्रहरति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३१ ।

§ “बर्हिःपरिध्यग्नौ प्रास्यति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३३ ।

॥ “हविरुच्छिष्टञ्च, अथ, प्राश्यं वा”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३४, ३५, ३६ ।



माह स—“न प्रस्तर मादत्त इत्यादिना \* ॥ ४८ ॥ २४ [६.१.] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० ५. ६. २८-३६ सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

† “अथात्र चिन्वते । के पुनस्ते पितरो येभ्य इदं द्दियते ? उच्यते—  
यजमानस्य पित्रभ्यो ददातीत्यादिवचनात् , एत एव पितरः ; तेभ्यो जीवद्भ्य  
एव दाने प्राप्ते,—“प्रैतेभ्यो ददाति”—इति वचनात् , “सकुटु ह्येव  
पराश्वः पितरः”—इत्यादिदर्शनेभ्यश्च प्रैतेभ्यो देयम् । अथ “वसवः पितरो  
ज्ञेया रुदा ज्ञेया पितामहाः । प्रपितामहास्तथादित्या इत्येषा वैदिकी  
श्रुतिः”—इति , तथा “यानेवेषां तस्मिन्सङ्ग्रामेऽग्रंस्तान् पित्र्यञ्च न समे-  
रयन्त , पितरो वै त आसन्”—इति ( २ का० ६. १. १. ) , तथा “शरद्धि-  
मन्तश्चिशिरास्ते पितरः”—इति , तथा अग्निध्वान्तादयः पित्रगणा स्तीर्षा  
क्रोपयोगः ? एत एव तु आधिदैविकाः पितरः , ततश्च यथा ब्राह्मणे  
लप्यति पितरस्तप्यन्ति , तथा तेऽपि लप्यन्तु आधिदैविकावस्थास्ते  
लप्यन्ति ; महापित्र्यञ्च तु त एव सोमपादय उच्यन्ते । पित्राश्च  
सन्निवु प्रैतेभ्यो एव द्दियन्ते । अथ यस्य पितरो मुक्ताः स्युः , स कथं  
ददात् ? सोऽपि तेभ्य एव ब्रह्मत्व मापन्नेभ्यो ददन् बहुतरुणैर्वैगसा विसु-  
च्यते । या तु तेषां लप्तिस्तदानुसङ्गिकं फलम् , न तदभावे क्रियानादर्शना ।  
वखादयस्त्वाधिदैविकाः , तेऽपि लप्यन्त्वैव ; शास्त्रेण विशेषोपादान विधा-  
नादिति गम्यते”—इत्याहान्न हरिस्वामी । तैत्तिरीयकास्त्वेवं समामनन्ति  
—“देवान् वै पित्रुन् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रपिपते”—इति तै० ब्रा०  
१. ३. १०. ४ । ‘द्विविधा हि पितरः , देवात्मका मनुष्यात्मकाश्च’—इत्यादि  
सायण्यीयं भाषाञ्चात्र द्रष्टव्यमिति दिक् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् )

महाहविषा ह वै देवा 'व्वृत्रं जघ्नः । तेनो  
 ऽएव व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्ता मथ यानेवैषां  
 तस्मिन्त्वङ्गाम ऽद्वेषव आर्क्ष्णानेतैरेव शल्पान्निर-  
 हरन्त तान् व्यवृहन्त यत् त्राम्बकैरयजन्त ॥ १ ॥

अथ यदेष एतैर्यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य  
 तथा कं चनेषुर्त्कृतीति देवा अकुर्व्वन्निति त्वेवैषु  
 एतत् करोति याश्च त्वेवास्य प्रजा जाता  
 याश्चाजातास्ता उभयी रुद्रियात् प्रमुञ्चति ता  
 अख्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्माद्वा  
 ऽएषु एतैर्यजते ॥ २ ॥

ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य ह्येषुस्तस्मा-  
 द्रौद्रा भवन्त्येककपाला भवन्त्येकदेवत्या अस-  
 न्निति तस्मादेककपाला भवन्ति ॥ ३ ॥

ते वै प्रतिपुरुषं \* । यावन्तो गृह्याः स्युस्ता-  
 वन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत् प्रतिपुरुष मे-

\* 'प्रतिपुरुषं'—इति ग, घ ।

वैतदेकैकेन या अथ प्रजा जातास्ता रुद्रियात्  
 प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्ता भवन्ति तद्या एवाथ प्रजा  
 अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति तस्मादेकेनाति-  
 रिक्ता भवन्ति ॥ ४ ॥

स जघनेन गार्हपत्यं । यज्ञोपवीती भूत्वो-  
 दङ्ङासीन एतान् गृह्णाति स तत् एवोपोत्या-  
 योदङ्ङ तिष्ठन्नवहन्युदीच्यौ दृषदुपले ऽउपदधात्यु-  
 त्तरार्धे गार्हपत्यस्य कपालान्युपदधाति तद्यदेव  
 तामुत्तरां दिशं सचन्त ऽएषा ह्येतस्य देवस्य दिक्  
 तस्मादेता मुत्तरां दिशं सचन्ते ॥ ५ ॥

ते वा अक्ताः स्युः । अक्तां हि हविस्तु ऽउ  
 वा ऽअनक्ता एव स्युरभिमानुको ह रुद्रः पशून्त्या-  
 ददङ्ङ्रात् तस्मादनक्ता एव स्युः ॥ ६ ॥

ताग्त्सार्धं पात्राणु समुद्रास्य । अन्वाहार्य-  
 पचनादुल्मुक मादायोदङ्ङ परेत्य जुहीत्येषा  
 ह्येतस्य देवस्य दिक् पथि जुहोति पथा हि स  
 देवश्चरति चतुष्पथे जुहीत्येतद् वा ऽअस्य जाभितं  
 प्रज्ञात मवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे  
 जुहोति ॥ ७ ॥

पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति । ब्रह्म  
वै पलाशस्य पलाशं ब्रह्मणैवैतज्जुहोति स  
सर्वेषा मेवावद्यत्येकस्यैव नावद्यति य एषो  
ऽतिरिक्तो भवति ॥ ८ ॥

स जुहोति । एष ते रुद्र भागः सह  
स्वस्त्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै  
नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागस्तद्यदस्यैष  
स्त्रिया सह भागस्तस्मात् वाम्बिका नाम तद्या अस्य  
प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥ ९ ॥

अथ य एष एको ऽतिरिक्तो भवति ।  
त माखूत्कर ऽउपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते  
पशुरिति तदस्मा ऽआखु मेव पशूना मनुदिशति  
तेनो ऽइतरान् पशून् न हिनस्ति तद्यदुपकिरति  
तिर इव वै गर्भास्तिर इवैतद्यदुपकीर्णं तस्माद्वा  
ऽउपकिरति तद्या एवास्य प्रजा अजातास्ता  
रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥ १० ॥

अथ पुनरेत्य जपन्ति । अत्र रुद्र मदीमद्यव  
देवं वाम्बिकम् । यथा नो व्यस्यसस्करद्यथा नः  
अथसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥ भेषज मसि

भेषजं गवे ऽश्वाय पुरुषाय भेषजं सुखं मेषाय  
मेघ्या ऽद्रुत्याशौरेवैषैतस्य कर्मणः ॥ ११ ॥

अथापसलवि त्रिः परियन्ति । सव्यानूहूनु-  
पाघ्नानास्त्राम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।  
उर्वारुक मिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतादित्या-  
शौरेवैषैतस्य कर्मण आशिष मेवैतदाशासते  
तद् ह्येव श मिव यो मृत्योर्मुच्यातै नामृतात्तस्मा-  
दाह मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति ॥ १२ ॥

तद् हापि कुमार्यः परीयुः । भगस्य भजा-  
महा ऽद्रुति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाम्बिका  
नाम सा ह वै भगस्त्रेष्टे तस्माद् हापि कुमार्यः  
परीयुर्भगस्य भजामहा ऽद्रुति ॥ १३ ॥

तासा मुतासां मन्त्रो ऽस्ति । त्राम्बकं यजा-  
महे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुक मिव  
बन्धनादितो मुक्षीय मामृत इति सा युदित  
इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामृत इति पतिभ्यस्तदाह  
पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह मामृत  
इति ॥ १४ ॥

अथ पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति । दक्षि-

णानूहनुपाघ्नाना एतेनैव मुन्त्रेण तद्यत् पुनः  
 प्रसलवि त्रिः परियन्ति प्रसलवि न इदं कर्मानु-  
 सन्तिष्ठाता ऽइति तच्चात् पुनः प्रसलवि त्रिः  
 परियन्ति ॥ १५ ॥

अथैतान्युजमानो ऽञ्जली समोष्य । जर्ध्वानु-  
 दस्यति यथा गौर्नोदाप्रुयात् तदात्मभ्य एवैतच्छल्पा-  
 न्निर्मिमते तान्विलिप्तन्त उपस्पृशन्ति भेषज  
 मेवैतत् कुर्वते तस्माद्विलिप्तन्त उपस्पृशन्ति ॥ १६ ॥

तान् \* द्वयोर्मूतकयोरुपनच्छ । व्वेणुयष्ट्रां वा कुपे  
 वोभयत आवधोदङ् † परेत्य यदि व्वृक्षं वा स्थाणुं वा  
 व्वेणुं व्वा व्वल्मीकं वा व्विन्देत् तस्मिन्नासजत्येतत्ते  
 रुद्रावसं तेन परो मूजवतो ऽतीहीत्यवसेन वा  
 ऽअध्वानं यन्ति तदेनः सावस मेवान्ववार्जति  
 यत्र-यचास्य चरणं तदन्वत्र ह वा ऽअस्य परो  
 मूजवद्भ्यश्चरणं तस्मादाह परो मूजवतो ऽती-  
 हीत्यवततधन्वा पिनाकावस इत्यहिंसन् नः शिवो

\* 'तां'—इति च दृष्टं डा०-वेवरिण ।

† 'आवधोदङ्'—इति च डा०-वेवरदृष्टः पाठः ।

ऽतीहीत्येवैतदाह कृत्तिवासा इति निष्वापय-  
त्येवैन मंतत् स्वपन्न हि न कं च न हिनस्ति  
तस्मादाह कृत्तिवासा इति \* ॥ १७ ॥

अथ दक्षिणान् बाह्वनन्दावर्तन्ते । ते प्रतीक्षं  
पुनरायन्ति पुनरेत्याप उपस्पृशन्ति रुद्रियेषोव  
वा ऽएतदचारिषुः शान्तिरापस्तदग्निः शान्त्या  
शमयन्ते ॥ १८ ॥

अथ केशश्मश्रूत्वा । समारीच्याग्ना ऽउद-  
वसायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदु-  
त्तरवेदावग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहा-  
नित्वा निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजत ऽउत्सन्न-  
यन्न इव वा ऽएष यच्चातुर्मास्यान्यथैष कृमः  
प्रतिष्ठितो यन्नो यत् पौर्णमासं तत् कृमेनेवैतद्याज्ञे-  
नान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुदवस्यति ॥ १९ ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [६. २.] ॥

अथ विधिक्षितानां त्र्यम्बकहविषां \* शल्पनिर्हरणहेतुत्व †  
मितिहासेनोपपादयति— “महाहविषेति ‡ । “अथ यानेव-  
ल्यादि । ‘तस्मिन् सङ्गामे’ ‘एषां’ देवानां मध्ये ‘यानेव’ इन्द्र-  
‘इषवः’ इत्यमुक्ताः शराः ‘आच्छन्’ प्राप्नुवन्, ‘तान्’ देवान्  
‘एतैरेव’ त्रैयम्बकैर्हविभिः तस्मात् ‘शल्पात्’ ‘निरहरन्त’ वियो-  
जितवन्तः । निर्हरणप्रकार माह— “तान् व्यह्वन्तेति ।  
“वृह उद्यमने” § । शल्पप्रोतांस्तानस्माच्छल्पादुद्धरन्त ॥ इत्यर्थः ।  
“एतैरेवेति । प्रतिनिर्देशस्य सव्यपेक्षत्वात् तन्निर्देशति— “यत्  
त्र्यम्बकैरिति । अम्बिका नाम स्त्री अस्य स्वसा, अतस्त्र्यम्बको  
रुद्रः । देवतावाचिना लक्षणयात्र हवींष्युच्यन्ते ॥ १ ॥

आख्यायिकया प्रतिपादित मर्थं प्रकृते योजयति— “अथ  
घदेष इति । ‘एषः’ इदानीन्तनो यजमानः । “तन्नाहेति ।  
‘न, अह, नु, एव’ इति चत्वारो निपाताः । ‘तत्’ तेन  
त्रैयम्बकहविर्यागेन अद्यापि ‘एतस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिन  
मेव ‘कञ्च’ क मपि पुरुषम् ‘इषुः’ ‘तथा’ ‘नैव’ ऋच्छति’  
प्राप्नोति । देवानुकारित्वस्य हेतु माह— “इति देवा इति ।  
“याश्च त्वेवास्तेति । ‘अस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिनीः ‘प्रजाः’  
‘जाताः’, ‘याश्च’ ‘अजाताः’ प्रजनिष्प्रमाणाः, ‘ताः’ ‘सर्वाः’  
‘उभयीः’ उभयविधाः प्रजाः ‘रुद्रियात्’ रुद्रकृद्भिः सनात् ‘प्रमु-

\* ‘त्रैयम्बकहविषां’—इति च । उत्तरब्राह्मणेव मेव ।

† ‘शल्पनिर्हरणहेतुत्व’—इति कादिपुस्तकेषु । एव मिहोत्तरत्रापि ।

‡ ‘त्रैयम्बकान्’—इति का० श्रौ० सू० ५. १०. १ ।

§ तु० प० ६६ घा० । ‘दन्व्योऽद्यादिः, प्रवर्गोऽद्यदिरिवन्व्ये’—इति कौ० ।

॥ “वृह उद्यमन्त’—इति च ।



सति' । प्रतिपुरुषं सङ्घाय क्रियमाणैः एतैः त्रियम्बकैर्हविर्भिः  
तस्य रुद्रस्य प्रीणितत्वात् । “ता अस्येत्यादि , गतम् ॥ २ ॥

तेषां देवतां विधाय प्रशंसति— “ते वै रौद्रा भवन्तीति ।  
रुद्रो देवता एषाम् । “सास्य देवता”—इत्यण् \* । तत्र  
कारण माह— “रुद्रस्येति । ‘हि’ यस्मात् रुद्रसम्बन्धी ‘इषुः’  
त्रिपुरविजयायं रुद्रस्यायुधत्वेन निश्चितः , तस्मात् । अत  
एवान्यत्र रुद्रस्य त्रिपुरविजयप्रस्तावे श्रूयते— “त इषुं समस्कुर्वत”  
—इति † । हविषा मेककपालसंस्कार्यत्वं विधाय स्तीति—  
“एक कपाला इति । ‘एकदेवत्याः’ एकदेवतार्थाः सर्व इमे पुरो-  
डाशाः ‘असन्’ भवन्त्वित्यभिप्रायेण ॥ ३ ॥

क्रियन्तस्ते त्र्यम्बकाः कार्या इति तत्परिमाण माह—  
“ते वै प्रतिपुरुष मिति ‡ । ‘यावन्तः’ यावत्परिमाणविशिष्टा  
यजमानस्य ‘गृह्याः’ गृहसम्बन्धिनी ज्ञातयो भवेयुः § , तत्र  
प्रतिपुरुष मेकैकः पुरोडाश इति गणयित्वा ‘तावन्तः’ ते  
पुरोडाशाः एकेनाधिकास्ते कर्त्तव्याः । एतन् प्रशंसति—

\* पा० सू० ४. २. २४ ।

† तै० सं० ६. २. ३. १ । ‡ का० श्रौ० सू० ५. १०. २ ।

§ ‘गृह्याः पुत्रपौत्रपुत्रादीन्यपत्यानि । करम्भपात्रोक्तन्यायेन ( ३, ४. )  
गृह्यशब्दः प्रजाविषयो ज्ञेयः’—इति या० दे० ( ५. १०. २. ) । मानव-  
कल्पसूत्रे ऽपि तथैव ‘उत्तरतो०—० यावन्ति करम्भपात्राणि’—इति ।  
काठकेऽपि ‘यावन्तो , यजमानस्य पुत्रपौत्राः’—इति । आपस्तम्ब-  
स्वाह—‘प्रतिपुरुष मेककपालान् निर्वपति , यावन्तो यजमानस्या-  
मात्याः सस्त्रीका स्तावत एकातिरिक्तान्’—इति । “चतुरो वा”—  
इति च का० श्रौ० सू० ५. १०. ३ । अनपत्यस्य एकापत्यस्य द्वाप-  
त्यस्य चापत्यस्य च चतुर एवेति तात्पर्यम् । करम्भपात्राण्यधीव  
मेव । ५. ३. ५ द्रष्टव्यम् ।

“तत् प्रतिपुरुष मिति । पुरुषं पुरुषं प्रतिपुरुषम्, वीप्साया मव्ययीभावः । “एकैकेनेति । “एकं बहुव्रीहिवत्”—इति वीप्सायां द्विर्वचनम् \* । बहुव्रीहिवद्भावात् सुपो लोपः । अन्य-दुक्तार्थम् । एकातिरेक मनूय तस्य प्रयोजन माह— “एकेनेति ॥ ४ ॥

यावदुक्तचोदना श्लेते पुरोडाशाः, अतस्तेषां संस्कारप्रकार माह— “स जघनेनेति । गार्हपत्यस्य पश्चात् ‘यज्ञोपवीती भूत्वा’, ‘उदङ्मुख आसीन.’ †, ‘एतान्’ पुरोडाशान् निर्व-पतीति प्रक्रम्य, जुहोतयोऽवषट्कारा इति ‡, तत्र अवषट्कारा इति छेदः । हविरुत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्यात्तिष्ठानि तदश्मकान्य-वहननादीनि, वैकृतं विशेषं वक्तुं मनुक्रामति— “स तत एवे-त्यादिना । प्रागुदीच्यां रुद्राधिष्ठितत्वेनोत्तरदिशो रुद्रसम्बन्धात् तद्विक्त्वाच्च रुद्रदेवतास्या, तस्मात् ‘ताम्’ एताम् ‘उत्तरां दिशं’ ‘सचन्ते’ सर्वेषु व्यापारेषु ऋत्विजः समवयन्ति § ॥ ५ ॥

एषां हविषा मक्ततार्थं मभिघारणपक्ष माह— “ते वा अक्ताः स्युरिति ॥ । ‘वै’-शब्दोऽवधारणे । खलु ‘ते’ पुरोडाशाः ‘अक्ताः’ आज्येनाभिघारिता एव ‘स्युः’ । तत्र हेतु माह— “अक्तं हीति । ‘हि’ यस्मात् ‘अक्तम्’ अभिघारित मेव हविः

\* पा० सू० ८. १. ६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. ४ ।

‡ त्रैयम्बका जुहोतयो भवन्ति ; न यजतय इति भावः । ‘यः चाग्नेकैरयजन्ते त्यादिः यवहारः ( २. ६. २. १. ), स होमालागर्गतयागा-भिप्रायो द्रष्टव्यः”—इत्यभाषयद्विह हरिस्वामी ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. ६, ७ द्रष्टव्ये ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. १०. ८, ११ ।

भवति । तथा च तैत्तिरीयकम्— “प्रच्युतं वा एतदस्मात्तोकादगतं देवलोकां यच्छृतं हविरनभिघारित मभिघार्योदासयति”—इति \* । अनभिघारितपक्ष मप्याह— “उ वा इति । तत्र कारण माह— “अभिमानुक इति । पशुप्रभवेनाज्येन यदि रौद्रान् पुरोडाशान् अञ्ज्यात् , ततः स रुद्रः आज्यसम्बन्धद्वारा तत्कारणभूतान् पशून् ‘अभिमानुकः’ † अभिमन्तुं वाधितुं शक्तः स्यात् ॥ ६ ॥

“तान् सार्द्धं मित्यादि । निगदसिद्धम् । उत्तरदिशि विशेषं विधत्ते— “पथीति । उत्तरस्यां दिशि यः पन्था विद्यते , तत्रोत्प्लुकां निधाय , तस्मिन् पुरोडाशान् जुहुयात् ‡ । पथि होमे कारण माह— “पथा हीति । ‘सः’ खलु रुद्रो ‘देवः’ ‘पथा’ मार्गेण हि ‘चरति’ तत्रावतिष्ठत इत्यर्थः । पथ्यपि किञ्चिद् विशेषं विधत्ते— “चतुष्यथ इति । चतुर्णां पथां समाहारश्चतुष्यथः , चतसृभ्यो § दिग्भ्य आगताश्चत्वारः पन्थानो यत्र सङ्गच्छन्ते , तत्र जुहुयादित्यर्थः ॥ । एतदुप-पादयति— “एतद् वा इति । ‘एतत्’ खलु ‘अस्य’ रुद्रस्य ‘जान्धितम्’ ¶ जनैः परिकल्पितम् , ‘प्रज्ञातम्’ प्रसिद्धम् , ‘अवसानं’ स्थानम् , यच्चतुष्यथाख्यम् । अत एवोक्त मभियुक्तैः— “वटे-वटे वैश्रवणः , चत्वरे-चत्वरे शिवः”—इति ॥ ७ ॥

\* तै० सं० २, ६, ३, ६ ।

† ‘अभिमन्तुकः’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, १०, ५ ।

§ ‘चतुर्भ्यः’—इति छ, ज ।

॥ का० श्रौ० सू० ५, १०, ६ क० ।

¶ जन + धित = हित । ‘जाधितम्’—इत्यपि च ।

अथैतस्मिन् होमसाधनं विधत्ते— “पलाशस्य पलाशेनेति \* । पलाशवृक्षस्य पर्णेनेत्यर्थः । “ब्रह्म वै पलाशस्य पलाश मिति । पलाशवृक्षस्य ब्रह्मत्वश्रवणात्, तदीयं पर्णं मपि ब्रह्मात्मकम् । ब्रह्मश्रवणञ्च तैत्तिरीयकौरास्नातम्— “देवा वै ब्रह्मश्रवदन्त तत् पर्णं उपाशृणोत्”—इति † । श्रवदाने विशेष माह— “स सर्वेषा मिति । यावन्तः पुरोडाशाः, तत्र एक मपि रिक्तं विहाय तेषां सर्वेषा मेव सकाशात् तस्मिन् मध्यमपर्णेऽवद्ये-  
दित्यर्थः ‡ ॥ ८ ॥

इयं सर्वेभ्यः समवत्तस्य हविषः समन्त्रकं होमं विधत्ते— “स जुहोतीति § । मन्त्रस्याय मर्थः— हे ‘रुद्र!’ ‘ते’ तव ‘एष भागः’ । कथञ्भूतस्य ? अम्बिकानामास्य स्वसा, तथा सहितस्य । अतः ‘ते’ भागं ‘जुषस्व’ सेवस्व । इदं हविः ‘स्वाहा’ सुहुत मस्त्विति ॥ । तत्र “सह स्वस्त्राम्बिकया”—इति मन्त्र-  
भागस्याभिप्राय माविष्कुर्वन्नेतेषां हविषां त्र्यम्बिकानाम निर्ब्रवीति— “अम्बिका ह वा इति ¶ । “तद्यदस्यैष इति । ‘तत्’ तथा सति ‘यद्’ यस्मात् ‘अस्य’ रुद्रस्य तथा ‘स्त्रिया’ ‘सह’ ‘एष भागः’ कल्पितः, ‘तस्मात्’ स्त्रीरूपाम्बिकासम्बन्धात् रुद्रस्यैते पुरोडाशाः

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. ६ ख ।

† तै० सं० ३. ५. ७. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १०. १० । ‘मध्यमपलाशपत्रे जुहूस्थानीये’  
—इति च तत्र या० दे० ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १२ ।

॥ मन्त्र एषः वा० सं० ३. ५७. १ ।

¶ “शरदा अस्याम्बिका स्वसा, तथा वा एष हिनस्ति”—इति  
तै० ब्रा० १. ६. १०. ४ द्रष्टव्यम् ।

( वर्णलोपेन ) 'त्रयम्बकाः'—इत्याख्यायन्ते । “तद् या अस्येति , व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

अवदानकालपरिशेषितस्यातिरिक्तस्यैकस्य विनियोग माह—  
 “अथ य एव इति । उक्त्तिरति पांशूनित्युक्तरः ; आखुभिः  
 कृते 'आखुक्तेरे' 'तम्' अतिरिक्त मेकं पुरोडाशम् 'उपक्त्तिरति'  
 उपक्त्तिपति \* । “कृ विक्षेपे”—इति धातुः † । “एष ते”—इति  
 मन्त्रः ‡ । तदर्थस्तु— हे 'रुद्र !' 'ते' तव 'एषः' पुरोडाशः  
 भागः , अस्मिन्नुक्तेरे स्थितो यः 'आखुः' असौ 'ते' पशुः  
 इति । मन्त्रपाठस्य प्रयोजन माह— “तदस्मा इति । 'तत्'  
 तेन मन्त्रेण 'पशूनां' मध्ये 'आखु मेव' 'अस्मै' रुद्राय  
 पशुत्वेन निर्दिशति । 'तेन' कारणेन 'इतरान्' नृगवाश्वादि-  
 पशून् स रुद्रो 'न हिनस्ति' । अतिरिक्तस्यैकपुरोडाशस्य यदु-  
 पक्षेपणं विहितम् , तदुपपादयति— “तद् यदिदिति । “तिर-  
 इवेति । 'गर्भाः' तिरोहिता इव भवन्ति । उपकीर्णञ्च द्रव्यं  
 विगलितं सत् तिरोहित मेव भवति , अतो गर्भस्थाना मजातानां  
 प्रजानां रुद्रकृतहिंसनविमोचनाय क्रियमाणस्योपकीर्णत्वं युक्त  
 मिति भावः ॥ १० ॥

जपं विधत्ते— “अथेति § । 'अथ' तदनन्तरम् , पुनश्चतु-  
 ष्यथादग्निसमीप मेत्य “अवरुद्रम्”—इत्यादिमन्त्रौ ॥ सर्वे जपेयुः ।

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. १३ । 'मूषिकैरुक्तीर्थे पांसुभिरन्त-  
 र्हितं करोतीत्यर्थः । † तु० प० १२६ धा० ।

‡ वा० सं० ३. ५७. २ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १४ ।

॥ वा० सं० ३. ५८, ५९ ।

तयोः प्रथममन्त्रस्थाय मर्थः ।— ‘रुद्रम्’ ‘अवादीमहि’ अवादीयामहै , हविर्भागेन रुद्र मवयुज्य पृथक्कृत्य प्रजाः रक्षामहै । “दीङ् रक्षणे”—इत्यस्मात् \* लोटि , “बहुलञ्छन्दसि”—इति † शब्लुकि “घुमास्था”—इतीत्वम् ‡ । तथा ‘देवं’ देवनशीलं ‘त्रास्वकं’ स्त्रियांस्त्रिजाख्यया सहितम् , अवादीमहीत्यनुषङ्गः । अम्बिकासाहित्यप्रतिपादनपरं मेतद् द्वितीयं वाक्यम् । स च रुद्रो ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘नः’ अस्मान् ‘वस्यसः’ वसीयसः वसु-मत्तमान् ‘करत्’ कुर्यात् , ‘नः’ अस्मान् ‘यथा’ च ‘श्रेयसः’ प्रशस्यकरान् ‘करत्’ कुर्यात् , ‘यथा’ च ‘नः’ अस्मान् ‘व्यवसाययात्’ व्यवसायेत, व्यवसितार्थान् कुर्यात् ; तथा ‘अवादीमहि’ इति सम्बन्धः ॥

अथ द्वितीयस्य ।— हे रुद्र ! त्वं स्वरूपेणैव ‘भेषजम्’ औषधम् ‘असि’ ; सर्वदुरितनिवर्हणहेतुत्वात् । अतस्त्वं ‘सुखं’ सुप्राप्तं भेषजम् अस्मदीयेभ्यो गवाश्वादिभ्यः प्रदेहीति शेषः । “आशीरेवेति । एतत् त्रास्वकाख्यकर्मणः ‘आशीः’ फलप्रार्थनम् ; गवाश्वादीनां मारोग्यं मेतस्य कर्मणः फलं मित्यर्थः ॥ ११ ॥

अथाप्रदक्षिणं त्रिरग्नेः परिगमनं विधत्ते— “अथापसलवीति § । त्रास्वकस्य हविषः कर्त्तारः सर्वं चतुष्पथे अग्निमपसलवि त्रास्वकं मिति मन्त्रेण ‘त्रिः परियन्ति’ । किं कुर्वन्तः ? ‘सव्यान्’ वामान् ‘उरून्’ ‘अपघ्नानाः’ हस्तीन् कुट्टयन्तः ॥ ।

\* दि० व्या० ३४ धा० ।

‡ पा० सू० २. ३. ७३ ।

† पा० सू० ६. ४. ६६ । “छन्दस्युभयथेत्वाद्वाङ्घातुकत्वम्”—इतीह मञ्जीघरः ( पा० सू० ६. ४. ५ ) ।

§ का० श्रौ० स० ५. १०. १५ ।

॥ वादयन्त इति यावत् ।

मन्त्रस्य \* चाय मर्थः— त्रीणि अम्बिकानि नेत्राणि यस्य ,  
 यद्वा अम्बिका स्वसा यस्य , तथोक्तः । शोभनो गन्धो यस्यासौ  
 सुगन्धिः । “गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः”—इति † इकारादेशः ।  
 ‘पुष्टिर्वर्द्धनम्’ पुष्टेर्वर्द्धयितारम् । रुद्रं वयं ‘यजामहे’ पूजयामः ।  
 त्वत्प्रसादादहम् ‘उर्वारुकम्’ कर्कटीफलं ‡ पक्त्वा सत् यथा  
 प्रसवबन्धनात् स्वय मेव मुच्यते , तथा ‘मृत्योः’ मरणात् ‘मुञ्चीय’  
 मुक्तो भूयासम् ; ‘अमृतात्’ अमरणात् ‘मा’ वियोगो भवत्विति ।  
 “आशीरेवेत्यादि , सिद्धम् । अन्तिमपादस्य तात्पर्यं माह—  
 “तदु ह्येवेति । ‘यः’ ‘मृत्योः’ मरणात् ‘मुच्यते’ मुक्तो भवेत् ,  
 सः ‘अमृतात्’ अमरणात् ‘न’ मुक्तो भवति ; एतदेव हि ‘श मिव’  
 प्राणिनां सुखं भवति ॥ १२ ॥

अस्य परिगमनस्य भगप्रसिद्धिहेतुत्वं सुपपादयति— “तदु  
 ह्यापीति । ‘तत्’ तदा ‘कुमार्यः’ अपि त मग्नि मुक्तप्रकारेण  
 ‘परीयुः’, ‘भगस्य’ सौभाग्यस्य । कर्मणि षष्ठी । सौभाग्यम्  
 ‘यजामहे’ प्राप्नुयामहे इति अनेनाभिप्रायेण § । ‘यो ह वा  
 इति । अम्बिका नाम ‘या’ खलु ‘रुद्रस्य स्वसा’, ‘सा’ ‘भगस्य  
 इष्टे’ सौभाग्यस्य स्वामिनी भवति । “इंश ऐश्वर्ये”—इति

\* मन्त्रोऽयम् वा० सं० ३. ६०. १ ।

† पा० सू० ५. ४. १३५ ।

‡ ‘कर्कन्वादेः फलम्’—इति महीधरः । ‘पर्कटीफलम्’—इति  
 कृ-पाठः । ‘कर्मकर्कटीफलं ( । )’—इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १६ । ‘यजमानस्य’ कुमार्योऽपरिणीता  
 पुत्राश्चोत्तरेण ताम्बक मिति मन्त्रेण , पतिवेदन मित्यखेन०—० त्रिचिः ।  
 परियन्ति , पतिं सौभाग्यं कामयमाना वा’—इतीह या० दे० ।

भातुः \* । भगस्येति “अधीगर्थदयेशां कर्मणि”—इति † पठ्ठी ।  
‘तस्मात्’ अम्बिकासहितस्य रुद्रस्य सम्बन्धिनि कर्मणि भगप्राप्ति-  
कामाः कुमार्योऽपि परीयुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

कुमारोणां परिगमनेऽपि मन्वी विद्यत इत्याह— “तासा  
मिति । ‘आसां’ पूर्वोक्तानाम् ‘तासां’ कुमारीणा मपि परि-  
गमनेऽन्यो ‘मन्वः’ विद्यते । कः पुनरसाविति , तं पठति—  
“त्रयम्बक मिति ‡ । पतिर्विद्यते लभ्यत इति पतिवेदनो रुद्रः ।  
अन्यदुक्तार्थम् । चतुर्थपादस्य तात्पर्यं माह— “सा यदित इति ।  
‘इदं’-शब्देन पितृकुलं परामृश्यते । ‘इतः’ अस्मात् पितृकुलात्  
‘ज्ञातिभ्यः’ सकाशात् अहं ‘सुचीय’ मुक्ता भूयासम् ; ‘अमुतः’  
अमुष्मात् कुलात् पतिसकाशात् ‘मा सुचीय’ विप्रयुक्ता न भवेम  
इति तात्पर्यार्थः । “पतयो ह्येवेति । अग्निहोत्रादिधर्मेषु  
पत्या सहैव स्त्रिया अधिकारः ‘हि’ यतः , अतः स्त्रीणां ‘पतय  
एव’ ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयभूता इत्यर्थः ॥ १४ ॥

तेनैव मन्वेण पुनः प्रदक्षिणं त्रिः परिगमनं विधत्ते—  
“अथ पुनरिति § । ‘प्रसन्नवि’ प्रदक्षिणम् । “एतेनैवेति ।  
त्रयम्बक मिति प्रागुक्तेनोभयविधेन मन्वेणेत्यर्थः । “तद्यत् पुन-  
रित्यादिवाक्यशेषः पितृयज्ञवद् व्याख्येयः ॥ १५ ॥

हुतशिष्टानां पुरोडाशानां प्रतिपत्तिं विधत्ते— “अथै-  
षानित्यादि । ‘एतान्’ पुरोडाशान् यजमानस्याञ्जलाव-  
ध्वर्युः संवपेत् । यजमानश्च ‘जज्ञान् उदस्यति’ उत्क्षिपति ।

\* षडा० व्या० १० धा० ।

† पा० सू० २, ३, ५२ । ‡ वा० सं० ३, ६०, २ ।

§ का० श्रौ० सू० ५, १०, १५ ।



‘यथा’ ‘गौः’ पृथिवीनाभैतत्; पृथिवी तान् पुरोडाशान् ‘नोदा-  
 प्रयात्’ ! उच्छिप्ताः पुरोडाशाः यथा भूमौ न पतन्ति, तथा  
 अन्तरिक्षे, पुनरञ्जलिना धारयेत् । तदुक्तं कात्यायनेन—  
 “रौद्रान् यजमानेऽञ्जलिनोदस्यत्यगोः प्रापणम्, प्रतिगृह्णात्येतान्”  
 —इति \* । “आत्मभ्य एवैतदिति । ‘एतत्’ एतेन उदसनेन  
 ‘आत्मभ्यः’ ऋत्विग्यजमानाः स्व-स्व-शरीरेभ्यः ‘एव’ ‘शल्पान्’ निर्मि-  
 मते’ निर्हरन्ति । तेषां पुनर्ग्रहणाशक्तौ स्पर्शनं विधत्ते— “तान्  
 विलिप्तन्त इति । लब्धुमिच्छन्तो लिप्तन्तः तद्विपरीतो  
 ‘विलिप्तन्तः’ लब्धु मशक्ताः सन्तः, भूमौ पतितान् ‘तान्’  
 पुरोडाशान् पश्चात् ‘उपस्पृशन्ति’ । उक्तं हि कात्यायनेन—  
 “प्रतिगृह्णात्येतानाशक्यऽउपस्पर्शनम्”—इति † । “भेषज मेवैत-  
 दिति । एतेन स्पर्शनेन निर्हृते शल्पे स्वशरीरदेशस्य पुनर्भेषज  
 मेव कृतवन्तो भवन्ति ॥ १६ ॥

“तान् द्वयोरित्यादि । ‘द्वयोर्मूतकयोः’ । यत्र ढणमये  
 आवपने धान्यं बध्यते, तत् सूतम् ‡, सूत मेव सूतकम् ।  
 स्वार्थे क-प्रत्ययः । ‘तान्’ रौद्रान् पुरोडाशान् ‘द्वयोर्मूतकयोः’  
 ‘उपनद्य’ वेणुयुष्ट्यां वेणुमय्यां यष्ट्याम् ‘उभयतः आबध्य’; यद्वा  
 ‘कुपे’ वेणुनिर्मितभाजनद्वययुक्तौ दारुविशेषो वीवधापरपर्यायः  
 कुपः §, तस्मिन्; ‘उभयतः’ उभयपार्श्वयोः वैणवभाजनयोः  
 ‘तान्’ रौद्रान् ‘आबध्य’; तेन सार्द्धम् ‘उदङ् परेत्य’ उदङ्-

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. १८, १६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. २० ।

‡ “सूतयोः, शिक्वाकारयोः रञ्जुनिर्मितयोः”—इति या० दे० ।

§ ‘कुपे, यस्त्रियदृक्त्वे तुलादृक्’—इति या० दे० ।

मुखोद्गूरं गत्वा, वृक्षस्थाण्डादीना मन्थतमस्मिन् \* उपलब्धे,  
वीवधम् 'आसजति' आलगयति † । तस्मिन्नासजने मन्त्र माह—  
“एतत्त इति ‡ ।

तस्याय मर्थः ।— हे 'रुद्र !' 'ते' तव 'एतत्' वृत्तिकरम्  
'अवसम्' पाथेय मन्त्रम् ; तत् स्वीकृत्य 'तेन' साधनेन  
'मूजवतः परः' मूजवान्नामोदीच्यः पर्वतः, तस्य परस्ताद्भागम्  
'अतीहि' अतिक्रम्य गच्छ, मास्मानधितिष्ठा इति भावः ।

मन्त्रगत मवसशब्दं प्रशंसति— “अवसेन वा इति । लोके  
'अवसेन' अन्नेन पाथेयेन हि जनाः दूरम् 'अध्वानं' 'यन्ति',  
'तत्' तथा सति 'एनं' रुद्रं 'सावसम्' अवससहितम् 'एव'  
अस्मात् स्थानात् 'अन्ववार्जति' अनुगमयति । अस्य रुद्रस्य  
गमनयोग्यप्रदेश माह— “यत्र-यत्नेति । यस्मिन्-यस्मिन् स्थाने  
'अस्य' देवस्य 'चरणं' वर्त्तनं भवति, 'तत्' स्थानम् 'अनु-  
लक्ष्येत्यर्थः । “परो मूजवतः”—इति मन्त्रभागस्याभिप्राय माह—  
“अत्र ह वा इति । 'अस्य' रुद्रस्य 'अत्र' अस्मिन् मूजवत्वपर्वत-  
सम्बन्धिनि 'परः' परस्ताद् भागे 'चरणं' वर्त्तनं भवति,  
'तस्मात्' तेन “परो मूजवतः”—इति मन्त्रभागस्य पठनं युक्त  
मित्यर्थः । द्वितीयभाग मनूद्य व्याचष्टे— “अवततधन्वेति ।  
अवतत मवरोपितज्यं धनुर्यस्य स तथोक्तः । “पिनाकावस  
इति । पिनाकः, तस्यैव रुद्रधनुषो नामधेयम् । तस्य अवसः

\* 'स्थाण्डौ वा, वृक्षे वा, वंशे वा, वल्मीके वा'—इति, 'स्थाण्ड  
द्विनायं वृक्षमूलम्'—इति च या० ३० ।

† का० श्रौ० सू० ५, १०, २१ ।

‡ वा० सं० ३, ६१, १ ।

व्यापारी परमो यस्य स तथा । एतेन विशेषणद्वयेन फलितमर्थं माह — “अहिंसन्निति । हे ‘रुद्र !’ ‘नः’ अस्माकं हिंसा मकुर्वन् ‘शिवः’ सुखकरः सन् “अतीहि”—इति ‘एतत्’, अयं मन्त्रभागः प्रतिपादयतीत्यर्थः । अन्तिमं भागम् \* अनूद्य तात्पर्यं माह— “कृत्सीति । कृत्तिः त्वग्वास आच्छादनं यस्य स तथोक्तः । अनेन च विशेषणेन ‘एनं’ नितरां स्थापयेत् † ; कृत्तेर्मृदुतरत्वेन सुखकरत्वात् रुद्रस्वापो भवत्येवेत्यनेनाभिप्रायेण विशेष्यते । स्वापोऽपि किमर्थं इत्यत आह— “स्वपन्त्विति । ‘नु’ खलु लोके ‘स्वपन्’ निद्रालुः पुरुषः ‘कञ्चन’ क मपि ‘न हिनस्ति’ न पीडयति । अतो रुद्रकृतवाधविरहाय तस्य स्वापः प्रार्थ्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

तेषां पुनरागमनं विधत्ते— “अथ दक्षिणानिति । रौद्रपुरोडाशानां वृक्षादावासञ्जनानन्तर्यं मथशब्दार्थः । रौद्रैर्हविर्भिः ये अचारिषुः, ‘ते’ सर्वे स्व-स्वं दक्षिणं बाहुम् ‘अनु’-लक्ष्य प्रादक्षिण्येनावर्त्तेरन् ; आहत्य च ‘अप्रतीचं’ रौद्रहविःप्रचरणस्थान मनवलोकयन्तः ‘पुनः’ वेदिसमीप मागच्छेयुः ; आगत्य च

\* महीधरमते याज्ञिकदेवमते च कृत्तिवासा इत्यपरो मन्त्रः— वा० सं० ३. ६१. २ । सूत्रतश्चैव मेव प्रतीयते । का० श्रौ० सू० ५. १०. २२ द्रष्टव्यम् । ‘क्रियान्तरस्यानुपदेशात् कृत्तिवासा इति जपेत्’—इतीह या० दे० । महीधरस्तु “कृत्तिवासा इत्यनपेक्ष मेवोपसृष्टान्धपः (५. १०. २२, २३)—इत्येकं सूत्रं मन्त्रेव व्याख्यत्— ‘उमते वृक्षादौ मूतद्वये, वसव्य प्रत्वावर्त्तमाणा मूतद्वयस्यापेक्षया मकृत्वा वेदिसमीपं समागत्योदकं स्पृशेयुः’—इति ।

† ‘निष्वापयतीति श्रवणात् आसक्तस्य निम्बलीकरण मनेन कर्त्तव्यमिति केचित्’—इति चान्न या० दे० ।

हविःप्रचरणकृतौष्णनिवारणाय 'आपः' उपस्पृशेयुः । "तदङ्गिः  
शान्थेति । उष्णशमनहेतुभिः 'अङ्गिः' 'तत्' रौद्रप्रचरणजनितं  
स्व-स्वात्मगत मीष्णां 'शमयन्ते' निवर्त्तयन्तीत्यर्थः \* ॥ १८ ॥

वर्णप्रघासान्ते इव केशश्मश्रुवपनादिकं साकमेधान्तेऽपि  
कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति— "अथ केशश्मश्रूति । केशश्मश्रूणि  
वापयित्वा 'अग्नी' गार्हपत्याहवनीयौ 'समारोह्य' समारोप्य,  
दक्षिणान्ते रप्युपलक्षणम् ( यदि सर्वे धार्या भवैयुः ? ) समारोपणेन  
गृहं गच्छन्तीति शेषः ॥

"उदवसायेत्यादिना, साकमेधस्यान्तकर्त्तव्यता अत्रापि  
प्रतिपाद्यते । "उदवसायेति । स्नानानन्तरं खलु 'एतेन' साक-  
मेधान्तेन 'यजते' । तदङ्गत्वेन योत्तरवेदिर्निर्मिता, तस्या मग्नि-  
होत्रहोमो न युक्त इति पुनः स्वस्थानगमनं कर्त्तव्य मित्यादि  
शेषं पूर्ववद् न व्याख्येयम् ॥ १८ ॥ ३ ः [ ६. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० ५. १०. २३ ।

† २८६ पृ० ४ पं०, ३१२ पृ० ६ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ तै० सं० १ का० ८ प्र० ६ अनु०, तै० ब्रा० १ का० ६ प्र० १०

अनु० । एतयोरनुवाकयोः चाम्बकयागविषयस्तम्बान्ताञ्जान्ता द्रष्टव्याः ।  
'चाम्बक'- 'त्रियम्बक'—इति शाखाभेदकृतौ पाठाविदानीं लेखकप्रमादत  
एकशाखीयवाक्येष्वपि बहुत्र सङ्क्रान्ताविति च ध्येयमिति ।

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् )

अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो  
 भवति । संवत्सरं हि जयति तेनास्याक्षय्यं  
 भवति तं वै चेधा विभज्य यजति चेधा विभज्य  
 प्रजयति सर्वं वै संवत्सरः सर्वं वा ऽअक्षय्य  
 मेतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवत्यतुरु हैवैतद्भूत्वा  
 देवानप्येत्यक्षय्यं मु वै देवानां मेतेनो हैवास्या-  
 क्षय्यं सुकृतं भवत्यतद्गु तद्यस्माच्चातुर्मास्यै-  
 र्यजते ॥ १ ॥

अथ यस्माच्छुनासौर्येण यजेत । या वै देवा-  
 नां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां \* विजिग्या-  
 नानां तच्छुन मथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस  
 आसीत्तस्मैरं सा या चैव देवानां श्रीरासीत्  
 साकमेधैरीजानानां † विजिग्यानानां य उ च  
 संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् त मेवैतदुभयं  
 परिगृह्यात्मन् कुरुते तस्माच्छुनासौर्येण यजते ॥ २ ॥

\* , † 'श्रीरासीत्साकमे'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

तुस्यावृत् \* । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं न गृह्णन्ति  
पृषदाज्यं न मन्यन्त्यग्निं पञ्च प्रयाजा भवन्ति  
तयो ऽनुयाजा एकः समिष्टयजुः † ॥ ३ ॥

अथैतान्येवं पञ्च हवींषि भवन्ति । एतैर्व्यै  
हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो व्वरुण-  
पाशात् प्रजाः प्रामुञ्चदतैर्व्यै देवा व्वृत मघन्ने-  
तैर्व्यै ‡ व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्तां तथो  
ऽएवैषु एतैर्या चैव देवानां श्रीरासीत् साक  
मेधैरौजानानां व्विजिग्यानानां य उ च संव्व-  
त्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् त मेवैतदुभयं  
परिगृह्यात्मन् कुरुते तस्माद् वा ऽएतानि पञ्च  
हवींषि भवन्ति ॥ ४ ॥

अथ शुनासीर्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो  
भवति । स बभ्रुः शुनासीर्यस्य यं पुर्व्वं मवी-  
चाम ॥ ५ ॥

\* 'तुस्यावृत्'—इति ग, घ ।

† 'समिष्टयजुः'—इति ग, घ ।

‡ 'मघन्नेतैर्व्यै'—इति च टयो डा०-वेवरेण ।

अथ वायुञ्च पयो भवति । पयो ह वै प्रजा  
जाता अभिसञ्जानते विजिग्यानं \* मा प्रजाः श्रियै  
युशसे ऽन्नाद्यायाभिसञ्जानान्ता ऽइति तस्मात्पयो  
भवति ॥ ६ ॥

तद्यद्वायुञ्च भवति । अयं वै वायुर्यी ऽयं  
पवत ऽएष वा ऽइदं सर्वं प्रप्याययति यदिदं  
किञ्च वर्षति वृष्टादोषधयो जायन्त ऽत्रोषधी-  
र्जग्ध्वापः पीत्वा तत एतद्गो ऽधि पयः सम्भव-  
त्येष हि वा ऽएतज्जनयति तस्माद् वायुञ्च  
भवति ॥ ७ ॥

अथ सौर्यं एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
एष वै सूर्यो य एष तपत्येष वा ऽइदं सर्वं  
मभिगोपायति साधुना त्वदसाधुना त्वदेष इदं  
सर्वं विदधाति साधौ त्वदसाधौ त्वदेष मा  
विजिग्यानं प्रीतः साधुना त्वदभिगोपायत्साधौ  
त्वदिदधदिति तस्मात्सौर्यं † एककपालः पुरोडाशो  
भवति ॥ ८ ॥

\* 'विजिग्यान मेनं—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'तस्मात्सौर्यं'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा । तदेतस्य रूपं  
क्रियते य एष तपति यदाश्वः श्वेतं न विन्दे-  
दपि गौरिव श्वेतः स्यात्तदेतस्य रूपं क्रियते य  
एष तपति ॥ ९ ॥

स यत्रैव साकमेधैर्यजते । तच्छुनासीर्येण  
यजेत यदै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव संव-  
त्सरमाप्नोति तस्माद्यदैव कदा चैतेन यजेत ॥ १० ॥

तद्वैके । रात्रीरापिपयिषन्ति स यदि रात्री-  
रापिपयिषेद्यद्ददुः पुरस्तात् फाल्गुन्यै पौर्णमास्या  
ऽउद्दृष्टं तच्छुनासीर्येण यजेत ॥ ११ ॥

अथ दीक्षेत । तं नानीजानं \* पुनः फाल्गुनी  
पौर्णमास्यभिपर्येयात् (तत् †) पुनःप्रयोगरूप इव ह  
स यदेन मनीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्य-  
भिपर्येयात्तस्मादेनं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्ण-  
मास्यभिपर्येयादिति नूरसृजमानस्य ॥ १२ ॥

अथ पुनः प्रयुञ्जानस्य । पूर्व्वेद्युः फाल्गुन्यै

\* 'तन्नानीजानं'—इति, 'तस्मादेतन्नानीजानं'—इति च पाठौ दृश्यौ  
डा०-वेत्तरेण । † नास्त्येतत् पदं घ-ङ-पुस्तकयोः ।



पौरुषमास्यै शुनासीर्येण यजेताथ प्रातर्व्वेष्वदेवेनाथ  
पौरुषमासिनैतद् पुनः प्रयुञ्जानस्य \* ॥ १३ ॥

अथातः । परिवर्त्तनस्यैव सर्व्वतोमुखो वा ऽअसा-  
वादित्य एष वा ऽइदं सर्व्वं निर्द्दयति यद्विदं  
किञ्च शुष्यति तेनैष सर्व्वतोमुखस्तेनान्नादः ॥ १४ ॥

सर्व्वतोमुखोऽय मग्निः † । यतो ह्येव कुत-  
श्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति तेनैष सर्व्वतो-  
मुखस्तेनान्नादः ‡ ॥ १५ ॥

अथाय मन्यतोमुखः पुरुषः । स एतत्  
सर्व्वतोमुखो भवति यत् परिवर्त्तयते स एव मेवा-  
न्नादो भवति यथैतावेतद्य एवं विद्वान् परिवर्त्त-  
यत तस्माद्दे परिवर्त्तयत ॥ १६ ॥

तद् होवाचासुरिः । किन्नु तन्न मुखस्य यदपि  
सर्व्वस्येव लोमानि वपेत यद्दे त्रिः संव्व-  
त्सरस्य यजत तेनैव सर्व्वतोमुखस्तेनान्नादस्तस्मान्ना-  
द्वियेत परिवर्त्तयितु मिति ॥ १७ ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [६. ३.] ॥

\* 'प्रयुञ्जानस्य'—इति ग, घ ।

† 'सर्व्वतोमुखोऽय मग्निः'—इति ग, घ । ‡ 'स्तेनान्नादः'—इति ग, घ ।

अथ शुनासीरीयं \* विधिक्षुस्तस्य शुनासीर्यस्य चतुर्थपर्वणः  
 संवत्सरसलक्षणफलसाधनत्वं प्रतिपादयिष्यंस्त्वावदुपोद्घातत्वेन चातु-  
 र्मास्याना मन्त्र्यफलसाधनत्व माह— “अक्षय्यं ह वा इति ।  
 चतुर्षु-चतुर्षु मासेषु क्रियन्त इति चातुर्मास्यानि प्रयुक्तानि  
 वैश्वदेवादीनि , तैरिष्टवान् चातुर्मास्ययाजी । “करणे यजः”—  
 इति † भूतकाले यजतेर्णिनिः । तस्य ‘चातुर्मास्ययाजिनः’  
 ‘सुकृतं’ यागजनितफलसाधनधर्मापरपर्याय मपूर्वम् ‘अक्षय्यम्’  
 चेत् मशक्यम् ; न कदाचिदपि भोगेन क्षययितुं शक्यते ।  
 “क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे”—इति ‡ , “क्षि क्षये”—इति § अस्मान्निपा-  
 तितः । अक्षय्यत्व सुपपादयति— “संवत्सरं हीति । ‘हि’  
 यस्मात् उदीरितैस्त्रिभिः वैश्वदेवादिभिः पर्वभिः संवत्सरपरि-  
 मितकालं ‘जयति’ ‘तेन’ संवत्सरजयेन , तदतिरिक्तस्य कालस्या-  
 भावात् ‘अस्य’ सार्वकालिकस्य चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्  
 अक्षय्यं भवतीत्यर्थः ॥ ।

संवत्सरं कथं मेतेन जयति इति तदाह— “तं वा इति ।  
 ‘तं’ संवत्सरं त्रिधा ‘विभज्य’ चतुर्षु-चतुर्षु मासेषु वैश्वदेवा-  
 दिभिः ‘यजते’ ¶ , अतस्तं संवत्सरं त्रिधा ‘विभज्य’ एव ‘प्रजयति’  
 प्रकर्षेण जयति । अस्तु संवत्सरस्य जयः , एतावता कथं फलस्या-  
 क्षयत्वसिद्धि रिति , तदाह— “सर्वं वा इति । भूतवर्त्तमान-

\* ‘शुनासीरीय मतः’—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. १ ।

† पा० सू० ३. २. ८५ ।

‡ पा० सू० ६. १. ८१ ।

§ भा० प० २३६ धा० ।

¶ “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति”—इति आप०  
 श्रौ० सू० ८. १. १ । ¶ ‘चातुर्मास्यानि त्रीण्येव’—इतीह हरिस्वामी ।

भविष्यत्कालत्रयावच्छिन्नं सर्वं वस्तु संवत्सरमध्ये एवान्तर्भूतम् ; संवत्सरस्तु कृत्स्नव्यापितया अनादिरनन्त इति तज्ज्यं फल मपि अक्षय्यं भवतीत्यर्थः । प्रकारान्तरेणाप्यक्षय्यत्वं प्रतिपादयति— “ऋतुरु हैवैतदिति । ‘एतत्’ एतेन चातुर्मास्ययजनेन वसन्ताद्यृत्वात्मक एव ‘भूत्वा’ ‘देवानप्येति’ चातुर्मास्ययाज्ञी अपि गच्छति , देवानाञ्च सुकृत मक्षय्य मेव भवति । अतः ‘एतेन’ देवेष्वपि प्रापणेन ‘अस्य’ ‘सुकृतम्’ ‘अक्षय्यम्’ एव ‘भवति’ ॥ १ ॥

इत्थं वैश्वदेवादीनां त्रयाणां फल मुपपाद्य शुनासीर्थ्य-यागस्य अग्रादिकं फलं दर्शयति— “अथ यस्मादिति । ‘यस्मात्’ हेतोः यजमानः ‘शुनासीर्थेण’ पर्वणा ‘यजते’, तस्मात् तत्फल मुच्यत इत्यर्थः । “या वै देवाना मित्यादि । ‘साकमेधैः’ प्रागुक्तैर्यागैः ‘ईजानानाम्’ इष्टवतां ‘विजिग्यानानां’ इत्रासुरं जितवतां देवानां ‘या’ ‘त्रीः’ सम्पत् ‘आसीत्’, ‘तत्’ ‘शुनम्’ सुखनामैतत् \* , सुखहेतुत्वात् शुन मित्युच्यत इत्यर्थः । ‘अथ’ वैश्वदेवादिभिः त्रिभिस्त्रिभिश्चातुर्मास्यैः प्रस्थितस्य ‘संवत्सरस्य’ ‘यो रस आसीत्’ सुखहेतुः सारभूतोऽग्नोऽभवत् , तत् ‘सीरम्’ इत्युच्यते । “या चैव देवाना मित्यादिः , उक्तार्थानुवादः । “त मेवैतदुभय मिति । यदेतत् शुना सीरं चोक्तम् , ‘एतदुभयम्’ एतेन शुनाशीर्थ्ययागेन ‘परिगृह्य’ यजमानः ‘आत्मनि’ स्वाम्नि ‘कुरुते’ धारयति । इत्थं प्रवृत्तिहेतुफल मुपपाद्य तस्माधनभूतं यागं विधत्ते— “तस्मादिति । उक्तलक्षणौ शुनासीरौ अधिदैववायादिरूपेणावस्थितौ । सास्य देवतेत्यर्थे शुनासीरशब्दाद्

यत् । तद्विवर्योगात् वक्ष्यमाणं हविस्त्रमुदायसाध्यं कृत्स्नं कर्म  
अनेन व्यपदिश्यते । यस्मादुक्तफलसाधनत्वम् , तस्माच्छुना-  
सीरीयाख्येनानेन चतुर्थेन पर्वणा यजेतेत्यर्थः \* ॥ २ ॥

प्रयोगकर्म वक्तुं प्रतिजानीते— “तस्याहृदिति । ‘तस्य’  
शुनाशीर्यस्य ‘आहृत्’ क्रिया उच्यत इति शेषः । पूर्वेषु  
पर्वस्त्रिव प्रसक्त मुत्तरवेदिनिर्वपनादिकं निषेधति— नोप-  
किरन्तीत्यादिना । प्रयाजानुयाजादयोऽपि प्रकृतिवदेवेत्याह—  
“पञ्चेति † ॥ ३ ॥

पञ्च हवींषि विधत्ते— “अथैतान्येवेति । वैश्वदेवादिषु  
पर्वस्त्रनुष्ठितान्याग्नेयादीनि पञ्च हवींषि अत्रापि कर्त्तव्यानि  
भवन्तीत्यर्थः । कृतमफलत्वेनैतानि प्रशंसति— “एतैर्वा इति ।  
वैश्वदेवेष्वनुष्ठितैः ‘एतैर्हविर्भिः’ खलु पुरा ‘प्रजापतिः’ ‘प्रजाः’  
सृष्टवान् । वरुणप्रघासेष्वनुष्ठितैरेव ताः ‘प्रजाः’ ‘उभयतो  
वरुणपाशात्’ ऊर्ध्वाधःकायस्थितात् ‘प्रामुञ्चत्’ प्रमुक्तवान् । तथा  
साकमेधेष्वनुष्ठितैरेव पञ्चभिर्हविर्भिः ‘देवाः’ ‘द्वत्रम्’ असुरम्  
‘अघ्नन्’, हत्वा च ‘एतैः’ एव ‘व्यजयन्त’ विजयं प्राप्तवन्तः ।  
यथैवेतानि कृत्स्नाभिलषितफलसाधनानि , ‘तथो’ तथैव खलु  
‘एषः’ यजमानः ‘एतैः’ शुनासीर्याख्ये चतुर्थे पर्वणि अनुष्ठीय-  
मानैः , आग्नेयादिभिः पञ्चभिर्हविर्भिः शुनासीरीयं ‡ यदेतदनु-  
क्रान्तम् , ‘तदुभयं’ फलम् ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘परिगृह्य’ स्वाधीनं  
‘कुरुते’ । “तस्मादिति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४ ॥

\* का० श्रौ० सू० ५. ११. १ ।

† “पौर्णमासधर्मा बर्हिर्वर्जम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. ३ ।

‡ ‘शुनासीर्यं’—इति कृष्णपाठः ।

षष्ठं हविर्विधत्ते— “अथ शुनासीर्य इति \* । शुनासीरौ वायुदित्यौ देवते अस्य स शुनासीर्यः । ‘सीर आदित्यः’— इति हि यास्कः † । हिवचनेन कात्यायनोऽपीम मर्थ मसूचयत्— “शुनासीराभ्यां द्वादशकपालः”—इति ‡ । उक्तं वाक्यशेष मत्राप्यतिदिशति— “स बन्धुरिति । कृत्स्नस्य कर्मणः फलप्रतिपादनसमये ‘यं पूर्वं’ वाक्यशेषं “या वै देवानाम्”—इत्यादिकम् ‘अवोचाम’ उक्तवन्तः § , ‘सः’ एव अस्यापि ‘शुनाशीर्यस्य’ हविषः स्तावकः ; उक्तविधयोरेव वायुदित्यरूपेणावस्थितत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

सप्तमं हविविधत्ते— “अथ वायव्य मिति । वायुदेवता अस्य तद् ‘वायव्यम्’ । “वाय्वृतुपितृषसो यत्”—इति ¶ यत् । पयसस्तावत् अत्रानुकूल्यं दर्शयति— “पयो ह वा इति । ‘जाताः’ सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘पयः’ खलु ‘अभि’-लक्ष्य ‘सञ्ज्ञानते’ सञ्ज्ञानाना भवन्ति । अतः पयसः सम्पत्तिहेतुत्वात् ‘विजिग्यानं’ साकमेधैर्विजितवन्तम् ‘एनं’ यजमानं ‘अथै’ सम्पदे, ‘यशसे’ कीर्त्तये ‘अन्नाद्याय’ अन्नादनसामर्थ्याय च सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘अभिसञ्ज्ञानान्ते’ अभिसञ्ज्ञानीन्, अनुमन्यन्ता मिति ; अनेनाभिप्रायेण पयसः करण मित्यर्थः ॥ ६ ॥

\* “निव्येभ्योऽधिकानि”—इत्यादीनीह का० श्रौ० सू० ५. ११. ५ द्रष्टव्यानि ।

† “शुनासीरौ शुनो वायुः, शु इत्यन्तरिक्षे; सीर आदित्यः, सरणात्”—इति निरु० ६. ४. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ११. ५ । § ४०४ पृ० १० पं० ।

॥ “वायव्यं पयः, यवागूर्वा”—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. ६. १०

¶ पा० सू० ४. २. ३१ ।

तस्य वायुदेवत्वत्व मनुष्य स्तीति— “तद्यदिति । “एष वा इत्यादि । ‘यदिदं किञ्च’ भूम्यां स्थितं स्यावरादिकं ‘वर्षति’ वृद्ध्या सिञ्चति, इदं सर्वम् ‘एषः’ खलु पवमानः ‘प्रप्याययति’ प्रवर्द्धति । “ओ प्यायी वृद्धौ”—इति \* धातुः । तस्माद् वृष्टात् पवमानेन प्रप्यायितात् ‘ओषधयो जायन्ते’, ताश्च ‘ओषधीः’ ‘जग्ध्वा’ भक्षयित्वा “अदो जग्धिर्त्यपि किति” —इति † अदेर्जग्धादेशः । ओषधिभक्षणात्तरम् ‘अपः पीत्वा’ पशवः पयो दुहन्ति । ‘एतदद्गः’ सकाशात् ‘पयः’ ‘सम्भवति’ उत्पद्यते । तस्मात् परम्परया ‘एष हि’ पवमानः ‘एतत्’ पयो ‘जनयति’ उत्पादयति ‡ । तस्मादस्य वायुर्देवतेत्येतदुक्तं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

अष्टमं हविर्विधत्ते— “अथ सौर्यं इति § । अस्य हविषः सूर्योऽभिगोमेत्याह— “एष वै सूर्यं इत्यादिना । “साधुना त्वदित्यादि । ‘साधुना’ शोभनेन कर्मणा ‘त्वत्’ एकं पुण्य-कृतं जनम् ‘एषः’ सूर्यः ‘अभिगोपायति’ । न केवलं रक्षण-मत्र शोभनात्मकम् । ‘इदं सर्वं’ जगत्, एष एव सूर्यो ‘विदधाति’ करोति ; विदधानः सः ‘त्वत्’ एकं ‘साधौ’ पुण्ये कर्मणि स्थापयति, ‘त्वत्’ एकम् अन्यत् ‘असाधौ’ पापकर्मणि स्थापयति । ‘एषः’ खलु हिरण्यगर्भरूपः स आत्मा । अस्य हि साध्वसाधुकर्मणः कारयित्वत्व मन्यत्र चाम्नायते— “एष ह्येव साधु कर्म कारयति, तेषा मेभ्यो लोकेभ्य जडुं निनीषते ;

\* भा० आ० ४८८ घा० ।

† पा० सू० २, ४, ३६ ।

‡ का० औ० सू० ५, १, ७, ८, ६ ।

§ “सौर्यं एककपालः”—इति का० औ० सू० ५, ११, ११ ।

एष ह्यसाधु कर्म कारयति , तेषा मेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनी-  
घते”-इति ।

“एष मेत्यादि । एव मुक्तविधः सूर्य एषः अनेन हविषा  
‘प्रीतः’ सन् ‘विजिग्यानं’ साकमेधैः विजितवन्तं ‘मा’ मां  
‘साधुना’ कर्मणा ‘अभिगोपायत्’ अभिरक्षति , तथा तस्मिन्  
‘साधौ’ शोभने कर्मणि मां ‘विदधत्’ विदधातु , प्रेरयतु  
‘इति’ अनेनाभिप्रायेण यजमानः सौर्यं हविः कुर्यात् । ‘त्वत्’  
-इति , एतदत्र क्रियाविशेषणत्वेन योज्यम् ॥ ८ ॥

तस्येककपालस्य दक्षिणां विधत्ते— “तस्याश्वः श्वेत इति ।  
‘तस्य’ सौर्यस्य हविषः श्वेतः अश्वविशेषो ‘दक्षिणा’ \* ।  
शुनासौर्यस्य तु षड्भिरनडुद्भिर्युक्तं सौरं दक्षिणा । तदुक्तं सूत्र-  
कारेण— “सौरं षड्योगं दक्षिणा”-इति † । “तदेतस्येत्यादि ।  
‘एतस्य’ सूर्यस्य सितभावस्वरूपत्वात् श्वेताश्वदान मेतदीय  
रूपकरणमित्यर्थः । तादृशाश्वालाभे तादृशो गौर्देय इत्याह—  
“यद्यश्व मित्यादि ‡ ॥ ८ ॥

अथ शुनासौर्ययागस्य कालं विधत्ते— “स यत्रैवेत्यादिना ।  
‘यत्र’ यस्मिन् ‘एव’ काले ‘साकमेधैर्यजते’, ‘तत्’ तदानीम् ,  
तदनन्तरकाले एव § ( सः ॥ ) यजमानः शुनासौर्येण ‘यजते’ ।

\* का० श्रौ० सू० ५, ११, १४ क ।

† का० श्रौ० सू० ५, ११, १२ । सौरम् = हलम् । ‘युच्यन्त इति  
योगाः बलीवर्हाः’-इति च तत्र या० दे० । “ओधारौ वा”-इति च  
तदुत्तरमूत्रम् । ‘वोधारौ मृहान्तौ बलीवर्हौ, न सौरम्’-इति च तदुत्तिः ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ११, १५ । ‘गौः श्वेतः’-इति चात्र या० दे० ।

§ ‘तदनन्तरकाल मेव’-इति च-पाठः ।

॥ नास्थेतत् प्रदं च-पुस्तके ।

न तु शुनासीर्यस्यापि चातुर्मास्यत्वात् मासचतुष्टयस्य व्यवधान  
मपेक्षित मित्यत आह—“यद्वा इति । चतुर्षु चतुर्षु मासेषु  
संवत्सरस्य मध्ये वैश्वदेव-वरुणप्रघास-साकमेध-भेदेन ‘त्रिः’ त्रिवारं  
‘यजते’ इति यत्, ‘तेनैव संवत्सर माप्नोति’ । वैश्वदेवादयः  
प्रत्येकं चातुर्मास्ययुक्ता \* इति तदनुष्ठानेनैव तेषां हादशाना  
मवाप्तत्वात् तत्समुदायरूपः संवत्सरोऽपि यजमानस्य स्वायत्तो  
जात इत्यर्थः । उक्त मर्थं निगमयति — “तस्मादिति ।  
यस्मात् चतुर्थपर्वणः शुनासीर्यस्य संवत्सरातिरिक्तः प्रातिस्विकः  
कालो नास्ति, तस्माद् यदा कदाचिदेव साकमेधानन्तरं  
यजतेत्यर्थः † । एतदेवानन्तर्यं सूत्रकृताप्युक्तम् — “शुनासी-  
रीय मतः”—इति ‡ ॥ १० ॥

सोमेन यच्चमाणस्य पक्षान्तर माह— “तद्वैक इति ।  
‘तत्’ तत्र खलु शुनासीर्यानुष्ठाने ‘एके’ शाखिनः ‘रात्रीः  
आपिपयिषन्ति’ अनेन यागेन कतिचिद् रात्रीः आमु मिच्छन्ति ।  
अत एवोक्त मापस्तम्बेन — “ततो द्यहे त्रहे चतुरहेऽर्द्धमासे  
मासि चतुर्षु वा मासेषु शुनासीरीयेण यजते”—इति § ।  
तेषां मते सोमेन यच्चमाणस्य शुनासीर्यकाल उच्यत इत्यर्थः ।

\* ‘चतुर्मास्ययुक्ता’—इति का०-सू० ४०-४८तः पाठः ( ५, ११, १. ) ।

† अत्र हरिस्वामिनः— “यस्मिन् काले साकमेधैर्यजते, ततः  
तत्रैव शुनाशीर्यं गेति, न तद्विषयनियमोऽयम्, किन्तुर्हि? यत् पूर्वयोः  
पर्वणोरुक्तम् चतुर्थे मास्येति, तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । साकमेधः प्रत्या-  
सन्ने यजनीये, हनि यजेत, नियमतश्चतुर्थं सामं नाद्रियेतेत्यर्थः । कुत  
एतत्? तस्माद् यदैव कदा चैतेन यजेतेत्युपसंहारात्”—इति ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ११, १ । “यदेच्छेत्”—इति चैतदुत्तरसूत्रम् ।

§ आप० श्रौ० सू० ८, २०, १ ।



यदि हि 'रात्रीः' 'आपिपयिषेत्' आमु मिच्छेत्, तदा आगामिनीभ्यां फाल्गुनीभ्यां युक्ता पीर्णमासी फाल्गुनी; षष्ठ्यर्थे चतुर्थी; 'फाल्गुन्यै' फाल्गुन्याः पीर्णमास्याः 'पुरस्तात्' 'यत्', 'अदः'—इति विप्रकृष्टे, 'उत्' ऊर्ध्वं चन्द्रमाः अस्मिन् दृश्यते इति 'उद्दृष्टं' शुक्लपक्षः, 'तत्' तत्र प्रतिपदाद्यन्यतमस्यां तिथौ 'शुनासीर्येण यजेत' \* ॥ ११ ॥

“अथ दीक्षेतेति । 'अथ' अनन्तर मेव सोमयागार्थं 'दीक्षेते' कालविलम्बो न कार्य इत्यर्थः । देवान्मानुषाहा विघ्नात् विलम्बेऽपि तस्यावधि माह— “तं नानीजान मिति । इमा मेव श्रुति मभिप्रेत्यापस्तम्बोऽप्याह— “चातुर्मास्यैरिष्ट्वा सोमेन पशुना वा यजते, फाल्गुन्या उद्दृष्टे सोमाय दीक्षते, तं ततो नानीजान मपरा फाल्गुनी पर्यवेयात्”—इति † । तदत्यये दोष माह— “पुनरिति । 'अनीजानम्' 'पनम्' यजमानम् 'पुनः' फाल्गुनी पीर्णमासी न अतिक्रामित् इति यत्, स 'पुनः-प्रयोगरूप इव ह' भवति; चातुर्मास्यानां प्रयोगस्य एतस्मिन् काले कर्त्तव्यत्वात्, तस्य चानाचरितत्वात् पुनःप्रयोगाद्भूतोऽयं कालो भवेदित्यर्थः । प्रतिपादितं प्रतिषेधं निगमयति— “तस्मादिति । अथञ्च पक्षोऽधिकारिविशेषस्यैवेति निगमयति— “इति न्विति । द्विविधौ हि चातुर्मास्ययाजिनौ सङ्गदनुष्ठायो-

\* का० श्रौ० सू० ५. ११. १५ । 'फाल्गुन्युद्दृष्टे = फाल्गुनशुक्लप्रतिपदि'—इति या० दे० । “उद्दृष्टं = शुक्लपक्षः, तस्मिन् प्रतिपद्येव शुनासीर्येण यजेत, अथानन्तरं तस्मिन्नन्यस्मिन् वा दिवसे दीक्षानुसारेण दीक्षेते”—इतीह हरिस्वामी ।

† आप० श्रौ० सू० ८. २१. २, ३, ४ ।

स्मृतमानः पुनः-प्रयुञ्जानश्च । तत्र 'उत्सृजमानस्य' खलु अय  
सुक्तः पक्ष इत्यर्थः ॥ १२ ॥

कस्तर्हि तानि पुनः-प्रयुञ्जानस्य पक्ष इति दर्शयति—  
“अथ पुन रिति \* । चातुर्मास्थानि सक्तत् संयज्य अनन्तर  
मेव यः क्षानि पुनरारभ्यते, तस्य पुनरारभमाणस्य 'फाल्गुन्यै  
पौर्णमास्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, तस्याः 'पूर्वेद्युः' पूर्वदिवसे  
चतुर्दश्यां 'शुभासीर्येष यजेत', 'अथ' अनन्तर मेव 'प्रातः'  
काले पौर्णमास्यां 'विश्वदेवेन' 'यजेत', तदनन्तरम् नित्येन  
पौर्णमासयागेनित्ययं प्रयोगक्रमः । तदुक्तं कात्यायनेन—“फाल्गु-  
न्युपवसथे शुभासीरीयम्, प्रातर्विश्वदेवम्”—इति † । “एतद्  
पुनरिति, प्रतिज्ञातार्थनिगमनम् ॥ १३ ॥

चातुर्मास्याङ्गभूतं वपनं मीमांस्यते—“अथात इत्यादिना ।  
अत इति वक्ष्यमाणार्थपरामर्शः । 'अतः' अस्माद् वक्ष्यमाणा-  
हेतोः 'परिवर्त्तनस्य' परितः केशश्मश्र्वादीनाम् वर्त्तनस्य ‡  
वपनस्य विचारो § ऽधिक्रियते इत्यर्थः ॥ । एतत् परिवर्त्तनं  
विधातु मन्नादत्वेनादित्य मन्त्रिं च स्तौति—“सर्वतोमुखो वा

\* का० श्रौ० सू० ५. ११. १६ द्रष्टव्यम् ; व्याप० श्रौ० ८. २१. ६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ११. १७, १८ ।

‡ 'आवर्त्तनस्य'—इति छ-पाठः ।

§ 'विकारो ( विवारो )'—इति च-पाठः ।

॥ “हृदयशूलान्ते वपनम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. २६ ।  
'पर्वसंस्थासु यद् वपनं सुक्तं वैकल्पिकम्, तत् सपशुषु हृदयशूलान्ते =  
हृदयशूलममिदाधानान्ते कर्त्तव्यमित्यर्थः'—इति तट्टीकायां या० दे० ।  
अन्यत् सर्वं मत्र निरूढवदिति चैतावतैव सम्यग्मम् ।

असावादित्य इत्यादिना । सर्वतः सर्वासु दिक्षु मुखं रसा-  
दानसामर्थ्यं यस्य स तथोक्तः । सर्वतोमुखत्वं सुपपादयति—  
“एष वा इति । ‘निर्व्वयति’ रसं निष्कृष्य पिबति । अत  
एतत् सर्वं घर्मकाले ‘शुष्यति’ शोषणं प्राप्नोति , सर्वं जगद्  
व्याप्य स्थितस्य सूर्यस्य स्वकिरणैनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

“सर्वतोमुखोऽय मन्विरिति । अत्रापि तथैव योजना ।  
“यतो ह्येवेति । यतः कुतश्चिदपि दिग्भागादित्यर्थः । ‘अभ्या-  
दधति’ अभिप्रक्षिपति । “तत एवेति । तस्मिन्नपि दिग्भागे  
इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एव मग्न्यादित्ययोः सर्वतोमुखत्वेन अन्नादत्त्वं प्रतिपाद्य  
पुरुषस्य स्वाभाविकं तद्वैपरीत्यं माह— “अथाय मिति । ‘अथ’-  
शब्दः त्वर्थे । ‘अथ’ तु ‘पुरुषः’ यजमानः ‘अन्यतोमुखः’ ।  
अन्यशब्द एकशब्दपर्यायः । अन्यतः एकत्र स्थित मेव मुखं  
यस्य, स तथोक्तः । तस्य सर्वतोमुखत्वसम्पत्तिं माह— “स  
एतदिति । ‘यद्’ यस्मात् परितः शिरो वर्त्तयते, केशान्  
वापयति, ‘एतत्’ एतेन अलोमकत्वसाम्यात् शिरसः प्रान्तदेशा  
अपि मुखं मिव भवन्तीति स यजमानः सर्वतोमुखो भवति ।  
इत्थं पुरुषस्य सर्वतोमुखत्वं प्रतिपाद्य प्रागुक्तं दृष्टान्तद्वयसिद्ध  
मर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति— “स एव मेवेति । ‘यथा’ ‘एतौ’  
आदित्योऽग्निश्च सर्वतोमुखत्वात् अन्नादौ, ‘एव मेव’ यजमानो-  
ऽपि ‘अन्नादः’ सर्वतो दिक्तः समत्तुं समर्थो भवति । “तस्मादिति,  
उपपादितस्य परिवर्त्तनस्य निगमनम् ॥ १६ ॥

प्रकारान्तरेण सर्वतोमुखत्वं प्रतिपादयन् परिवर्त्तनं न  
कर्त्तव्यं मिति पदान्तरं माह— “तद् होवाचेति । ‘तत्’

तत्र , तस्मिन् परिवर्त्तनविषये 'आसुरिः' नाम महर्षिः आह सः ।  
 'यदपि' यदि नाम 'सर्वाण्येव लोमानि' परितो 'वपेत',  
 तथापि तत्तन्मुण्डिते देशे 'मुखस्य' सम्बन्धि किन्नामावयवजातं  
 निष्पन्नं भवति ? न ह्यलीमकत्वमात्रेण मुख मिति व्यवहर्त्तुं  
 शक्यते , किन्तु बहुश्रीत्राद्यवयवमत्तयैव ; अतो नैतेन परि-  
 वर्त्तनेन सर्वतोमुखत्वं लभ्यत इत्यर्थः । कथन्तर्हि सर्वतोमुखत्वं  
 पुरुषस्य ? तत्राह— "त्रिः संवत्सरस्येति । 'संवत्सरस्य' मध्ये  
 वैश्वदेवादिभेदेन 'त्रिः यजते', 'तेनैव' अयं यजमानः 'सर्वतो-  
 मुखः' ; सत्स्य संवत्सरस्य यागेन प्राप्तत्वात् । "तेनैवेति ।  
 अत्रादहेतुभूतं सर्वतोमुखत्वं प्रकारान्तरेणैव सिध्यति । "तस्मा-  
 दिति । 'तस्मात्' परिवर्त्तनं 'न आद्रियेत' इत्यासुरेर्मतस्य  
 निगमनम् ॥ १७ ॥ ४ \* [ ६. ३. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* त्रिविधानि चातुर्मास्यानि भवन्ति । ऐष्टिकानि , पाशुकानि , सौमि-  
 कानि च । तत्र ऐष्टिकान्येवैहोक्तानि विशेषतः , क्वान्दोग्यादिविहितानि  
 सौमिकानि तु का० श्रौ० सू० द्वाविंश्याध्याये सप्तम्यां कण्डिकायां वर्णितानि,  
 पाशुकान्यपि तत्रैव तत उत्तरस्मिन्नध्याये वर्णितानीति द्रष्टव्यम् ।  
 "सपशुषु पशुतन्त्रम् प्राधान्यात् , पूर्वदुर्वैश्वदेवे 'पाशुकम्"—इत्यादीनि  
 च सूत्राणीह ( का० श्रौ० सू० ५. ११. १६—३१. ) समालोचनीति दिक् ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् )

तद्यदाहुः । साकमेधैर्व्वै देवा व्वृत्रमघ्नंसैर्व्वैव \*  
 व्यजयन् येय मेघां व्विजितिस्ता मिति सव्वैर्ह  
 त्वेव देवाश्चातुर्मास्यै व्वृत्र मघ्नन्त्सव्वैर्व्वैव व्यजयन्  
 येय मेघां व्विजितिस्ताम् † ॥ १ ॥

ते होचुः । केन राज्ञा केनानीकेन योत्याम  
 इति स ह्यग्निरुवाच मया राज्ञा मयानीकेनेति  
 ते ऽग्निना राज्ञाग्निनानीकेन चतुरो मासः  
 प्राजयंस्तान् ब्रह्मणा च त्रय्या च व्विद्यया  
 पर्यगृह्णन् ॥ २ ॥

ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन यो-  
 त्याम इति स ह व्वरुण उवाच मया राज्ञा  
 मयानीकेनेति ते व्वरुणेनैव राज्ञा व्वरुणेनानी-  
 केनापरांश्चतुरो मासः प्राजयंस्तान् ब्रह्मणा चैव  
 त्रय्या च व्विद्यया पर्यगृह्णन् ॥ ३ ॥

\* 'सैर्व्वैव'—इति, 'वैर्व्वैव'—इति च पाठौ दृष्टौ डा०-वेबरस्य ।

† 'व्विजितिस्ताम्'—इति ग, घ ।

ते होचुः । केनैव राज्ञा किनानीकेन योत्स्याम  
 इति स इन्द्र उवाच मया राज्ञा मयानीके-  
 नेति त इन्द्रेणैव राज्ञेणानीकेनापरांश्चतुरो  
 मासः प्राजयन्तान् ब्रह्मणा चैव त्रय्या च द्विद्यया  
 पर्यगृह्णन् ॥ ४ ॥

स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निनैवैतद्राज्ञाग्नि-  
 नानीकेन चतुरो मासः प्रजयति तत् चेनी  
 शलली भवति लोहः चुरः सा या चेनी शलली  
 सा त्रय्यै द्विद्यायै रूपं लोहः क्षुरो ब्रह्मणो  
 रूपमग्निर्हि ब्रह्म लोहित इव ह्यग्निरुस्माल्लोहः  
 क्षुरो भवति तेन परिवर्त्तयते तद् ब्रह्मणा चैवैन  
 मेतत्त्रय्या च द्विद्यया परिगृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ यद्दक्षप्रघासैर्यजते व्वरुणेनैवैतद्राज्ञा  
 व्वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तत्  
 चेनी शलली भवति लोहः क्षुरस्तेन परि-  
 वर्त्तयते तद् ब्रह्मणा चैवैन मेतत् त्रय्या च  
 द्विद्यया परिगृह्णाति ॥ ६ ॥

अथ यत्साकमेधै र्यजते । इन्द्रेणैवैद्राज्ञे-  
 न्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तत्

चेरनी शलली भवति लोहः क्षुरस्तेन परिवर्त्त-  
यते तद् ब्रह्मणा चैवैन मेतुष्यया च विद्यया  
परिगृह्णाति ॥ ७ ॥

स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निरेव तर्हि  
भवत्यग्नेरेव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यद्  
व्वरुणप्रघासैर्यजते व्वरुण एव तर्हि भवति व्वरुण-  
स्यैव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यत्साकमेधै-  
र्यजत ऽइन्द्र एव तर्हि भवतीन्द्रस्यैव सायुज्यं  
सलोकतां जयति ॥ ८ ॥

स यस्मिन् हऽर्तावमुं लोक मेति । स एन  
मृतुः परस्मा ऽऋतवे प्रयच्छति पर उ परस्मा  
ऽऋतवे प्रयच्छति स परम मेव स्थानं परमां  
गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी तदाहुर्न चातु-  
र्मास्ययाजिन मनुविन्दन्ति परमं च्छेव खलु \* स  
स्थानं परमां गतिं गच्छतीति ॥ ९ ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [६. ४.] ॥

\* 'खलु'— इति च इष्टो डा०-वेवरेण ।

वैश्वदेवादिषु सर्वेषु परिवर्त्तनं सेतिकर्त्तव्यताकं विधित्सु-  
स्तेषां सर्वेषां वृत्रवधहेतुत्वं विजयहेतुत्वं च समान मिति  
प्रतिपादयति— “तद्यदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र उक्तविषये साक-  
मेधाना मेव वृत्रवधहेतुत्वं जयहेतुत्वञ्चेति ‘यद्’ ‘आहुः’ कथ-  
यन्ति , तत्र ; तथा ‘सर्वैरेव’ हि ‘चातुर्मास्यैः’ चतुर्षु-चतुर्षु  
मासेषु प्रयुज्यमानैः वैश्वदेवादिभिः वृत्रहननं विजयञ्च प्राप्त-  
वन्तो ‘देवाः’ इत्यर्थः ॥ १ ॥

तत्र वैश्वदेवेन जित मर्थं मास्थायिकया दर्शयति—“ति  
होचुरिति । ‘ते’ देवाः खलु प्रजापतिं पितर मभिलक्ष्य  
परस्परं वाचम् ‘ऊचुः’ । “केनानीकेनेति । अनीकं सेना-  
मुखम् , सेनान्येत्यर्थः । “चतुरो मास इति । “पद्म०”—  
इत्यादिना \* मासशब्दस्य माम् इत्यय मादेशः । “तान्  
ब्रह्मणा चेति । ‘तान्’ विजितान् मासान् ‘ब्रह्मणा’ ‘अग्निं हिं  
ब्रह्म”—इत्यग्रे विवरिष्यते † , अतो ब्रह्मणा अग्निना , ‘तय्या’  
वेदत्रयरूपया ‘विद्यया च’ देवाः ‘पर्यगृह्णन्’ परितो धारयन् ॥ २ ॥

एवं वैश्वदेवस्याग्निप्रमुखत्व मुक्त्वा वरुणप्रघासेषु वरुण-  
प्रमुखत्वञ्चाह— “ति होचुरिति । “अपरांश्चतुर इति । आषा-  
ढादीनित्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ एवं साकमेधेषु इन्द्रप्रमुखत्वम् ,  
‘अपरान्’ कार्तिकादीनित्येव विशेषः ॥ ३ , ४ ॥

इत्थं प्रतिष्कल्पुपन्यासेन वैश्वदेवादिषु पर्वसु प्रतिपादित मर्थं  
यजमानेऽपि क्रमेण योजयति— “स यद् वैश्वदेवेनेत्यादिना ।  
“ब्रह्मणा च तय्या च विद्यया पर्यगृह्णन्”—इति यदुक्तम् ,  
तस्य प्रतिष्कति माह— “त्रेयनीति । त्रिषु स्थानेषु ‘एतः’



लौहितवर्णी \* यस्याः सा त्रेणी । “वर्णादनुदात्तात्”-इति †  
 एतशब्दात् ङीप्, तकारस्य नकारादेशश्च । श्वाविद्यामकंश्च  
 ऋगस्य लोम ‘शलली’ ‡ । उक्तलक्षणा सा वक्ष्यमाणपरिवर्त्तन-  
 हेतुत्वेन स्त्रीकार्या । तत्र शलल्याच्चयीप्रतिरूपत्व माह— “सा  
 येति । ‘सा’ पूर्वीक्ता ‘या’ त्रेणी शलली’, सा त्रित्वसङ्ख्या-  
 विशिष्टगुणोपेतत्वात् त्रय्या विद्यायाः स्वरूपम् । ‘लोहः’  
 लोहितवर्णस्ताम्रमयः ‘क्षुरः’, स ‘ब्रह्मणो रूपम्’ । कथं  
 ब्रह्मणो लोहितवर्णत्व मिति तदाह— ‘अग्निर्हीति । स च  
 ब्रह्मशब्दवाच्यो ऽग्निः लोहितवर्णः ‘इव’ हि भवति ; ‘तस्मात्’  
 लोहितवर्णः ‘क्षुरः’ ब्रह्मणः प्रतिरूप मित्यर्थः । “तेनेत्यादि ।  
 ‘तेन’ क्षुरेण, तथा शलल्या च ‘परिवर्त्तयते’ शलल्या केशान्  
 विभज्य क्षुरेण परितो वापयेदित्यर्थः § । “ब्रह्मणा चैवेति ।  
 ‘एनं’ यजमानम् ‘एतत्’ एतेन शललीलोहक्षुरकृतेन परि-  
 वर्त्तनेन, अग्निरूपेण तेन ‘ब्रह्मणा’ क्षुरनिदानभूतेन, ‘त्रय्या  
 वेदत्रयरूपया ‘विद्यया’ च सर्वतोमुखत्वसम्पादनद्वारा अनया  
 ‘परिगृह्णाति’ परितः सर्वासु दिक्षु धारयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ‘एतं ( एनं ) श्वेतं वर्णी’-इति च-पाठः ।

† पा० सू० ४. १. ३६ ।

‡ ‘शल्यकन्दगस्याङ्गरुहा सूचिः शलली’-इति ( ८. ४. १. )  
 व्याप० श्रौ० सू० याख्यप्यां रुद्रदत्तः ।

§ ‘वापेत्’-इति कृ-ज-पाठो डा०-वेबर-दृष्टश्च ।

॥ “त्रय्या शलल्येक्षुकाण्डेनेक्षुशलाकया वा लौहेन च क्षुरेणौ-  
 दुम्बरेण नि केशान् वर्त्तयते वापयते षसश्रूणि”-इति व्याप० श्रौ० सू०  
 ८. ४. १ । ‘निवर्त्तयते = क्लिनत्ति’-इति रुद्रः । प्रथमस्य वैश्वदेवर्षणः  
 फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. १-५ द्रष्टव्यम् ।

वरुणप्रघासयागस्य वरुणप्रधानकत्वात् तेन जेतव्यं फल मनुक्तामति— “अथ यद् वरुणप्रघासैरिति । “त्रेणनीशल्लीत्यादि, उक्तार्थम् \* ॥ ६ ॥

साकमेधयागस्येन्द्रप्रधानकत्वात् तेन जेतव्यं फल मनुक्तामति— “अथ यत् साकमेधैरिति † ॥ ७ ॥

इत्थं वैश्वदेवादिभिः पर्वभिः द्वादशमासात्मकसंवत्सरस्वरूपावामिं फलत्वेन प्रतिपाद्यः ‡, अग्न्यादिदेवतासायुज्य मपि तेषां फलत्वेनाचष्टे— “स यदिति । “अग्निरेव तर्हीति । ‘तर्हि’ तस्मिन् वैश्वदेवे यागेऽनुष्ठिते ‘सः’ यजमानः ‘अग्निः’ अग्न्यात्मकः ‘एव भवति’ । ‘अग्नेरेव सायुज्यम्’—इति, अस्यैव विवरणम् । प्रथम मग्नेः सालोक्यं जयति, पश्चात् सायुज्यमिति योजनाक्रमः । “वरुण एव तर्हि”—इत्यादावप्येवं योज्यम् ॥ ८ ॥

अथ म्त्रियमानस्य चातुर्मास्ययाजिनो मार्गं भुवन् ब्रह्मलोकप्राप्तिपर्यन्तं फल माह— “स यस्मिन्निति । ‘सः’ खलु चातुर्मास्ययाजी ‘यस्मिन् ऋतौ’ ‘अमुं’ विप्रकृष्टं परं ‘लोकम्’ ‘एति’ म्त्रियते, ‘सः’ ऋतुः ‘एनं’ यजमानं स्वस्मात् ‘परस्मै ऋतवे’ प्रयच्छति । उक्तैरेव विदुषः सिद्धिं सम्पादयति— “तदाहुरिति । यस्मात् चातुर्मास्ययाजी परमां गतिं प्राप्तवान्, ‘तत्’ तस्मात् अभिज्ञाः ‘आहुः’ कथयन्ति । कि

\* द्वितीयस्य वरुणप्रघासपर्वणः फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. ६, ७ ।

† तृतीयस्य साकमेधपर्वणः फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. ८ ।

‡ चतुर्थस्य शुनाल्लीरीयपर्वणः फल मपि तै० ब्रा० १. ४. १०. ९ ।

मिति, तदुच्यते— 'चातुर्मास्ययाजिनम्' चातुर्मास्येनेष्टवन्तं  
यजमानम् अन्विष्यन्तो जनाः ब्रह्मलोकादवाचीनेषु लोकेषु 'न  
विन्दन्ति' न लभन्ते \* । "परमं ह्येवेति, तत्र कारणा-  
भिधानम् ॥ ८ ॥ ५ [ ६. ४. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

\* "विराजो वा एषा विक्रान्तिः, यश्चातुर्मास्यानि । वैश्वदेवेना-  
स्मिंल्लोके प्रवृत्तिष्ठत्, वरुणप्रघासैरन्तरिक्षे, साकमेधैरसुष्मिंल्लोके; एष  
ह त्वा वै तत् सर्वं भवति, य एवं विद्वांश्चातुर्मास्यैर्यजते"—इति  
तै० ब्रा० १. ४. ६. ५ । अत्रैव दशमेऽनुवाके वैश्वदेववरुणप्रघाससाक-  
मेधपिष्टयज्ञान्मकहविःसुनास्वीरीयाणां प्रशंसाः पृथक्-पृथगान्वाताः,  
तास्तत्रैव द्रष्टव्याः । चातुर्मास्ययाजिनः पुनरावृत्तिराहित्यरूपं मपि फलं  
तदस्ति समाप्तात् मिति ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाईं निवारयन् ।  
पुमर्थाञ्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गीसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् \* पञ्चसीरीं†-स्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नीस्रां रुक्मवाजिद्विपसहितरथी सायणिः ‡ सिङ्गणार्यो § ,  
व्यश्राणीद्विश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गडकृत मजडो ॥ राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजन्म ¶ स्रवणज मनुणः शार्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाब्धो रत्नरूपं गिरं मज्जत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशि  
माद्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

— — —

\* 'पञ्चाब्धीन्'—इति ठ (१) ।

† 'सप्तसीरीं'—इति ठ ।

‡ 'सायणः' स्यात् ?

§ स्यात् 'सिङ्गणार्यो' ?

॥ 'मजडं'—इति ठ ।

¶ 'प्राज्यबुद्धिर'—इति ठ ।

(१) ठ-इति प्रथमकाण्डीयसम्पादकोक्तां विवृतं द्रष्टव्यम् ।

॥ इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः \* ॥

॥ ब्रह्मेकपादिकानाम् द्वितीयं काण्डं समाप्तम् † ॥



\* “कण्डिकासङ्गा १०४”—इति क, “कण्डिकाः १०४”—इति ख  
 “कण्डिकासङ्गा १०४”—इति ग-घौ। तत्र १ ब्रा० ११ क०, २ ब्रा०  
 ४८ क०, ३ ब्रा० १६ क०, ४ ब्रा० १० क०, ५ [० ६ क०; सङ्कलन-  
 याच प्रपाठके १०४ कण्डिकाः सम्पन्नाः ॥

† “एवं काण्डे ब्राह्मणानि सङ्गा २४। एवं काण्डे कण्डिका-  
 सङ्गा अत ५४७”—इति क, खन्वयुष्ट मतिजीर्ण मित्यपाठाम्,  
 “अस्मिन् काण्डे कण्डिकासङ्गा ५४६”—इति ग-घौ। तत्र प्रथमे  
 प्रपाठके ११४, द्वितीये १०३, तृतीये ११३, चतुर्थे ५५, पञ्चमे  
 १०४; सर्वसङ्कलनयाच काण्डे ५४६ कण्डिकाः अता इति सिद्धम् ॥











